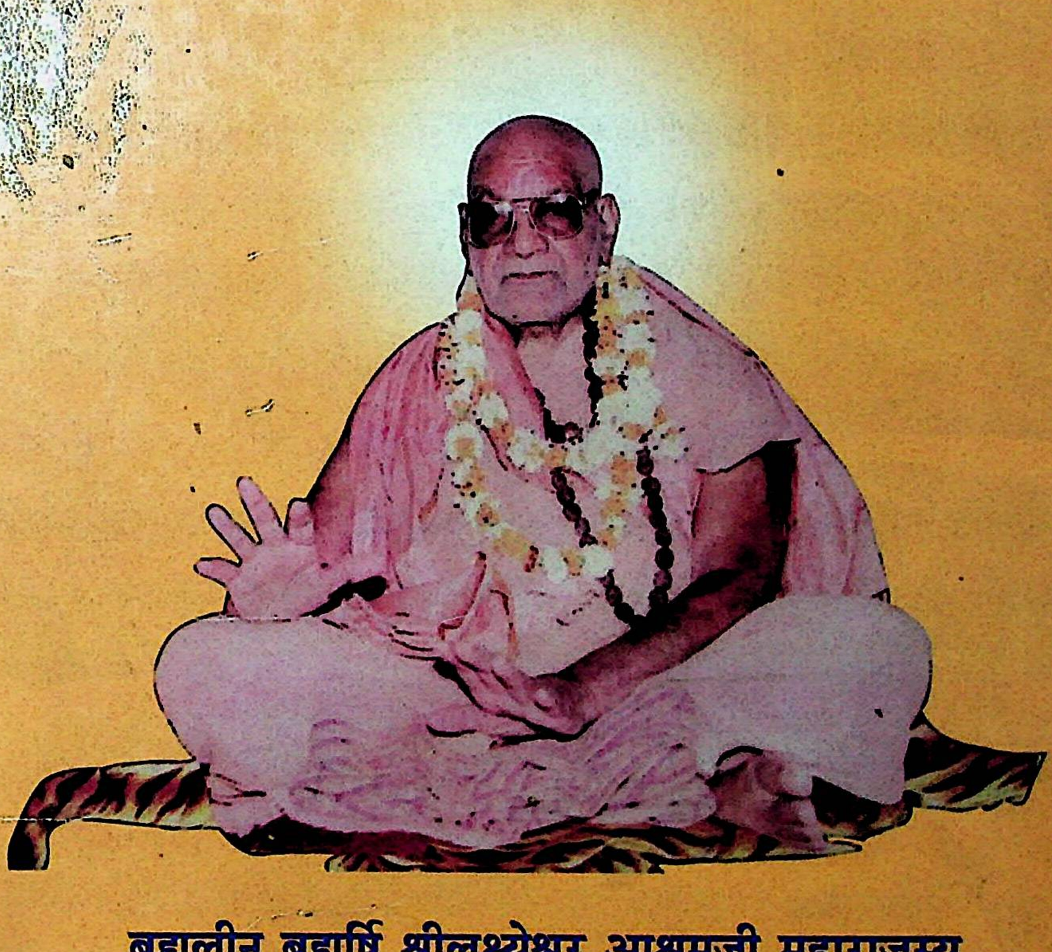
चिन्तामणि

(षष्ठो भागः)



ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराजस्य

सारस्वत कृपा प्रसादः

टीकाकारः पं. भद्रनारायण पाठकः

महापुरुष का प्रसाद

॥ ॐ ॥

चिन्तामणिः

(षष्ठो भागः)

संकलकः–

ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराजः

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।

टीकाकारः–

पं. भद्रनारायण पाठकः

प्रकाशक–
राकेश कुमार, विनोद कुमार
498/28 साउथ सिविल लाइन,
मुजफ्फरनगर, उ.प्र. – 251001
फोन नं. : 09359984709

प्रथम संस्करण : 500 प्रतियाँ

सन्तावतार अनन्त श्री समलङ्कृत साङ्गत्रयी तत्त्वज्ञ, वात्सल्योदधिस्वरूप पूज्य सद्‌गुरुदेव ब्रह्मलीन ब्रह्मऋर्षि श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज का आविर्भाव स. १९७३ कार्तिक वदी एकादशी (रमा एकादशी) एवं ब्रह्मलीन स. २०६९ श्रावण शुक्ल द्वादशी को उन्हीं स्वेष्टदेव के पवित्रतम निर्वाणलब्ध पादारविन्दों में वैकुण्ठवासी अपने पूज्य माता-पिता (श्रीमती शकुन्तला देवी तथा लाला आनन्द प्रकाश जी) की पुण्यस्मृति प्रवाह रूप सुरसरिता में अवगाहित-श्रद्धार्द्र सिंघल परिवार की ओर से अचिन्त्य गुणगणमणि सम्पन्न चिन्तामणि रूपात्मक (ग्रन्थ) यह प्रसूनाञ्जलि समर्पित करते हुए विनयावनत हैं—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये ।
गृहाण प्रीतिभावेन, प्रसीद परमेश्वर ॥

मूल्यम् : प्रेम योग्यता च

मुद्रक–
रेनबो प्रिंटर्स
सिद्धगिरीबाग, वाराणसी।

श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज के जीवन परिचय की एक झलक

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, स्वेष्टदेवस्वरूपिणे ।
यस्य वाक् सकलं हन्ति, विषं संसारसंज्ञकम् ।।

आनादि काल से (पुण्यातिपुण्यमयी सकल ब्रह्माण्ड की सम्पोषिका यह भारत भूमि अपनी तपःपूत सन्तसन्तति के अजस्रधारा से प्लावित करती हुई सम्पूर्ण विश्व में अपनी गरिमा-महिमा को अक्षुण्ण रखने में समर्थ रही है । अपने सच्चारित्र्य आलोक से जगत् भर के अज्ञान तिमिर ध्वान्त को ध्वस्त करने वाले महापुरुषों में अन्यतम हैं पूज्य श्री स्वामी लक्ष्येश्वराश्रमजी महाराज ।

पूज्यश्री का प्रार्दुभाव जनपद हरदोई के मोहंदीपुर नामक गाँव में सम्वत् १९७३ कार्तिक कृष्ण एकादशी को अग्निहोत्र कर्म में निरत कान्यकुब्जीय विप्रप्रवर श्री भोलानाथ जी के पुत्र श्री नन्हा जी के घर में पूर्व दिशारूपी इन्द्रायणी की पावनतम कोख से हुआ । इन बालदिवाकर का शैशव नाम हुआ करता था लालबिहारी । इन भावी महामनीषी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही प्राइमरी पाठशाला में कक्षा तीन तक हुई और आगे की शिक्षा के लिए गाँव में ही व्यक्तिगत तौर पर आपने कक्षा पाँच पास किया । लेकिन इसी बीच जब आप की अवस्था छः वर्ष की थी पिताश्री का शरीर शान्त हो गया । तदुपरान्त माँ आपको लेकर लखनऊ चली आई । वही पर कुछ साधुओं का संग हो गया और साधु भावना से प्रभावित होकर आपका साधु बनने का निश्चय हो गया । उसके बाद लखनऊ में ही योगेश्वर मठ में जाने लगे । महन्त जी ने संस्कृत पढ़ने की व्यवस्था कर दी । वहीं से अपने प्रथमा परीक्षा पास किया ।

फिर माँ को डर सताने लगा कहीं साधु न बन जाये वापस गाँव ले आयी । घर कच्चा था, आधा गिर गया था, उसी में गुजर बसर होने लगी । पुनः इन्हें ननीहाल में सीतापुर पढ़ने के लिये भेजा गया । वहाँ आजीवका के लिये आर्युवेद का अध्ययन करने लगे । पढ़ ही रहे थे कि पण्डित मधुसूदन दीक्षित ने अपनी रसायन शाला में रख लिया । वहाँ कार्य चल ही रहा था कि माँ का शरीर शान्त हो गया । तब गाँव में आकर अपने मामा जी के साथ माँ का शास्त्रोक्त विधि से अन्त्यष्टि संस्कार आपने सम्पन्न किया । तदुपरान्त माँ के पास जो तीन गायें थी उनको लेकर मामा जी के साथ उनके गाँव आ गये और वहाँ पढ़ने लगे । वहाँ से फिर गाँव के कुछ बचपन के मित्र गाँव ले आये । वहाँ भी वही आयुर्वेद का काम करने लगे और गाँव में मित्र मण्डली के संग आनन्द से रहने लगे । वही से अपने कुछ मित्रों के साथ में धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज के यज्ञ के दर्शनार्थ कानपुर गये । वहीं रास्ते में योगेश्वरमठवाले गुरु जी के पास लखनऊ रूके । वहाँ गुरु जी ने प्रश्न किया कि—तुम्हारा पहले वाला निश्चय साधु होने का है या गृहस्थी में रहने का है ? महाराज श्री ने कहा—मेरा मन साधु होने का है, तब योगेश्वर मठ वाले गुरु जी ने कहा तब घर में रहना ठीक नहीं यहाँ आ जाओं । जब गुरुदेव लखनऊ

आश्रम पर आ गये और ब्रह्मचारी के वेष में रहने लगे और सम्वत् २००१ माघसुदी पंचमी (वसंत पंचमी) को आपका संन्यास ग्रहण संस्कार हो गया। संस्कार होने से पहले आप पण्डित लाल जी को बुला कर लाये और उन्होंने परामर्श में कहा—संन्यास लेते हो तो महन्त नहीं बनना। यही गाँठ जीवन में लग गयी और आज तक उसी प्रण को निभा रहे है।

उसके उपरान्त नैमिषारण्य मेले में जब गये तो वहाँ स्वामी श्री शान्तबोध आश्रमजी से भेंट हो गयी। स्वामी जी संस्कृत में ही बोलते थे, महाराज श्री ने स्वामी शान्तबोध जी से साथ में रखने का निवेदन किया और उन्होंने आज्ञा दे दी। स्वामी जी ने उनसे होली के दिन दण्ड ले लिया। फिर उनके साथ हरिद्वार आ गये, जहाँ पर परमगुरु श्री आनन्द आश्रम जी मिले और उन्होंने कहा कि—इनकी आयु कम है इन्हें व्याकरण पढ़ने सिरसा भेज दो। स्वामी जी सिरसा चले आये। वहाँ दो साल में सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन किया। फिर एक साल नौहर में न्याय पढ़ा। उसके बाद ऋषिकेश आ गये और वहाँ पर स्वामी सोमेश्वर आश्रमजी से छान्दोग उपनिषद् पढ़ा। उसके बाद हरिद्वार आ गये। तब तक गुरुजी ने छोटा सा आश्रम बना लिया था। उसमें अपने गुरुदेव के साथ रहने लगे। उनके साथ रहकर स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, भागवत, गीता आदि ग्रन्थ श्रवण किया। उसके बाद आपको आपके गुरु जी ने पढ़ने काशी भेज दिया। पढ़ ही रहे थे कि छः वर्ष बाद गुरु जी का शरीर शान्त हो गया। फिर हरिद्वार आ गये एवं तीर्थयात्रा वगैरह किया। भ्रमण काल में भी आपने पैसा नहीं छुआ और कोई भी यात्रा बिना टिकट नहीं किया।

जब भूमा निकेतन बना तब स्वामी भूमानन्द जी के साथ रहने लगे। स्वामी जी को कुरालसी से लूहसाना श्री लहना सिंह जी व पूर्ण भगत जी लेकर आये। कुरालसी में श्री विश्वेश्वर सहाय वैश्य ने कहा—हम छोटा-सा मन्दिर बनाना चाहते हैं और महाराज श्री ने कहा बनाओ। मन्दिर बनना शुरू हो गया गाँव वाले उसके बाद मन्दिर बनाने के लिए स्वांग ले आये जो महाराज श्री को अच्छा नहीं लगा। महाराजश्री वहाँ से घूमने कूटी तक जाया करते थे, वह उजड़ चुकी थी। हुसैनुपर में आपको लाला चमन लालजी व पदमसेन भगत जी लेकर आये। इस प्रकार आप उमरपुर, शाहपुर, बुढ़ाना आदि में भ्रमण करने लगे।

सम्प्रति चिन्तामणि भाग–६ का अनुवाद पं. भद्रनारायण पाठक, प्रधानाचार्य, महाबीर पाठक संस्कृत महाविद्यालय, राजातालाब, वाराणसी द्वारा सम्पन्न हुआ है। आप व्याकरण एवं अद्वैत वेदान्त के आचार्य हैं और बहुत ही सरल रहनी और करनी हैं। इस टीका का नाम भी पूर्व के १ से ५ भाग तक की टीका की भाँति मणिप्रभा ही है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में भी श्री राधेश्याम खेमका (सम्पादक, कल्याण) एवं श्री डॉ. प्रेमप्रकाश जी लक्कड़ (पूर्व चीफकमिश्नर, आयकर) सहसम्पादक (कल्याण) एवं श्रीकृष्णकुमार जी खेमका का विशेष योगदान है एवं बहुत अदृश्य हाथ इसमें लगे है। उन सभी साथ जिनके तपबल से जिनका यह अपना काम हो रहा है, ऐसे महाराज श्री एवं सभी शुभचिन्तकों की तथा महाराज श्री के सभी भक्तों की विशेष कृपा से यह चिन्तामणि ग्रन्थ के मणिप्रभा टीका का प्रकाशन कार्य सम्पन्न हो रहा है। शेष शुभ !

गुरुकृपाधनसम्पन्नः

पवन कुमारः

गुरू के माहात्म्य कथन और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन–

परमपूज्य सद्गुरुदेव ही सर्वस्व

परमेश्वर का साक्षात्कार मात्र श्रीगुरु की कृपा से सम्भव होता है। श्रीगुरुज्ञान से प्रकाशित परमब्रह्म की ही परम्परा यह जगत् है। ऐसे गुरु की महत्कृपा प्राप्त करनी चाहिए। जब तक श्रीगुरु की कृपा से अन्तर्ज्योति नहीं प्रकाशती तब तक अन्दर का दिव्य ज्ञाननेत्र नहीं खुलता और तब तक हमारी जीवदशा नहीं मिटती। जीवदशा के रहते हुए ब्रह्मदशा की दिव्यानुभूति में रमण नहीं हो सकता। जैसे—स्वप्न (निद्रा) में राजा भिखारी बनता है और समझता है कि मैं भिखारी हूँ, वैसे ही अज्ञाननिद्रा में यह आत्मा जीव बनकर उस कंगाल की अवस्था को प्राप्त कर अपने को कर्ता, भोक्ता, अल्प और साधारण समझकर दु:ख का अनुभव करता रहता है। अत: विकास के लिए, दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए, परशिवपद को पाने के लिए, हमें मार्ग दर्शक की यानी पूर्ण सत्य के ज्ञाता एवं ज्ञानशक्ति सम्पन्न सद्गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। जैसे प्राण के विना जीना सम्भव नहीं होता, उसी तरह गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता और अज्ञानरूप अन्धकार का नाश नहीं होता तथा तीसरे नेत्र का उदय भी नहीं होता। अत: गुरु की जरूरत द्रव्य, कल-कारखानों, कला से अधिक है। गुरु की आवश्यकता आरोग्य और प्राण से भी ज्यादा है। गुरु की महिमा रहस्य तो अति दिव्य और गूढ़ है। वे मानव को नया जन्म देते हैं, ज्ञान की प्रतीति कराते हैं और यह सौभाग्य है कि ऐसे ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में हमें श्रीगुरु प्राप्त हैं।

गुरु की व्याख्या यह है कि जो शिष्य की अन्त:शक्ति को जगाकर उसे आत्मानन्द में रमण कराता है, ज्ञान की मस्ती देता है, जीते जी जो मोक्ष देता है, ऐसे परमगुरु शिव से अभिन्न रूप होते हैं। पूज्यनीय परमगुरु तो जीवन के आदि से लेकर अन्त तक शिष्य के देह में ज्ञान ज्योति को प्रज्ज्वलित करते हुए अनुग्रहरूप से कृपा करते हैं और स्वयं लीलाराम होकर उसी में रहते हैं। गुरु के प्रसाद से नर-नारायण होकर आनन्द में मग्न रहता है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज के रूप में प्राप्त है।

गुरु जी संसार के व्यवहार को भलीभाँति समझते हैं। वे परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण परचित होते हैं। इसलिए वे परमार्थ और व्यवहार में भी पूर्णकुशल होते हैं। ऐसे सद्गुरु के आश्रय में रहकर शिष्य महान् संकट को भी सहज में पचा जाता है। उनकी महिमा अनोखी होने के कारण वे कृपा मात्र से ज्ञान दृष्टि प्रदान कर देते हैं। वे प्रपंच में ही ब्रह्म दिखाते हैं। वे हमेशा अमनस्क स्थिति में रहते है, मानो उनका मन ही चैतन्य हो गया है। तत्त्वत: आप गुरुजी इस जगत में अन्दर और बाहर से पूर्ण व्यापक ब्रह्मरूप ही है। क्योंकि जो महापुरुष सर्वात्मा में लीन रहते हैं, वे सर्वव्यापी होते है। साधारणतया गुरुजनों का परिचय पाना, उन्हें समझना महाकठिन हैं। अत: गुरु सत्य है, गुरु पूर्ण है और वे शिष्यों के हित चिन्तक है। वें शिष्य का धन नहीं, वरन शिष्य का अज्ञान, अविद्या लूट लेते है, चिन्ता और पाप को हर लेते है। गुरु जी की यही महिमा है कि वे कठिन तपस्या के विना ही शिष्य को परमात्मा का दर्शन करा देते है। घर में ही गुफा की शान्ति और एकान्त का अनुभव करा देते हैं और प्रपंच में भी परमार्थ दिखाते है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त है।

श्री गुरु जी एक महान् चमत्कारिक दैवत हैं। साक्षात्कारी गुरु को साधारण समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। गुरु की महानता तब समझ में आती है, जब अपने पर गुरुदेव की पूर्ण कृपा होती है। गुरु जी अपने शिष्य को एक ऊँचे स्तर पर ले जाकर उन्हें सत्यस्वरूप बोध कराकर के शिव में शिव को मिलाकर शिव ही बना देते हैं। गुरु जी में एक ऐसी अनोखी शक्ति है, जिससे वे मानव को पूर्णरूप से बदल देते है। जरा-जन्म के दु:ख से रहित नया जीवन प्रदान करते हैं। जैसे दिन के सारे व्यवहार उल्लू अपने से नहीं देख पाता, रात्रि

में जगत् को कौवा नहीं देख पाता, वैसे ही गुरु प्रसाद पाये विना मानव संसार को सर्वमय नहीं देख पाता। वह अज्ञानवश दु:ख में या शोक में ही जगत् देखता है। जो पूज्यनीय परमगुरु आत्मरूप से शिष्य में प्रविष्ट रहते है उन गुरु से हम कैसा व्यवहार करें, कैसे प्रेम करें, उनके उपकार को कैसे चुकावें ? हे गुरुदेव आप हमारे अशुचि को धो डालते हैं, नाड़ी-नाड़ी में रक्त के कण-कण में शक्तिरूप से प्रविष्ट होकर हमें आप क्रियाशील बनाते हैं। आपका कितना उपकार है, कितना अनुग्रह है, कितनी दया है, ऐसे कौन मित्र हो सकते हैं ? जो शरीर के अंग-अंग में, अच्छे बुरे स्थानों में, व्याप्त होकर दोषों को धोबी के समान साफ कर दे। ऐसे गुरु समान कौन मित्र, कौन प्रेमी और कौन देवता है ? ऐसे गुरु का हम क्या दासत्व कर सकते है ? जिन गुरुदेव ने हमारे कुल, जाति, कर्माकर्म गुणदोष देखे विना ही मुझमें प्रविष्ट होकर अपना लिया, उन गुरुदेव की महिमा को कौन नकार सकता है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे सद्‌गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त है।

'ॐ नमः शिवाय' आप का दिया हुआ मन्त्र है, गुरुदेव ! यही आपकी पूर्ण स्मृति रूप है। आप ही शिव है।

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो, यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उपयोरन्तरं नास्ति, गुरोरपि शिवस्य च।।

आपके द्वारा दिये हुए इस मन्त्र में ज्ञान की सातों भूमिकायें अर्थात् शुभेच्छा से लेकर तुर्यातीत तक निहित है। आपने मुझे अपना बनाया है इसके लिए हे गुरुदेव ! आपका सम्मान कैसे करू ? आपकी पूजा कैसे करूँ ? इतना अवश्य रटता रहूँगा जय गुरुदेव ! जय गुरुदेव ! जय गुरुदेव !

ऐसे गुरुदेव को गुरु मानकर उनसे मन्त्र पाना क्या परम सौभाग्य नहीं ? उनके लिये शब्द ही चैतन्य मन्त्र है। वे परमगुरु मन्त्र द्वारा, स्पर्श द्वारा या दृष्टि द्वारा शिष्य में प्रवेश करते है, इसलिए गुरु का साहित्य, गुरु का सम्बन्ध, गुरु का चरणस्पर्श, गुरु के चरण के चरणोदक का तीर्थपान, गुरुप्रसाद, गुरुसेवा, गुरुगुणगान, शिष्य को पूर्ण पद प्राप्त करा देने में समर्थ है। मेरे गुरुदेव ऐसे ही एक महान् सिद्ध सन्त है। उनकी जिस पर दृष्टि पड़ती वह जाग उठता है। उनकी महिमा महान् है इसलिए कहा है—

दुर्लभो विषयत्यागः, दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था, सद्‌गुरो करूणां विना।।

यह सहजा अवस्था जो इतनी दुर्लभ है, सद्‌गुरु की करुणा के बिना नहीं मिलती। गुरु तत्त्वतः साक्षात् परब्रह्मस्वरूप हैं। गुरुगीता में जो गुरु का वर्णन है, और ज्ञानेश्वर जी ने जो गुरु महिमा गायी है, उसमें अणुमात्र भी अतिरेक नहीं है। जो गुरुपादोदक का सेवन करता है उसके लिये अमृतत्व एक साधारण वस्तु है। गुरु पूजा ही सार्वभौम महापूजा है, ऐसा गुरु गीता कहता है—

गुरुरेव जगत्सर्वं, ब्रह्माविष्णुशिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति, तस्मात्संपूजयेद् गुरूम्।।

आध्यात्म मार्ग में गुरु कृपा ही केवलं और गुरोराज्ञा ही केवलं है।

पावन सत्य कहता है कि सब विद्याओं में, मोक्ष धर्म में, और स्वस्वरूप विमर्श में गुरु कृपा ही प्रधान है। ज्ञानेश्वर महाराजजी कहते हैं—तुम्हारा परमार्थ, तुम्हारा जप, तप, योग और साधना सब के सब तभी फलीभूत होगा जब गुरु कृपा से लब्धिकाल का उदय होगा।

जो अपने गुरु को जितना महान्, श्रेष्ठ, पूर्ण, सिद्ध, सामर्थ्यवान् समझते है, श्रीगुरु उतनी ही सामर्थ्य लेकर उसके साथ खड़े रहते हैं। वस्तुतः तुम में गुरु के प्रति प्रत्यक्ष ईश्वर की तरह जितना प्रवल और जितना तीव्र भाव होगा, उतना शीघ्र तुम सब कुछ पा लोगे, उसमें देर नहीं लगेगी। लेकिन फिर भी धैर्य ही कसौटी है। श्रीगुरु के चरणों में भावपूर्ण विश्वास रखने से बिना कष्ट उठाये सहज में अपने आप तत्त्व का बोध हो जाता है। इसलिए गुरु को भजो। इतना ही नहीं अपने ध्यान में लाओ, क्योंकि ईश्वर गुरु के पास रहता है। इतना

याद रखना कि गुरु चरणों में महान् आदर्शरूप, पूर्ण विश्वास, अनन्यभाव रखना आवश्यक है। गुरु ध्यान सर्वध्यान प्रक्रियाओं का मूल है, गुरु गीता में कहा है—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्र मूलं गुरो र्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

मुझे महामन्त्र मिल गया, इसको अत्यन्त प्रेम से अपनाया। तुकाराम महाराज सत्य कहते हैं कि—गुरु में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम पूर्णभाव हो जाने पर परमात्मा सहज मिल जाता है। इसलिए गुरु की पूजा करो, गुरु का महाध्यान करो। सौभाग्य है कि हमें श्रीगुरु के रूप में ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज प्राप्त हैं।

श्रीगुरुदेव की कृपा मात्र से ही एक क्षण में सिद्धि ही नहीं, बल्कि शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है। आप कितना भी जप करें, तप करें, ध्यान करे, यज्ञ करें, गंगा सागर नहायें, लेकिन गुरु की कृपा के विना पूर्णता प्राप्त नहीं होती। गुरु भवसागर में डूबते हुए को उससे निकालकर अपने जैसा निर्द्वन्द्व कर देता है। सब संशय मिटाने के लिये शिष्य के अन्दर प्रवेश करके उसके हृदय के अन्दर पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश को उद्घाटित करके दिव्य आत्मतेज को प्रकट कर देता है। उसको अपने जैसा ही आत्मरति प्रदान कर देता है। ऐसे गुरु के प्रति तुमको कैसे चलना चाहिए ? यह खुद ही सोचने का विषय है। वस्तुतः श्रीगुरु इस जगत् को शिष्य के लिए ब्रह्ममय बना देने की सामर्थ्य रखते हैं। मानव इस विस्तृत जगत् क्रीड़ा को देखते हुए चाहे जो करे, परमशान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यह समझ में नहीं आता कि कैसे एक नयी बात पैदा हो गयी कि जगत् एक है, जीव दूसरा है, माया तीसरी है ? क्योंकि आत्मा के विना अन्य और किसी का ऐसा सामर्थ्य है ? जो जगत् रूप हो सके। परम स्वतन्त्रता से, परम स्वच्छन्दता से, प्रकाशमान होने वाले उस आत्मा को कौन मलिन कर सकता है ? प्रज्ज्वलित अग्नि के साथ कौन रह सकता है ? पावन मात्र जगत् ही आत्मा का विलास है। इस आत्मविलास को समझने के लिए श्रीगुरु के कृपा की आवश्यकता है। गुरु कब सन्तुष्ट होता है ? यह मत समझिये कि गुरु के सामने वाह गुरु, वाह गुरु करने से या मुख स्तुति करने से गुरु सन्तुष्ट होगा ? ऐसा कदापि नहीं होगा।

गुरु तब सन्तुष्ट होता है जब शिष्य पूर्णत्व प्राप्त करता है, जैसे कोई कलाकार अपने विद्यार्थी की कला पूर्ण होने पर वाह-वाह करके आशीर्वाद देता है। पण्डित का शिष्य पण्डित बन जाने पर आशीर्वाद पाता है, वैसे ही श्रीगुरु से शक्ति प्राप्त किये हुए शिष्य की पूर्णत्व प्राप्ति से गुरु को सन्तोष प्राप्त होता है। शिष्य गुरु वस्त्र दिया, खिलाया, मुख स्तुति की तो इसमें गुरु को क्या और कैसे सन्तोष होगा ?

गुरु प्रज्ञा प्रसादेन, मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्येत् तत्त्वं विरक्तो भव सागरात्।।

श्रीगुरु तभी सन्तुष्ट होते है जब शिष्य उनमें मिलकर गुरु ही बन जाता है। इसलिए यह पवन कहता है—श्री गुरुं शरणं गच्छामि। सततं गुरुं स्मरामि। मम मति श्रीगुरु, मम गति श्रीगुरु, मम रति श्रीगुरु इति सत्यं सत्यं वदामि।

ईश्वरो गुरु आत्मेति, मूर्तिभेद विभागतः।
व्योमवत् व्याप्तदेहाय, तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

यस्य देवे पराभक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था, प्रकाशन्ते महात्मनः।।

गुरुदेव में इष्ट के समान जब निष्ठा होती है तभी सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व का हृदय में प्रकाशित होता है, यह गुरुदेव की ही कृपा है। गुरु की महिमा अनन्त है, अतः लेखनी का विराम ही उचित है।

।। शुभमिति ।।

गुरुकृपाधनसम्पन्नः
पवन कुमारः

भूमिका

मङ्गलाचरणम्–

चिन्तामणिं समारम्भे, मणिप्रभभाषान्तरे।
लेखने तु टीकायां च, अशेषध्वान्त शान्तये।।१।।
प्रणमामि उग्रतारां, माहिष्मती[1] विराजिताम्।
पितरं योगधरं च, मातरं तु इन्द्रमुखीम्।।२।।
गुरुं शिक्षाञ्च दीक्षाञ्च, यतिं वै लक्ष्येश्वराश्रम्।
आत्मानं सततं वन्दे, परमानन्द रूपिणम्।।३।।
जन्मभूमिं मिथिलां च, साधकैश्चैवशोभिताम्।
सीतापद चिह्नाङ्कितां, श्रीरामैश्च समादृताम्।।४।।
एष भद्रनारायणः, पाठकोपनाम संज्ञः।
करोति मणिप्रभां तु, काश्यां असीगंगाघट्टे।।५।।
नवषट्खंद्वय[2] मासे, श्रावणे च सम्वत्सरे।
विरच्य सरलां भाषां, शिवाय तत्समर्पये।।६।।
यत्मातृ-पितृक्रोडे, प्राप्तं देवगिरां शुभाम्।
तदद्य पुष्पितां चैव, संस्कारलब्धां चगिराम्।।
संगृह्योल्लिताम् भाषा, अशेष
संगृह्य तां मेधां, पित्रोः चरणौ तु समर्पितम्।।७।।

परम हर्ष और आनन्द का विषय है कि चिन्तामणि संग्रह सद्ग्रन्थ की मणिप्रभा टीका के षष्ठ भाग का प्रकाशन होने जा रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से सद्विचार-सदाचरण, सद्कर्म-सद्धर्म तथा भारतीय सनातन औपनिषदिकादि आर्ष ज्ञान-विज्ञान का प्रचार-प्रसार होगा, आज के भारतीय पारिस्थितिक, आहार-व्यवहार, पाश्चात्य प्रभावित भौतिक प्रदूषित जीवन से त्राण पाकर अपने आत्मोद्धार के मार्ग की ओर इसके पाठकगण अग्रसर हो सकेंगे। यह मुझे पूर्ण विश्वास है। इसके लेखन का यही उद्देश्य है।गुरुकुल परम्परा की अजस्रधारा के ज्ञानामृत के समान यह चिन्तामणि सद्ग्रन्थ

१. बिहार के सहर्षा जनपदान्तर्गत महिषी नाम से प्रसिद्ध ग्राम।
२. २०६९ सम्वर।

लोकोपयोगी होने के कारण इसका प्रकाशन आवश्यक समझकर ही यह सद्प्रयास और अनुभव किया जाता रहा है कि इस चिन्तामणि (मणिप्रभा) का लेखन-प्रकाशन शीघ्र हो।

मैं अपनी तुच्छ बुद्धि से जो कुछ भी इसके लिये प्रयत्न किया है वह सब सद्गुरु एवं माता-पिता, सन्त समाज और भक्तजनों-साधकों तथा विद्वज्जनों का आशीर्वाद है। अत: इसके लिये सभी प्रकार के श्रेय के भागी वे लोग ही हैं। श्री पवन कुमार अग्रवाल जी (मुजफ्फर नगर) के सद्प्रयास और इसमें अहमभूमिका को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। धन्यवाद के पात्र हमारी धर्मपत्नी श्रीमती लतादेवी, आत्मजा–चन्दा, आराधना रचना तथा अनुजगण–श्री चित्तनारायण पाठक प्रधानाचार्य निर्मल संस्कृत विद्यालय एवं श्री महीनरायण पाठक विभागाध्यक टीकमणि संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी हैं; उन्होंने इसके लेखन और प्रकाशन में यथा समय उपयुक्त सेवा को प्रदान किये हैं। इसके साथ ही मैं श्री अनिल पाण्डेय, ग्राम–पत्रालयअमरपुरा, जिला–गोपालगंज (विहार) का आभारी हूँ जिन्होंने अपेक्षित सहयोग का योगदान किये हैं।

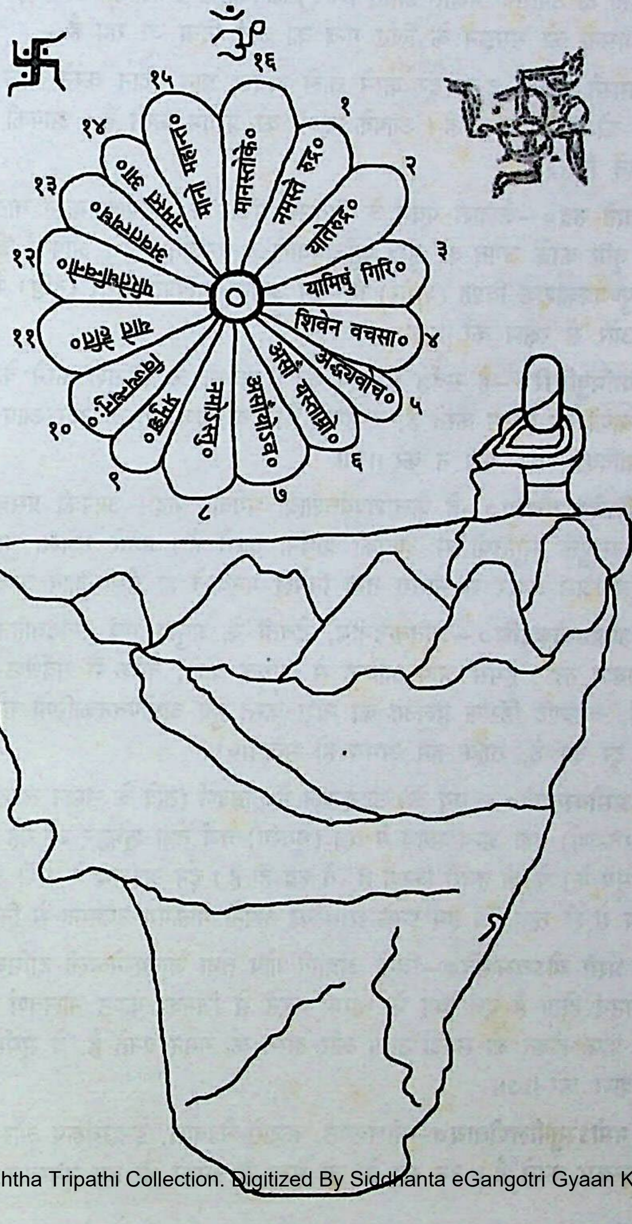
इस ग्रन्थ के लेखन-प्रकाशन-टंकन में मानवीय भूल अवश्य हुई होगी। इसके लिये मैं इस ग्रन्थ के पाठकगणों से क्षमा प्रार्थना के साथ यह अपेक्षा रखता हूँ कि वे मुझे अपने विचार से अवगत करायेंगे, जिससे मैं भूल सुधार कर सकूँ। अन्त: मैं यतीन्द्र श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी के आशीर्वाद को स्मरण करते हुए इस ग्रन्थ के टीका कृतित्व को भूतभावन भगवान् साम्बसदाशिव श्री विश्वनाथ के श्री युगल चरणों में पुष्पाञ्जलि स्वरूप अर्पित करता हूँ।

पं. भद्रनारायण पाठकः
प्रधानाचार्यः
श्री महावीरपाठक संस्कृत महाविद्यालस्य
असवारी–राजातालाब, वाराणसी।
मो.न. : ९४१५९९७२८१
आवासीय पता–रामानुज नगर, अस्सी, वाराणसी।

विषयानुक्रमणिका

ॐ

चिन्तामणि-मणिप्रभा



व्याख्या:—उपर्युक्त चित्ररेखामध्यवर्ति पदों द्वारा भगवान् रुद्र के षोडश वेदमन्त्रों से अर्चन का संकेत है। साधना में रत साधकों के लिये भगवान् रुद्र के षोडश कलाओं से परिचय कराना इसका उद्देश्य है। यहाँ दो उपासना पद्धति ईंगित है (१) कर्मकाण्ड उपासना और (२) ज्ञानोपासना। प्रथम कर्मकाण्ड उपासना को समझने के लिए मन्त्र का अर्थ दिया जा रहा है—

(१) **नमस्ते रुद्र०**—दु:ख दूर करने वाले अथवा ज्ञान प्रदान करने वाले हे भगवान् रुद्र! आपके क्रोध को प्रणाम करते हैं। आपके वाणों को प्रणाम करते हैं। आपकी दोनों भुजाओं को नमस्कार करते हैं ॥१॥

(२) **याते रुद्र०**—कैलाश पर्वत के निवासी संसार के कल्याण करने वाले अथवा वाणी में स्थित होकर वृष्टि करके जगत् को सुख पहुँचानेवाले हे भगवान् रूद्र! आपका जो यह मंगलकारक, सौम्य तथा पुण्यप्रकाशक विग्रह (शरीर) है, उस अनन्त सुखप्रद शरीर (दृष्टि) से हमें देखें अर्थात् हमारा सब ओर से रक्षण करें ॥२॥

(३) **यामिषुङ्गिरि०**—हे सर्वज्ञ भगवान् रुद्र! शत्रुओं का विनाश करने के लिये आप अपने हाथ में जो बाणों को धारण करते है; वे हमारे लिये कल्याणकारी हों और आप हमारे पुत्र पौत्रादि, गो एवं अश्वादिकों का नाश न करें ॥३॥

(४) **शिवेन वचसा०**—हे कैलाशपर्वतशायी भगवान् रुद्र! आपकी प्रसन्नता प्राप्ति हेतु हम मङ्गलमय वचनयुक्त स्तुतियों से आपकी प्रार्थना करते हैं। हमारे समस्त पुत्र-पौत्रादि एवं गो, अश्वादि पशुएँ जिस प्रकार से नीरोग तथा निर्मल मनवाले हों वैसी आप कृपा करें ॥४॥

(५) **अध्यवोचदधि०**—अतिवन्दनीय, देवतों के प्रमुख एवं सर्वदेवहितकारी तथा सर्वरोग निवारक भगवान् रुद्र! हमसे आप अधिक से अधिक बोलें, ताकि मैं सर्वश्रेष्ठ हो सकें। हे रुद्र! अखिल सर्प, व्याघ्रादि हिंसक पशुओं का नाश करते हुए अधोपतनकारिणी राक्षसियों को सदा के लिए हमसे दूर कर दें, ताकि हम अभय हो सकें ॥५॥

(६) **असौयस्ताम्रो०**—(सूर्य के) उदयकाल में ताम्रवर्ण (ताँबे के समान लाल रंग), अस्तकाल में अरुणवर्ण (रक्तवर्ण) तथा अन्य समय में वभ्रु (भूरारंग) वर्ण तथा शुभङ्कर जो यह सूर्य है, वह रुद्र ही है। इनके (सूर्य के) ये जो हजरों किरणें हैं, वे रुद्र ही हैं। इन आदित्य के सभी ओर जो किरणें स्थित हैं वे रुद्ररूप से ही रहते हैं। हम इनके क्रोध का अपनी भक्तिमय उपासना से निवारण करते हैं ॥६॥

(७) **असौ योऽवसर्पति०**—जिन्हें अज्ञानी गोप तथा जलभरनेवाली दासियाँ भी प्रत्यक्षरूप से देखने में समर्थ होती हैं एवं विष के धारण करने से जिनका कण्ठ नीलवर्ण हो गया है, तथापि रक्तवर्ण को प्राप्त होकर जो सर्वदा उदय और अस्त को गमन बनते हैं, वे सूर्यमण्डल में स्थित रुद्र हमारा कल्याण करें ॥७॥

(८) **नमोऽस्तुनीलग्रीवाय०**—नीलकण्ठ, हजारों नेत्रवाले, इन्द्रस्वरूप और वृष्टि करनेवाले रुद्र को हम नमस्कार करते हैं। इन रुद्र के जो भृत्य हैं उनको भी हम नमस्कार करते हैं ॥८॥

(९) **प्रमुञ्चधन्वनस्त्व०**—हे भगवान्! आप धनुष की दोनों कोटियों के मध्य में स्थित प्रत्यञ्चा (धनुषका डोर) का त्याग कर दें तथा हाथ में लिये हुए बाणों को भी दूर फेंक दें ताकि हम निर्भय होकर आपके सौम्यरूप को देखें॥९॥

(१०) **विज्ज्यन्धनुः०**—जटाजूटधारण करनेवाले भगवान् रुद्र का धनुष प्रत्यञ्चा रहित हो जाय और तूणीर में रखे हुए नोकीले बाणों के अग्रभाग कुण्ठित हो जाय एवं इन रुद्र के बाण भी नष्ट हो जाय तथा खड्ग रखने का जो कोश (म्यान) भी खड्ग रहित हो जाय अर्थात् हमारे लिये वे भगवान् रुद्र सर्वथा शस्त्ररहित रहें॥१०॥

(११) **यातेहेति०**—बहुवृष्टि करनेवाले हे रुद्र! आपके हाथों में जो आयुधें हैं, वे उपद्रव रहित हो जाये और आप सुदृढ़धनुषसे हमारी रक्षा सब ओर से करें॥११॥

(१२) **परितेधन्वनो०**—हे भगान् रुद्र! आपका जो धनुषरूप आयुध है, वह सर्वतः हमारा त्याग कर दे और बाणों से भरा हुआ वह भी तरकश हम से दूर कर दें॥१२॥

(१३) **अवतत्य०**—सैकड़ों बाणों और हजारों नेत्र को धारण करनेवाले हे भगवान् रुद्र! धनुष की प्रत्यञ्चा तथा बाणों के अग्रभामों को तोड़कर आप सदा हमारे प्रति शान्त और शुद्ध मनोभाववाले हो जाएँ॥१३॥

(१४) **नमस्तऽआयु०**—हे भगवान् रुद्र! आप शत्रुओं को मारने में दक्ष हैं, इसलिये धनुष चढ़ाये हुए बाणों को हम प्रणाम करते हैं तथा आपके दोनों बाहुओं सहित धनुष को हमारा प्रणाम है॥१४॥

(१५) **मानोमहान्त०**—हे भगवान् रुद्र! आप हमारे गुरु, पितृव्य आदि जो वृद्धजन हैं उन्हें मत मारिए, हमारे बालक, तरुण, गर्भस्थ शिशु, माता-पिता, प्रिय पुत्र, पौत्र आदि प्रियजनों की हिंसा मत करें, उन्हें मत मारें॥१५॥

(१६) **मानस्तोके०**—हे भगवान् रुद्र! हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौओं, घोड़ों और वीरों को मत मारें, उनकी हिंसा मत करें, हम सब हवि से युक्त होकर आपका आवाहन-पूजन करते हैं॥१६॥

उपर्युक्त उपासना पद्धति के द्वारा भगवान् रुद्र के व्यापक स्वरूप का दिग्दर्शन होता है, जो कर्मकाण्ड उपासनामार्ग का आश्रयभूत है। इससे इतर भी परमात्मा रुद्र की उपासना के मार्ग हैं। उपासना को सनातन शास्त्रों में अधिकारी भेद से विविध रूपों में कहा गया है। योगी एवं ज्ञानाश्रयी मार्गावलम्बियों के लिये उपर्युक्त वेद मन्त्र के सोलह मन्त्रों से उपासना को यहाँ शिव भगवान् के षोडश कलाओं के रूप में कही गयी है। ॐ ही शिव है और शिव ही रुद्र है। 'ॐ' स्वरूप भगवान् रुद्र प्रणव ब्रह्म है और उनकी षोडश कलाएँ इस प्रकार हैं—(१) 'अः', (२) 'उः', (३) 'मः', (४) '॥' (अर्धमात्रा), (५) '०' (विन्दु), (६) नाद, (७) कला, (८) कालातीत, (९) शान्ति, (१०) शान्त्यतीत, (११) उन्मनी, (१२) मनोन्मनी, (१३) तुर्या, (१४) मध्यमा, (१५) पश्यन्ति और (१६) परा। ये ऊँकार ब्रह्म की षोडश मात्राएँ या कलाएँ हैं। इसी को आश्रय करके अधिकारी उपासक यथा गुरूपदिष्ट मार्ग का आश्रय लेकर ज्ञानमार्ग की उपासना में प्रवृत्त होता है।



निषीद गणपते, गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत्क्रियते किञ्चनारे, महानर्कं मघवञ्चित्रमर्च।।

(ऋ.सं. १०/११२/९)

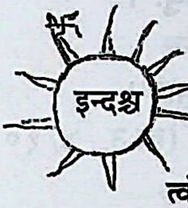
वन्दे गजेन्द्रवदनं, वामाङ्कारुढ़वल्लभाश्लिष्टम्।
कुङ्कुमपरागशोणं, कुवलयिनीजारकापीडम्।।

(श्रीदुर्वासा वि. श्रीवि.स्त.र.)

व्याख्या—गणपते = हे गणों में श्रेष्ठ! अथवा हे भूतों के पति गणपते!, **निषीद** = आप हमारे लिए प्रसन्न होइये। क्योंकि, **कवीनाम्** = भूत-वर्तमान और भविष्य तीनों कालों तथा सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न पुरुषों के, **गणेषु** = समूहों में, **विप्रतमम्** = श्रेष्ठतम पुरुष, **आहुः** = शास्त्रों में आप कहे गये हो; अथवा "भूत, वर्तमान, भविष्यत् अतिक्रम्य तिष्ठतीति कविः" जितने भी वेत्तागण हुए हैं, और होंगे, उसमें आप ही श्रेष्ठतम हो। **त्वत्** = तुम्हारे, **ऋते** = बिना, **किञ्चनारे** = कोई शब्द कार्य, **न** = तुम्हारे विना नहीं, **क्रियते** = किया जा सकता। **मघवन्** = हे सर्वों के स्वामी स्वरूप इन्द्र!, **अर्कम्** = सूर्य स्वरूप प्रकाशक, **त्वाम्** = तुमको, **चित्रम्** = विविध स्वरूपवाले, **अर्च** = सभी अर्चनीय कहते (अर्चा अस्यास्तीति अर्चः)।

व्याख्या—वामाङ्कारुढ़वल्लभाश्लिष्टम् = वामभाग के अङ्क (क्रोड) में बैठी हुई प्रिया (प्रियतमा पत्नी) से युक्त तथा **कुङ्कुमपरागशोणम्** = कुङ्कुम (केशर) के पराग (धूलि) से चर्चित होने से शोण (लाल) वर्ण, **कुवलयिनीजारकापीडम्** = कमलिनी के कोरक को हस्तिमुखशुण्डादण्ड से दृढ़ता पूर्वक पकड़े हुए, **गजेन्द्रवदनम्** = हस्तिमुख गणेश जी की, **वन्दे** = मैं वन्दना करता हूँ।

ॐ



विवश्वाँश्चैके। (तै. आ.)

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुः त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निर्वरुणो वायु त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ।।
त्वमन्नस्त्वयं यमस्त्वंपृथिवी त्वं विश्वं खमथाच्युतः ।
स्वार्थे स्वाभाविके अर्थे च बहुधा संस्थितिस्त्वयि ।।
विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं, विश्वात्मा विश्वकर्मकृत् ।
विश्वभुग्विश्वमायुस्त्वं, विश्वक्रीडा रतिः प्रभुः ।।
नमः शान्तात्मने तुभ्यं, नमो गुह्यतमाय च ।
अचिन्त्यायाप्रमेयाय, अनादिनिधनाय च ।।

।। मैत्रायणी उ.।५।।

व्याख्या–इन्द्रश्च विवश्वाँश्चैके = इन्द्र और विवश्वान् अर्थात् सूर्य एक ही है। (तै.आ.)

व्याख्या–महात्मा कौत्सायनी ने अपनी उपासनाक्रम में भगवान् सूर्य की परमात्मा ब्रह्मरूप से स्तुति की है। उक्त स्तुति की व्याख्या की जा रही है—

विश्वेश्वर = हे सम्पूर्ण विश्व के नियन्ता भगवान् सूर्य, **त्वम्** = तुम, **ब्रह्मा** = सृष्टि कर्ता ब्रह्मा हो, **च** = और, **त्वम्** = तुम, **विष्णुः** = पालन कर्ता देव विष्णु हो, **त्वम्** = तुम ही, **रुद्रः** = संहार कर्ता रुद्र हो, **त्वम्** = तुम, **प्रजापतिः** = प्रजा अर्थात् भूतात्माओं (चर–अचरों) के पति (स्वामी) हो, **त्वम्** = तुम, **अग्निः** = अग्निस्वरूप हो, **वरुण** = तृषा (प्यास) निवर्तक जल स्वरूप हो, **त्वम्** = तुम, **इन्द्रः** = सभी के स्वामी हो अथवा देवताओं के अधिपति देवराड् इन्द्र हो, **त्वम्** = तुम, **निशाकरः** = दिन को दो भागों में विभाजन करनेवाले निशा (रात्रि) के कर्ता चन्द्रमा हो एवं सर्वाह्लादकत्वगुण सम्पन्न सभी औधियों में अमृत स्रावक भी तुम्ही हो। **त्वम्** = तुम, **अन्नम्** = अन्न हो, **त्वम्** = तुम, **यमः** = यम हो, **त्वम्** = तुम, **पृथिवी** = पृथिवी हो, **त्वम्** = तुम, **विश्वम्** = विश्व (सम्पूर्ण जगत्) रूप हो, **खम्** = तुम आकाश, **अथ** = और, **अच्युतः** = विनाश रहित हो। **स्वाभाविके** = स्वाभाविक, **स्वार्थे** = अपने, **अर्थे** = प्रयोजन के लिए, **बहुधा** = अनेक प्रकार से, **त्वयि** = तुम में, **संस्थिति** = विद्यमान रहने की शक्ति है। **विश्वेश्वर** = हे सम्पूर्ण जगत् के नियमन करने वाले ईश्वर ! **तुभ्यम्** = तुम्हारे लिये, **नमः** = मैं नमस्कार करता हूँ। **विश्वात्मा** = तुम विश्व (जगत्) के आत्मा स्वरूप हो, **विश्वकर्मकृत्** = इसलिए विश्व (सम्पूर्ण) कर्म के कर्ता भी तुम्ही हो, **विश्वभुग्** = संसार में जो भी

उपकोशलः कामलायनः। तस्मै अग्न्य ऊचुः।

प्राणः कं खं ....ब्रह्म। अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशाष।

(छा.उ. ४/१०)

आदित्यः  य एष आदित्ये पुरुषो

अन्नम्  दृश्यते सोऽहमस्मि

अग्निः  स एवाहमस्मि॥

पृथिवी  (छा. उ. ४/११)

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

(श्वेताश्वरोप. ५/१०)

भोक्तारूप हैं वे तुम्हीं हो; **विश्वम्** = सम्पूर्ण, **आयुः** = जीवन, **त्वम्** = तुम ही हो, **विश्वक्रीडारतिः** = संसार में जो भी क्रिया-कर्म द्वारा प्रदर्शन हो रहा है वह तुम्हारी क्रीडा ही है, अथवा सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन-पालन और संहरण करना ही आपकी कीड़ा (खेल) है, **प्रभुः** = और यही तुम्हारा प्रभुत्व-सामर्थ्य-ऐश्वर्य का दिग्दर्शन है। **शान्तात्मने** = हे शान्तात्मा, हे गुह्यतम = गुह्यों (रहस्यों) के भी रहस्य (गुप्त) स्वरूप ब्रह्मन्! **तुभ्यम्** = तुम्हारे लिये, **नमः नमः** = मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। **च** = और आपके, **अचिन्त्याय** = चिन्तन से परे स्वरूप के लिए, **अप्रमेयाय** = किसी प्रमाणों से अग्राह्य असीम स्वरूप के लिए, **च** = और, **अनादिनिधनाय** = आदि रहित अविनाशी स्वरूप के लिए, **नमः** = नमस्कार करता हूँ॥ (मैत्रायणी उ. ५)

व्याख्या–उपकोशल कामलायन से अग्नियाँ बोली–हे उपकोशल कामलायन! प्राण ही ब्रह्म है, जल ही ब्रह्म है और यह व्यापक निरवयव आकाश ही ब्रह्म है। अब मैं तुम्हें गार्हपत्य अग्नि का उपदेश प्रदान कर रहा हूँ। (छा. उ. ४/१०)

जो यह आदित्य (सूर्य में) पुरुष देख रहे हो वह मैं ही हूँ, वह ही मैं हूँ। यह आदित्य मैं हूँ, यह अन्न मैं ही हूँ। यह अग्नि मैं ही हूँ। यह पृथिवी भी मैं ही हूँ। (छा. उ. ४/११)

तुम स्त्री हो। तुम पुरुष भी हो। तुम कुमार हो और कुमारी भी तुम्ही हो। जो भी देखते और अनुभव कर रहे हो सब आत्मा (ब्रह्म) ही है एवं वह आत्मरूप ब्रह्म तुम ही हो।

(श्वेताश्वरोपनिषद् ५/१०)

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास।

चन्द्रमाः  य एष चन्द्रमसि पुरुषो

नक्षत्राणि  दृश्यते सोऽहमस्मि

दिशः  स एवाहमस्मीति ।।

आपः  (छा. उ. ४/१२)

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास।

विद्युत्  य एष विद्युति पुरुषः

द्यौः  सोऽहमस्मि

आकाशः 

प्राणः  स एवाहमस्मीति ।। (छा. उ. ४/१३)

ते होचुरूपकोशलैषा सौम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या

आचार्यस्तु ते गति वक्ता ।।

(छा. उ. ४/१४/१)

व्याख्या–फिर उस उपकोमल नाम से प्रसिद्ध कमल का पुत्र कामलायन जो सत्यकाम जाबाल ऋषि के यहाँ ब्रह्मचर्य पूर्वक रह रहा था, को अन्वाहार्यपचन अर्थात् दक्षिणाग्नि ने उपदेश (शिक्षा) दी। उसने कहा—चन्द्रमा, नक्षत्र, दिशा और जल ये चार मेरे शरीर हैं। यह जो चन्द्रमा में पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ।

(छा. उ. ४/१२)

तत्पश्चात् आहवनीय अग्नि ने उसे उपदेश (शिक्षा) दिया—हे कामलायन! विद्युत्, द्युलोक, आकाश और प्राण ये मेरे चार शरीर हैं। यह जो विद्युत् में पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।

(छा. उ. ४/१३

पुनः उन अग्नि ने कहा—हे उपकोशल (कामलायन)! हे सौम्य! यह अपनी विद्या और आत्मविद्या तेरे प्रति हमने कही, अब तुम्हारे आचार्य (गुरु) अर्थात् सत्यकाम जाबाल ऋषि तुझे इनके फल की प्राप्ति का मार्ग तुझे बतलायेंगे। (छा. उ. ४/१४/१)

आचार्यः (जाबालः) उवाच-ब्रह्मविद् इव सौम्य ते मुखं भाति। को नु त्वानुशशास इति। लोकान्नु किल सौम्य तेऽवोचन अहं ते वक्ष्यामि, यथा पुष्करपलाश आपो न लिप्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।।

(छा. उ. ४/१४/२-३)

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा इति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म इति। एतं संयद्वाम इत्याचक्षते। एतं हि सर्वाणि वामानि अभिसंयन्ति। य उ एव वामनी, एष सर्वाणि वामानि नयति। एष उ एव भामनी एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति।।

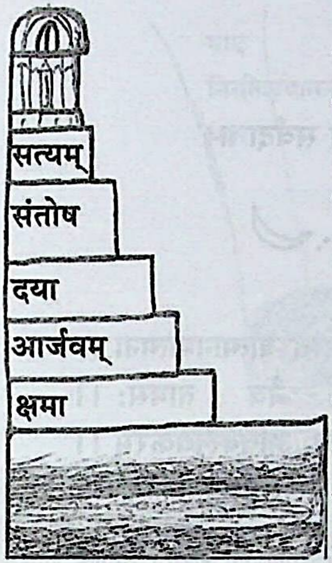
(छा. उ. ४/१५)

व्याख्या–आचार्य जाबाल ऋषि ने कहा—हे सौम्य उपकोशल! तुम्हारा मुखमण्डल ब्रह्मवेत्ता के समान शोभित हो रहा है। तुझे किसने उपदेश किया है? उपकोशल कामलायन ऋषि कुमार अग्नि को संकेत कर (उपदेशक गुरु को) सब बात बताया। इस पर आचार्य जाबाल ऋषि ने उन्हें कहा—मैं तुझे उपदेश करता हूँ। हे सौम्य! जिस प्रकार कमलपत्र से जल का सम्बन्ध नहीं होता है उसी प्रकार इस अग्निविद्या द्वारा प्राप्त आत्मबोध से वह किसी भी पापकर्म में लिप्त नहीं होता।

(छा. उ. ४/१४ (२-३)

हे सौम्य उपकोशल! यह जो नेत्र में पुरुष दिखायी देता है यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है और यह ब्रह्म है। इसे ब्रह्मवेत्ता विद्वान् लोग "संयमद्वाम" है ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओर से इसे ही प्राप्त होती हैं; जो इस प्रकार जानता है उसे सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओर से प्राप्त होती हैं। यही वामनी है, क्योंकि यह सम्पूर्ण वामों का वहन करता है। जो इसे इस प्रकार से जानता है वह सम्पूर्ण वामों को वहन करता है। यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकों में भासमान होता है। जो इसे इस प्रकार से जानता है वह सम्पूर्ण लोकों में भासमान होता है।

(छा. उ. ४/१५)



मुक्तिमिच्छसि चेत्तात,
विषयान् विषवत् त्यज ।
क्षमार्जवदयातोष,
सत्यम् पीयूषवद्
भज ॥ (अष्टावक्रगीता)

न पृथिवी न जलनाग्नि, र्न वायुर्द्यौर्नि वा भवान् ।
एषां साक्षिणमात्मानं, चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥
न त्वं विप्रादिको वर्णो, नाश्रमी नाक्षमोचरः ।
असंगोऽसि निराकारो, विश्वसाक्षी सुखी भव ॥

व्याख्या–तात = हे श्रेष्ठजन विद्वान् !, **मुक्तिम्** = मोक्ष को, **इच्छसि** = प्राप्त करना चाहते हो तो, **विषयान्** = इन्द्रियों के जो विषय–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादिकों को, **विषवत्** = विष तुल्य (मानकर) जानकर, **त्यज** = त्याग दो और, **क्षमा** = सहन करने की शक्ति, **आर्जवम्** = कुलीनता (उदारता), **दया** = दयावृत्ति, **सत्यम्** = यथार्थ अर्थात् असत् रहित, **सन्तोषम्** = एवं यथालाभ संतुष्टि को, **पीयूषवत्** = अमृत के तुल्य जानकर, **भज** = उसका सेवन करो अर्थात् आचरण करो। प्रतीक चित्र सोपान का तात्पर्य है कि जिसे यहाँ सेवन के लिए कहा गया है, ये पाँच सोपान ऐसे हैं, जिनका आश्रय लेकर परमात्म मिलन सम्भव है। (अष्टावक्र गीता)

व्याख्या–(हे राजन् त्वम्) = हे राजा जनक ! तुम, **न त्वं पृथिवी** = तुम पृथिवी तत्त्व नहीं हो, **जलम्** = जल तत्त्व भी, **न** = नहीं हो, **न वायुः** = वायु भी नहीं हो, **न द्यौः** = और न ही आकाश तत्त्व ही हो, **न वा भवान्** = इसी प्रकार तुम शरीर भी नहीं हो। **एषाम्** = इन, उपर्युक्त कहे गये पदार्थों के, **साक्षिणम्** = साक्षी, **आत्मानम्** = आत्मा को, **चिद्रूपम्** = चेतन मात्र रूप से, **विद्धि** = जानो, **मुक्तये** = इस तरह से सर्व प्रकार से आत्मरूप का चिन्तन मोक्ष को प्रदान करने वाला होता है। (हे जनक जी !) **त्वम्** = तुम, **विप्रादिकः** = ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण, **न** = नहीं हो, **न आश्रमी** = आश्रम विशेष (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) में रहने वाले नहीं हो, **न अक्षगोचरः** = अक्ष अर्थात् इन्द्रिय (नेत्र) से दिखाई देने वाला शरीररूप नहीं हो, **असंगः** = तुम संग रहित, **निराकारः** = आकार रहित, **विश्वसाक्षी** = सम्पूर्ण जगत् समूह वस्तु के द्रष्टा मात्र,

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं,
मानसानि न ते विभो !



न कर्तासि, न भोक्तासि, मुक्तमेवासि सर्वदा ॥



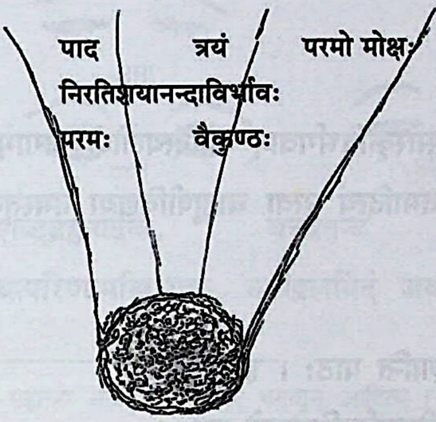
सत्त्ववान् सहते सर्वं, संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
राजस स्तभ्यमानोऽन्यैः, सहते नैव तामसः ।।
सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादि स्थानेषु अविक्लवकरम् ।।

(सुश्रुत संहिता सू. ३५)

असि = हो, **सुखी भव** = ऐसा अपने आत्मस्वरूप को जानकर सुखी हो जाओ। क्योंकि समस्त दुःख का कारण अपनी आत्मा को स्वरूप से न जानने के कारण ही है। (हे जनकजी !) **धर्माधर्मौ** = ये शरीरादि में रहने वाले जितने धर्म अथवा अधर्म हैं, अथवा शरीरादि से किये जाने वाले जितने कर्त्तव्याकर्त्तव्य हैं, **सुखं-दुखम्** = जो सुख स्वरूप वा दुःख स्वरूप से रहते हैं, **ते** = वे सभी, **मानसानि** = मन के संकल्प से उत्पन्न हैं, यथार्थ सत्य नहीं हैं। **विभो** = हे व्यापक स्वरूप वाले आत्मन् !, **न कर्त्ता** = किसी कार्य के करने वाले कर्त्ता, **न** = तुम नहीं हो, **न भोक्ता** = तुम किसी भी भोग्य पदार्थ के भोक्ता भी नहीं हो, **सर्वदा** = पूर्वकाल में, वर्तमानकाल में तथा आगामी भविष्यकाल में भी, मुक्त एव **असि** = मुक्त ही था, मुक्त है और मुक्त रहेगा। क्योंकि तुम्हारा वास्तविक स्वरूप ऐसा ही है।

व्याख्या–सत्त्ववान् = सत्त्वगुण से सम्पन्न व्यक्ति अर्थात् सत्त्वगुणप्रधानवाला (व्यक्ति), **आत्मना** = आत्मा से, **आत्मानम्** = आत्मा को, **संस्तभ्य** = रोककर अर्थात् नियन्त्रित करके, **सर्वम्** = शीत, घाम (गर्मी), क्रोध, लोभ, ममता, मात्सर्यादि के वेग को, **सहते** = सहन करते हैं। **राजसः** = रजोगुण प्रधान व्यक्ति, **अन्यैः** = दूसरों से, **स्तभ्यमानः** = प्रक्षिप्त वचनादिकों से उत्पन्न वेग के वशीभूत होकर उसे सहन नहीं कर पाते उसमें राग (आसक्ति) उत्पन्न हो जाता हैं। **व्यसनाभ्युदयक्रियाकालेषु** = व्यसन के अभ्युदय होने पर क्रिया करने के समय, **सत्त्वं** = सत्त्वगुण प्रधान व्यक्ति, **तु** = निश्चित रूप से, **अविक्लवकरम्** = उद्विग्नता (वेग) रहित अर्थात् कामादिवेगोत्पन्नता के प्रभाव को सहन करने में सक्षम होते हैं। भाव यह है कि सत्त्वगुण के उद्रेक (वेग) प्रतिकूल उपद्रवकारी नहीं होते हैं।

(सुश्रुत सं. सू. ३५)



(त्रिपाद्विभूति महाना. ३०/८)

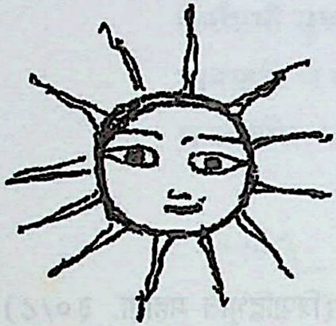
एकस्मिन्नविद्या पादेऽनन्तकोटि, ब्रह्माण्डानि सावरणानि श्रूयन्ते। एकस्मिन्नण्डे बहवो लोकाः। बहवो बैकुण्ठाश्चानन्तविभूतयश्च॥ गंगायां च जले मोक्षो, वाराणस्यां जले स्थले॥

(का.ख.टी.)

एक ही अविद्यापाद में आवरण सहित अनन्त ब्रह्माण्ड है ऐसा शास्त्रों, विद्वानों और ब्रह्मविद ऋषिजनों से सुना जाता है। इसी प्रकार परमात्मा के एक अण्ड में अनन्त लोक अवस्थित है तथा अनन्त वैकुण्ठ और अनन्त विभूतियाँ भी उनके एक पाद में अवस्थित हैं ऐसा सुना जाता है। ब्रह्म के चार पाद—(१) परमपाद, (२) निरतिशयानन्द आविर्भावपाद, (३) बैकुण्ठपाद तथा (४) मोक्षपाद का लाभ उपासक उपासना क्रम की वृद्धि की परिपक्वता के उत्तरोत्तर प्राप्त कर पाता है। वैकुण्ठ शब्द की व्युत्पत्ति—"विगत कुण्ठा यत्र स:" के अनुसार जिस पद की प्राप्ति से सम्पूर्ण कुण्ठाएं दूर हो जाती है उसे बैकुण्ठ कहते हैं। (त्रिपाद्विभूति ना. ३०/८)

व्याख्या—तीनों अविद्यापाद को अतिक्रम करके परममोक्षपाद है। परमात्मा के जो मोक्षवाद है वह निरतिशयानन्दस्वरूप है। साधक अपनी साधना के द्वारा ब्रह्म (परमात्मा) के उन तीनों अविद्यापाद को लंघित कर जब अवस्थित होता है तब निरतिशयानन्द का आविर्भाव (उत्पत्ति) होता है। इस प्रसंग में श्रुति कहती है—"त्रिपादूर्ध्वमुदैति पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुन:" अर्थात् परमात्मा अपनी अविधा के तीन पादों से ऊपर विराजमान हैं जिसे परम वैकुण्ठ पद कहा जाता है। "विगता कुण्ठा अस्य इति वैकुण्ठ:" अर्थात् जहाँ कुण्ठा न हो। कुण्ठा रहित पद ही परम वैकुण्ठपद है, जिसे ब्रह्मपद-मोक्षपद भी कही जाता है।

अन्यत्र गंगा के जल के सेवन मात्र से मोक्ष प्राप्त होता है परन्तु काशी में जल (गंगा) और स्थल (पृथिवी) दोनों के सेवन से मोक्षपद की प्राप्ति होती है। (काशी खण्ड टीका)



सांस्कृतिर्भगवान् आदित्यलोकं जगाम् ।
तमादित्यं नत्वा चाक्षुषीविद्यया तमस्तुवत् ।

ॐ सहनाववतु० शान्ति पाठः । हरिः ॐ ।

ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायाक्षितेजसे नमः ।

ॐ खेचराय नमः ! ॐ महासेनाय नमः ।

ॐ तमसे नमः । ॐ रजसे नमः । ॐ सत्त्वाय नमः ।

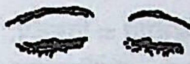
ॐ असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

ॐ मृत्योर्माऽमृतं गमय । हंसो भगवाञ्छुचिरूपः
प्रतिरूपः । विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं, हिरणमयं
ज्योतीरूपं तपन्तम् । सहस्त्ररश्मिः
शतधावर्तमानः, पुरुषः प्रजानामुदत्येष सूर्यः ।।

ॐ नमो भगवते श्री सूर्यायादित्यायाक्षितेजसेऽहोवाहिनि वाहिनि स्वाहेति ।।

एवं चाक्षुषीविद्यया स्तुतः श्रीसूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीत्–
चाक्षुष्मतीं विद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति ।
अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वाऽथ विद्यासिद्धिर्भवति ।
य एवं वेद स महान्भवति ।।१।।

(अक्ष्युपनिषत्)



अमा





पूर्णा प्रतिपत्

शब्दब्रह्मयदेकं, यच्चैतन्यं सर्वभूतानाम् ।
यत्परिणामस्त्रिभुवनं, अखिलमिदं जयति सा वाणी ।।

(अथर्व.सा.भा.उपो.)

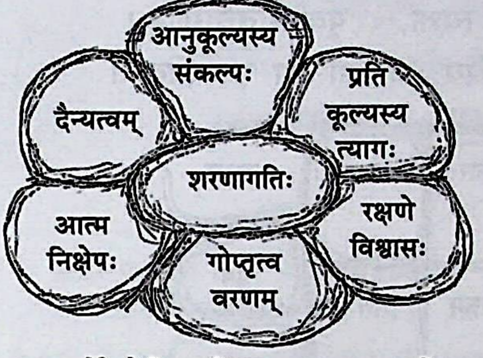
व्याख्या–महात्मा सांस्कृति एकबार भगवान् आदित्य (सूर्य) के लोक में गये और भगवान् सूर्य को नमस्कार करके चाक्षुष्मती विद्या स्तोत्र के द्वारा उनकी स्तुति की, जिस विद्या से नेत्र सम्बन्धी रोग नष्ट होता है। यहाँ उक्त स्तुति की व्याख्या की जा रही है—**सांस्कृतिः** = महात्मा ऋषि सांस्कृति, **भगवानादित्यलोकम्** = भगवान् सूर्यनारायण लोक (जिसे आदित्य लोक कहते हैं); **जगाम** = गये। **तमादित्यम्** = वहाँ पर उन आदित्य (सूर्यनारायण) भगवान् को, **नत्वा** = प्रणाम करके, **चाक्षुष्मतीविद्यया** = चाक्षुष्मती (नेत्र रोग निवारण सम्बन्धी) विद्या के स्तोत्र द्वारा, **तमस्तुवत्** = उनकी स्तुति की। **ॐ सहनाववतु** = हम गुरु और शिष्य (सांस्कृति) की साथ-साथ रक्षा हो, **सह नौ भुनक्तु** = दोनों साथ-साथ भोजन करें, **सह वीर्यं करवावहे** = हम दोनों साथ-साथ वीर्य (पराक्रम) को प्राप्त होवें, **तेजस्विनावधीतमस्तु** = अधीत अर्थात् अध्ययन की गई विद्या से दोनों तेजस्वी बनें या दोनों की विद्या तेजस्विता को प्राप्त करे, **हरि ॐ** = ओम् ब्रह्म जो सम्पूर्ण पाप को हरण करने के कारण हरि कहलाते है वे हमारी रक्षा करे। इस प्रकार प्रथमतः उन्होंने शान्ति पाठ का वाचन करके भगवान् सूर्य की स्तुति प्रारम्भ की—

ॐ = परमात्मा, **अक्षितेजसे** = नेत्रों में जो तेज (प्रकाश) स्वरूप से विराजमान हैं ऐसे, **भगवते** = भगवान्, **श्री सूर्याय** = श्री सूर्यनारायण को, **नमः** = प्रणाम करता हूँ, **ॐ खेचराय नमः** = ॐ मैं आकाश में विचरण करने वाले (**खे** = आकाशे चरतीति खेचरः) भगवान् सूर्य को नमस्कार करता हूँ। **ॐ महासेनाय नमः** = ॐ मैं महासेन नाम से विख्यात भगवान् सूर्य को प्रणाम करता हूँ। **ॐ सत्त्वाय नमः** = ॐ सत्त्वगुण प्रधान (विष्णु स्वरूप) सूर्य को प्रणाम करता हूँ। **ॐ असतः** = ॐ असत् से, मा = मुझको, **सद्गमय** = ॐ सत् की ओर प्रवृत्त कर उसे प्राप्त कराओ। **तमसः** = अन्धकार से अथवा तमोगुण से, **मा** = मुझको, **ज्योतिर्गमय** = प्रकाश की ओर या सत्त्वगुण की ओर ले जाओ या प्राप्त कराओ। **ॐ मृत्योः** = ॐ मृत्यु से अथवा अज्ञान से, **अमृतम्** = अमृत की ओर या ज्ञान की ओर, **गमय** = हमें ले जाओ अथवा उसे प्राप्त कराओ। **हंसः** = हँसस्वरूप अथवा हंस का व्यत्यय (उलटा) "सोऽहम्" स्वरूप ब्रह्म, **भगवान्** = सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त, **शुचिरूपः** = शुद्ध (निर्मल) स्वरूप, **प्रतिरूपः** = जिसका जगत् प्रतिरूप है अथवा

प्रत्येक रूप में तद्रूप से विराजमान (रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव), **विश्वरूपम्** = विश्वरूप, **घृणिनम्** = घृणी, **जातवेदसम्** = अग्निरूप, **हिरण्मयम्** = हिरण्यमय, **ज्योतीरूपम्** = ज्योतिस्वरूप, **तपन्तम्** = तपते हुए, **सहस्त्ररश्मिः** = हजारों (अनन्त) किरणोंवाले, **शतधावर्तमानः** = सैकड़ों (असख्य) रूप से विद्यमान, **पुरुषः** = पुरुष अर्थात् "पुरि हृदयाकाशे शेते इति पुरुषः" परमात्मा, **प्रजानाम्** = प्रजाओं (भूतात्माओं) को, **एष** = यह, **सूर्यः** = सूर्य, **उदयति** = प्रकाशित करता है ऐसे, ॐ भगवते = ॐ स्वरूप भगवान्। **अक्षितेजसे** = नेत्र में स्थित प्रकाशस्वरूप, **अहोवाह** = दिन-रात को वहन करनेवाले, **निवाहानि** = काल के निर्धारक, **भगवते** = भगवान्, **श्री सूर्याय** = श्री सूर्य को, **स्वाहा** = नमस्कार करते हैं अथवा सुन्दर ढ़ंग से उनके लिए हवन (यज्ञ) करते हैं। **एवम्** = इस प्रकार, **स्तुतः** = सांकृति ऋषि से प्रार्थित, **श्री सूर्यनारायणः** = भगवान् सूर्यनारायण, सुप्रीतः = प्रसन्न होकर, **अब्रवीत्** = कहा— **चाक्षुष्मतीम्** = इस चाक्षुष्मती, **विद्याम्** = विद्या का, **यः** = जो, **ब्राह्मणः** = ब्राह्मण, **नित्यम्** = प्रतिदिन, **अधीते** = पारायण करेगा या उपासना करेगा, **तस्य** = उसको, **अक्षिरोगः** = आँख सम्बन्धी रोग, **न** = नहीं, **भवति** = होगा, **अष्टौ** = आठ संख्या से युक्त, **ब्राह्मणान्** = ब्राह्मणों को, **ग्राहयित्वा** = वरण करके, **अथ** = उसके पश्चात्, जो इस स्तोत्र का पारायण करायेगा, **सिद्धिः** = उसे यह विद्या सिद्ध हो जायगी अर्थात् उसकी कार्यसिद्धि, **भवति** = होती है अथवा होगी। **यः** = जो, **एवम्** = इस प्रकार से, **वेद** = इस विद्या की उपासना करके ज्ञान प्राप्त करेगा, **सः** = वह, **महान्** = महान्, **भवति** = हो जाता है या होगा ॥१॥

(अक्ष्युपनिषत्)

व्याख्या—प्रतीक चित्र द्वारा यहाँ कहा जा रहा है कि—अनुन्मीलित (बन्द) आँखें परमात्मा का अकल-निरञ्जन-अक्रिय स्वरूप है अर्थात् निराकार स्वरूप है और वही अमा (अमावास्या) है तथा यह प्रलयकालीन अवस्था (योगनिन्द्रा) का द्योतक है। इसी प्रकार पतिपत् (परिवा) तिथि परमात्मा का योगनिद्रा से प्रथम जागरण का द्योतक (प्रतीक) है और पूर्णा (पूर्णिमा) परमात्मा का पूर्ण जागरण की स्थिति है। इसी तरह जब साधक अज्ञाननिद्रा में होता है तो उसकी अमावस्या की स्थिति होती है उसे कुछ भी नहीं दीखता है। जब वह गुरु के सदुपदेश पाता है और स्वात्म प्रयत्न से अपने स्वरूप को जानने के लिये तप करता है तो प्रथम ज्ञानोदय प्रतिपदा है तथा जब साधना की परिपक्वता को प्राप्त कर "सोऽहम्" अर्थात् मैं वही परमात्म स्वरूप हूँ जानता है और "अहं ब्रह्मास्मि" निर्मल अभेद बोध को प्राप्त करता है तो पूर्णा (पूर्णिमा) तिथि की स्थिति को प्राप्त करता है और उसे वास्तविक सूझ-बूझ "ईशावास्यमिदं सर्वम्" "नेह नानास्ति किञ्चन" सर्वं खलु इदं ब्रह्म" अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का वासस्थल है, यहाँ नानात्व नहीं है, यह सभी ब्रह्म स्वरूप ही है, का बोध होता है। वस्तुतस्तु अक्षि उपनिषद् की चाक्षुष्मती विद्या जीवात्मा मात्र के लिये उपासनीय है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय होने पर भी उसे दिखाई नहीं देता और वह उमसें मैं, हम, तूँ, तुम रूप से देखता है, अतः सम्पूर्ण जीवात्मा नेत्ररोगी है। इसी के अभिप्राय से सांकृति ऋषि सूर्यलोक पहुँचकर लोकहित की कामना से चाक्षुष्मती विद्या को अपनी साधना से प्राप्त किये ताकि लोककल्याण हो सके। (अक्ष्युपनिषत्)



शरणं मे गिरिराज कन्यक तरुणेन्दु शेखरः

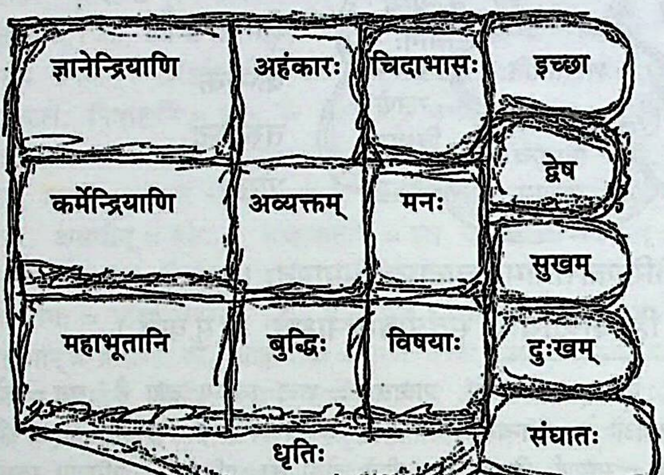
एकार्थोल्लेखिकृत्तिनामा, तादाम्याभिमानतः ।
आम्रेडनं हि शब्दार्थः, सर्वत्रोवासनाश्रुतेः ॥ (सु.वार्ति.)

व्याख्या–**यद्** = जो, **एकम्** = अद्वितीय, **शब्दब्रह्म** = शब्द स्वरूप ब्रह्म है, **यत्** = जो, **सर्वभूतानाम्** = सभी जीवात्माओं के, **चैतन्यम्** = चेतना (ज्ञान) स्वरूप से विद्यमान है, **यत्** = और जो, **इदम्** = इस, **अखिलम्** = सम्पूर्ण, **त्रिभुवनम्** = तीनों लोकों का, परिणामः = परिणाम स्वरूप है, **सा** = उस, **वाणी** = वाणी स्वरूपा (सरस्वती) देवी, **जयति** = सर्वोत्कर्ष को प्राप्त हो।

(अथर्व. सा.भा.उपो.)

व्याख्या–प्रतीक चित्रांकन के माध्यम से भगवत् शरणागति के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है कि—साधक भक्त सर्वप्रथम भगवत् शरणागति हेतु आनुकूल्य मानसिक संकल्प (प्रतिज्ञा) का वरण करे, द्वितीयतः भगवत्शरणागति में बाधक (प्रतिकूल) मानसिक चित्तवृत्ति का सर्वथा त्यागने की प्रतिज्ञा पूर्वक सतत वैसा प्रयत्न करे। तृतीयतः ईश्वर (उपास्य) के प्रति दृढ़ विश्वास को अन्तःकरण में स्थिर करे कि ईश्वर सब प्रकार से हमारी रक्षा करेंगे। चतुर्थतः गुरु द्वारा उपदिष्ट मन्त्र तथा साधना हेतु किये प्रयत्न को गोपनीय रखे। उन मन्त्रादि द्वारा की गयी साधना को प्रकाशित करने से साधक भक्त में कई प्रकार के दोष उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिये साधना में गोपनवृत्ति का यथा–आवश्यकतानुसार महत्त्व दिया गया है। चतुर्थतः साधक भक्त ईश्वर में स्वात्मा का निक्षेप (समर्पण) करे और पाँचवें सोपान आने पर दैन्यत्व भाववृत्ति का आश्रय ग्रहण करे। भक्तिमार्ग में दैन्यत्व का महत्त्व इसलिये है कि दैन्यचित्तवृत्ति से अहंकारादि का क्षय होता है। अहंकारादि का होना किसी भी साधनामार्ग में परम त्याज्य विषय है। इस प्रकार षष्ठम क्रम में साधकभक्त अनन्य भाव से परमात्मा ईश्वर के शरण में "हे गिरिराज हिमावान की पुत्री से संवलित भगवान् तरुणेन्दुशेखर (शिव) आप एकमात्र मेरा शरण हैं" इस भावना की प्रधानता प्रगाढ़ और दृढ़ करके उसके शरणपन्न होना चाहिये। ये शरणागति के छः सोपान या क्रम हैं। यही प्रतीक चित्राङ्कन के कोष्ठकगत वाक्यों द्वारा कहा गया है। (चित्राङ्कन)

दृढ़भावनया त्यक्त, पूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य, वासना सा प्रकीर्तिता ॥ (सु.वार्ति.)



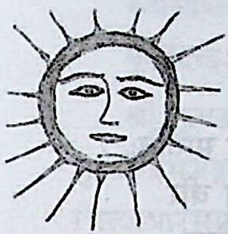
(श्रीमद्भग.गी. १३)

व्याख्या–**एकार्थोल्लेखिवृत्तीनाम्** = एक अर्थ को प्रकट करनेवाली (जिसे अर्थात्मावृत्ति कहते हैं) **तादात्म्याभिभानतः** = उस अर्थात्मा के साथ तादात्म्य (एकीभाव) स्वरूप के अभिमान से, **आम्रेडनम्** = जो पुनरुक्त शब्दध्वनि होती है, **हि** = निश्चित ही, **शब्दार्थः** = वही शब्द के अर्थ का, **सर्वत्रोपासना श्रुतेः** = सभी जगह अर्थात् सभी प्रकार की उपासना स्थल में उपासनीय विषय है, ऐसा श्रुति का कथन है। (सु. वार्ति.)

व्याख्या–**दृढ़भावनया** = भावना की दृढ़ता के द्वारा, **पूर्वापरविचारणम्** = पूर्वापर का विचार करके, **त्यक्तः** = पूर्व में किये गये अर्थात् पूर्वापर विचार में से अनभिष्ट अंश के त्याग के बाद, **यदादानम्** = जो ग्रहण किया जाता है, **सा** = वही, **वासना** = वासना नाम से, **प्रकीर्तिता** = कही गयी है। अर्थात् उसी को वासना कहते हैं।

व्याख्या–यहाँ उपर्युक्त प्रतीक चित्राङ्कन के कोष्ठकगत वाक्यों के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय के क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग नामक योग को उद्धृत किया गया है। यहाँ यह कहना उचित होगा कि–यह भौतिक शरीर ही क्षेत्र है और जो ज्ञानी मानव इसे सम्यक् रूप से जानता है वही क्षेत्रज्ञ है और इस क्षेत्र के पूर्णज्ञाता परमेश्वर-परमात्मा ही हैं। यथा भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अर्जुन से इस प्रकार कहा है—

इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः, क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।



ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्, ज्योतिषां
ज्योतिः, सर्वस्य हृदि विष्ठितम्, सर्वतोऽक्षिशिरो-
मुखम्, सर्वमावृत्य तिष्ठति, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णुः ।
(श्रीमद्भगवद्गीता–१३)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं, यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। (श्रीमदभग. १३/१-२)

प्रतीक चित्राङ्कन में पंचज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिम और पञ्चमहाभूत, अहंकार एवं अव्यक्त क्षेत्र है तथा चिदाभास, मन, विषय समूह, इच्छा, द्वेष सुख, दुःख, संघात, चेतना एवं धृति ये उसके विकार समूह हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं—

महाभूतान्यहंकारो, बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियानि दशैकं च, पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं, संघातश्चेतनाधृतिः ।
एतत् क्षेत्रम् समासेन, सविकारमुदाहृतम् ।। (गी. १३/५-६)

क्षेत्र की परिधि व्यापक है। चूँकि क्षेत्र प्रकृति और उसके कार्यभूत विकार भी हैं, इसलिये प्रकृति के विकार भी क्षेत्र ही है। विकार कार्यरूप भी होते हैं और कार्य कारणरूप भी होते है। अतः दोनों उभयरूप होने के कारण एक ही हैं ऐसा जानना चाहिये। (श्रीमद्भगवद्गीता १३)

व्याख्या—पूर्व में प्रकृति अर्थात् क्षेत्र को कहा गया है; अब पुनः प्रतीक चित्राङ्कन द्वारा व्यापक क्षेत्रज्ञ परमात्मा के सम्बन्ध में कहा जा रहा है—वे परब्रह्म परमात्मा ज्योतियों के भी ज्योति हैं एवं वे बोधस्वरूप, ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य तथा तत्त्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य हैं और सभी प्राणियों के हृदय में विशेषरूप से प्रविष्ट होकर स्थित हैं। इसलिए भगवान् ने अर्जुन से इस विषय में स्पष्टरूप से कहा है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।। (गी. १५/१२)

इसका अर्थ है—हे अर्जुन सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में है और जो तेज अग्नि में है—उसको तुम मेरा ही तेज जानो। उस परमात्मा ब्रह्म के ही सब ओर पैर-हाथ है। उनके सभी ओर नेत्र, सिर, मुख है अर्थात् वह परब्रह्म सब ओर हाथ-पैर, आँख-कान, नाक-सिर आदि वाला है और सभी में व्याप्त होकर स्थित है। वे परमात्मा विष्णु रूप से जगत् का धारण पोषण, रुद्र रूप से संहार और ब्रह्मा रूप से सृजन करने वाले है। प्रतीक चित्र और उपरिलिखित श्लोकांश से ब्रह्म के व्यापक स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है। (गी. अ. १३)

नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणा।

ना सामवेद विदुषा, शक्यमेवं विभाषितुम् ॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नं, अनेन बहुधा श्रुतम्।
बहूव्याह-रतानेन न किञ्चिदप-शब्दितम् ॥



श्री वरद मारुतिः धीरो वीर उर्ध्वरेता रामालिङ्गित देहो राम–रासायनिकः नमो भगवाते हनुमते ॥

व्याख्या–ऋग्वेद के तात्त्विक ज्ञान से विनीत, यजुर्वेद के बोध से परिपूर्ण तथा सामवेद के परिज्ञाता जो अद्यतन मानव हुए हैं वे भी भगवान् हनुमान् जी से उत्तम, नीतिपूर्ण वाक्य बोलने में सक्षम नहीं हैं, क्योंकि ये अपने सम्पूर्ण सम्भाषण में कुछ भी अपशब्द (असाधु शब्द) का प्रयोग नहीं किया है। इसलिए यह स्पष्ट है कि ये व्याकरण शास्त्र के पूर्णज्ञान प्राप्त हैं। अतः हनुमान् जी ने जगदम्बा सीता जी से भगवान् राम के वियोगजन्य दुःख को संकेत में ही कह दिये, जो बहुत प्रकार से कहने पर भी व्यक्त नहीं हो सकता था। वे मौन रहकर ही सब कुछ कह दिये। इसलिए कि वे भगवान् सूर्यनारायण के शिष्य "ज्ञानिनामग्रगण्यम्" अर्थात् तीनों लोक चौदहों भुवन में जो भी आज तक ज्ञानियों में परिगणित हैं, उनमें अग्रगण्य हैं, श्रेष्ठतम ज्ञानी हैं। उपर्युक्त कथन अशोक वाटिका में स्थित जगदम्बा श्रीसीता जी का श्री हनुमान से मिलन अवसर का है।

यहाँ प्रतीक चित्राङ्कन के द्वारा भगवान् मारुतिनन्दन, आञ्जनेय का सिद्ध वरद मन्त्र दिया गया है, जो इस प्रकार है—"श्रीवरदमारुतिः धीरो वीर उर्ध्वरेता रामालिङ्गितदेहो रामरासायनिकः। नमो भगवते हनुमते ॥" ये हनुमान् जी भक्तों-साधकों, उपासकों-योगियों और ज्ञानियों आदि के लिये वरदान देने वाले हैं, मरुत् अर्थात् वायु के पुत्र है इसलिए मारुति हैं, धीर हैं, वीर हैं तथा उर्ध्वरेता अर्थात् उत्तमोत्तम कोटि के सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचारी हैं, ब्रह्मवेत्ता हैं। इनके शरीर के रोम-रोम से पुरुषोत्तम भगवान् रामनाम का उच्चारण होते रहता है। ऐसा परम सिद्धियों की स्थिति प्राप्त करने पर होता है, अतः ये सर्वसिद्धि सम्पन्न हैं। रामरासायन के परमवेत्ता भगवान् हनुमन्त लाल को नमस्कार-प्रणाम करते हैं, यहीं मन्त्रार्थ है।

स्वस्तिपन्थामनुचरेम, सूर्याचन्द्रमसा इव।
पुनर्ददताऽध्नता, जानता संगमेमहि ।। (ऋ.सं. ५/५१/१५)

श्री कुण्डलिनी स्तुतिः (शारदा तिलक)

मूलेन्निद्रभुजङ्गराजसदृशीं, यान्तीं सुषुम्नान्तरम्,
भित्त्वाधारसमूहमाशुविलसत्, सौदामिनीसन्निभाम् ।।१।।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगल, द्दिव्यामृतोधैः प्लुतम्,
संभाव्यस्वगृहागतां पुनरिमां, संचिन्तयेत्कुण्डलीम् ।।२।।
आधारस्थितशक्तिविन्दुनिलयाम्, नीवारशूकोपमाम्,
नित्यानन्दमयीं गलत्परसुधावर्षैः प्रबोधप्रदैः ।।३।।
सित्त्वा षट्सरसीरुहाणि विधिवत्कोदण्डमध्योदिताम्,
ध्यायेत् भास्वरबन्धुजीवरुचिरां, संविन्मयीं देवताम् ।।४।।

व्याख्या–सूर्यचन्द्रमसा इव = सूर्य और चन्द्रमा के समान, **स्वस्तिपन्थामनुचरेम** = कल्याणकारी (लोकोपकारी) मार्ग का हम अनुसरण करें। जैसे सूर्य और चन्द्रमा के उदय से यह लोक प्रकाशित होकर अपने कर्म में ठीक-ठीक ढंग से प्रवृत्त होकर कार्य का सम्पादन करता है तथा पालित-पोषित और अभिवर्धित होता है, उसी प्रकार मेरे मार्गानुगमन लोक कल्याणार्थ हो। **पुनर्ददता** = पुनः पुनः (बार-बार) लोक को प्रदान करता हुआ, **अध्नता** = उसके दुःखों को दूर करता हुआ, **जानता** = उसकी संवेदना से अवगत होता हुआ, **संगमेमहि** = हम सब मिल कर साथ-साथ चलें कि लोक को हमारे मार्गगमन से सुख प्राप्त हो सके और दुःख का अपनोदन हो सके। (ऋ.सं.५/५१/१५)

व्याख्या–मूलेन्निद्रभुजङ्गराजसदृशीम् = मूलस्थान अर्थात् मूधाधार स्थान में सोयी हुई सर्पराज (शेषनाग) के समान, **सुषुम्नान्तरम्** = सुषुम्ना की ओर उसके मध्य, **यान्तीम्** = गतिवाली, आधारसमूहं-**भित्त्वा** = मूलाधारचक्र को भेदन करके, **सौदामिनीसन्निभां विलसत्** = सौदामिनी अर्थात् आकाशगत विद्युत् के समान शोभायमान तथा विलासवती, **व्योमाम्भोजगतेन्दुगलत्** = ब्रह्मकमल अर्थात् सहस्रारकमलगत चन्द्र से स्रवित, **दिव्यामृतोधैः** = दिव्य अमृत विन्दु की अधिकता से, **प्लुतम्** = अभिप्लावित (भींगी हुई), **संभाव्यस्वगृहगताम्** = संभावित स्वगृहं (ब्रह्मसदन) की ओर अग्रसर, **इमाम्** = इस, **कुण्डलिनीम्** = कुण्डलिनी (ईश्वरी) का, **पुनः** = उसके बाद, **चिन्तयेत्** = ध्यान इस प्रकार करना चाहिये–**आधारस्थितशक्तिविन्दुनिलयाम्** = मूलाधारचक्रस्थित विन्दुस्वरूपा शक्ति में निवास करनेवाली, **निवारशूकोपमाम्** = नीवार में विराजमान तोता के समान, **प्रबोधप्रदैः** = प्रबोध (जागरण) प्रद, **गलत्परसुधावर्षैः** = प्रवहमान अनुपम परसुधा (ब्रह्मामृतविन्दु) की वर्षा के द्वारा, **षट्सरसीरुहाणि** = षट्दलकमलचक्र को, **विधिवत्** = विधिवत् (ठीक ढंग से), **सित्त्वा** = अभिषिञ्चत

ज्ञानं गणेशो मम चक्षुरर्कः शिवोममात्माममशक्तिराद्या ।
विभेदबुद्ध्या (विष्णुः) मयि ये भजन्ति, मामङ्गहीनं कलयन्ति मन्दाः ।।

(त्रिशती उत्तरपीठिकायां हयग्रीवः)

यस्य नो पश्चिमं जन्म, यदि वा शंकरः स्वयम् ।
तेनैव लभ्यते विद्या, श्रीमत्पञ्चदशाक्षरी ।।

(त्रिशती उत्तरपीठिकायां हयग्रीवः)

मुक्तावन्तर्मुखैव त्वं भुवनेश्वरि तिष्ठति ।। (शक्ति दर्शन)

करके विराजमान, **कोदण्डमध्योदिताम्** = भ्रूमध्य आज्ञाचक्र में उदीयमान, **भास्वतबन्धुजीवरुचिराम्** = प्रकाशमानबन्धुजीव पुष्प की शोभावाली, **नित्यानन्दमयीम्** = नित्य आनन्दस्वरूपिणी, **संविन्मयीम्** = चित्स्वरूपिणी, **देवताम्** = देवी का, **ध्यायेत्** = ध्यान करना चाहिये। अतः उपुर्युक्त स्वरूपवाली कुण्डलिनी शक्ति का मैं ध्यान करता हूँ। यहाँ कुण्डलिनी शक्ति की स्तुति की गयी है।

(शारदा तिलक ४, पृ.सं. २२)

व्याख्या–भगवान् हयग्रीव स्वयं कहते हैं–**मम** = मेरा, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **गणेशः** = गणेश जी का विग्रह है, **चक्षुः** = और नेत्र, **अर्कः** = सूर्य है, **मम** = मेरी, **आत्मा** = आत्मा (शरीर), **शिवः** = (कल्याणमय विग्रह) भगवान् शिव हैं, **मम** = और मेरी, **शक्तिः** = शक्ति, **आद्या** = सबके मूलस्वरूपा आद्या देवी है, **ये** = जो जन (मानव), **मयि** = मेरे भगवान् विष्णु के सम्बन्ध में, **विभेदबुद्ध्या** = भेद (अनेक) बुद्धि से, **भजन्ति** = मेरा भजन करता है, **मन्दा** = वे मूर्ख, **मम** = मेरे, **अङ्गहीनम्** = लंगड़े स्वरूप का अर्थात् एकाङ्ग का ही, **कलयन्ति** = भजन करता है; अर्थात् वह मेरे व्यापक स्वरूप को न जानकर मुझ विकलाङ्ग (एकाङ्ग) का ही भजन करता है। जिससे मैं दुःखी होता हूँ।

(त्रिशती उत्तरपीठिका में हयग्रीव भगवान् का कथन)

व्याख्या–**यस्य** = जिस पुरुष (जीवात्मा) का, **पश्चिमं जन्म** = मुझ परमात्मा में अभेद बोध के फलस्वरूप अन्तिम जन्म है अर्थात् वह अब कभी जन्म नहीं लेगा अर्थात् आगे जिसकी मुक्ति सुनिश्चित है, **तेनैव** = उन्हीं के द्वारा यह, **श्रीमत्पंचदशाक्षरी** = पन्द्रह अक्षर से युक्त मन्त्र, **विद्या** = विद्या, **लभते** = प्राप्त किया जा सकता है दूसरों के द्वारा नहीं, **यदि** = चाहे, **स्वयम्** = वह स्वयं, **शंकरः** = शंकर ही क्यों न हो प्राप्त नहीं कर सकता।

(त्रिशतीउत्तरपीठिका में हयग्रीव भगवान् का वचन)

व्याख्या–**भुवनेश्वरि** = हे भुवनेश्वरि !, **त्वम्** = तुम, **मुक्तौ** = साधक के मुक्तावस्था को प्राप्त होने पर, **अन्तर्मुखा** = अन्तर्मुखी स्वरूप को प्राप्त होकर, **तिष्ठति** = विराजमान होती हो। (शक्ति दर्शन)

पुस्तकजपवटिहस्ते ! वरदाभयचिह्नबाहुलते ।
कर्पूरामलदेहे ! वागीश्वरि ! विशोषयाशु मम चेतः ।।



१ २ ३ ४

(प्रपञ्चसारे ८/५६)

श्री विष्णोर्नवशक्तयः–

विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना, क्रिया योगा ततःपरम् ।
प्रह्वी सत्या तथेशानां, नुग्राह्या नवमी तथा ।।

(प्रपञ्चसारे २०/२९, शारदाति. १५/२५)

शिवस्य पीठशक्तयः–

रौद्री वामा ज्येष्ठा काली कलपदावली विकरिणी
बलप्रमथनी सर्वभूतदमनी मनोन्मनी ।।

(शा.ति. १८/१५/१६)

व्याख्या–पुस्तकजपवटिहस्ते = पुस्तक और जपवटिका (माला) हाथ में ली हुई, **वरदाभयचिह्न-बाहुलते** = बाहुलता के द्वारा वरदमुद्रा एवं अभय मुद्रा को धारण की हुई, **कर्पूरामलदेहे** = कर्पूर के सदृशधवलवर्ण देहधारिणी, **वागीश्वरि !** = हे वाणीकी अधिष्ठात्री भगवति सरस्वति !, **आशु** = शीघ्र ही, **मम** = मेरे, **चेतः** = मलिन चेतना को, **विशोषय** = शुद्ध कर दो।

(प्रपञ्चसार ८/५६)

व्याख्या–भगवान् श्री विष्णु की नौ शक्तियाँ–भगवान् विष्णु की नौ शक्तियाँ हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) विमला, (२) उत्कर्षिणी, (३) ज्ञाना, (४) क्रिया, (५) योगा, (६) प्रह्वी, (७) सत्या, (८) ईशाना तथा (९) अनुग्राह्या।

(प्रपञ्चसार २०/२९, शारदा ति. १५/२५)

भगवान् श्री शिव की पीठ शक्तियाँ–भगवान् शिव की नौ पीठ शक्तियाँ हैं, जो इस प्रकार है— (१) रौद्री, (२) वामा, (३) जेष्ठा, (४) काली, (५) कलपदावली, (६) विकरिणी, (७) बलप्रमथनी, (८) सर्वभूतदमनी और (९) मनोन्मनी।

(शारदा तिलक १८/१५/१६)

गणपतेः शक्तयः—

तीव्रा ज्वालिनी नन्दा, भोगदा कामरूपिणी
उग्रा तेजोवली, सत्या विघ्ननाशिनी। (शा.ति. १३/८)
काद्यं हाद्यं महेशानि! काद्यं कालीगतं भवेत्।
हाद्यं श्री त्रिपुराख्यं च, कहाद्यं तारिणी मतम्।।
हादिः-हस क ल ह्रीं हस क ल ह्रीं सकल ह्रीं (श्रीं)।

(शक्ति संगम तन्त्र ६/१२५)

श्री कृष्णद्वारा देवीस्तुतिः—

त्वमेव सर्वजननी, मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ, स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका।।

भगवान् श्री गणपति की नौ शक्तियाँ—भगवान् श्री गणपति जी की नौ शक्तियाँ कही गयी हैं, जो इस प्रकार है—(१) तीव्रा, (२) ज्वालिनी, (३) नन्दा, (४) भोगदा, (५) कामरूपिणी, (६) उग्रा, (७) तेजोवली, (८) सत्या, (९) विघ्ननाशिनी। (शा.ति. १३/८)

हादिः—हस क ल ह्रीं हस क ल ह्रीं सकल ह्रीं (श्रीं)। हादि मन्त्र का ऐसा स्वरूप यहाँ कहा गया है।

व्याख्या—हे महेशानि! (जगन्नियामिके!) यह जो तेरा वर्णमय मान्त्रिक स्वरूप है जिसे आगमाचार्यों ने कादि विद्या और हादि विद्या कहा है; इसे मैं इस प्रकार मानता हूँ—प्रथम कादि वर्णमय (अक्षरमय) विद्या श्री महाकालीगत अर्थात् कादि विद्या का पर्यवसान श्री महाकाली तत्त्व प्राप्ति में है और हादि का पर्यवसान परमेश्वरी भगवती त्रिपुरेश्वरी तत्त्व प्राप्ति में है तथा कादि हादि दोनों की उपासना का पर्यवसान तारिणी तत्त्व के परिज्ञान प्राप्ति में है। अथवा इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कादि विद्या महाकाली स्वरूपा है और हादि विद्या महात्रिपुरसुन्दरी स्वरूपा है तथा इन दोनों विद्या की उपसना से परिपाक को प्राप्त विद्या का नाम तारिणी विद्या है। साधक जब वर्णमय मान्त्रिक साधना सम्पन्न होकर विद्या परिपाक को प्राप्त होता है तो अलग-अलग वार्णिक मन्त्रोपसना यथा "हादिः—हस क ल ह्रीं हस क ल ह्रीं सकल ह्रीं श्रीं "हो जाता है। वस्तुतस्तु वार्णिक मन्त्र का भी पर्यवसान अद्वैत वर्ण भावना का परिकल्पन ही है। इसलिये कहा है कि–"सर्वे सर्वस्य वाचकः" अर्थात् सभी वर्ण-पद-वाक्य सभी के अर्थ के वाचक होते हैं। परन्तु यह सामान्य अवस्था या जीवन में व्यतीत करनेवाले व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं होता, प्रत्युत जो अपनी कठोर साधना से वर्णों में अभेद बुद्धि (बोध) प्राप्त कर लेता है ऐसे साधक को वर्णों-पदों-वाक्यों में अभेद बुद्धि प्राप्त होती है, जिसे अक्षराद्वैतब्रह्मबोधसम्पन्न साधक कहते हैं। (शक्ति संगमतन्त्र ६/१२५)

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण ने परमात्म स्वरूपा भगवती की स्तुति की है, जिसकी व्याख्या की

कार्यार्थं सगुणा त्वं च, वस्तुतो निर्गुणा स्वयम् ।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं, सत्या नित्या सनातनी ।।
तेजः स्वरूपा परमा, भक्तानुग्रहविग्रहा ।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा, सर्वाधारा परात्परा ।।
सर्वबीजस्वरूपा च, सर्वपूज्या निराश्रया ।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा, सर्वमङ्गलमङ्गला ।।
(ब्रह्मवैवर्तपु. प्रकृति ख. २/६६/७-१०)

जा रही है, परन्तु उससे पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि—किसी के भी दो प्रकार के लक्षण होते हैं—(१) स्वरूप-लक्षण और (२) तटस्थ लक्षण। स्वरूपलक्षण मूलरूप होता है जबकि तटस्थ-लक्षण विकार स्वरूप होता है। अब व्याख्या कहते हैं—हे भगवति देवि ! **त्वम्** = तुम, **सर्वजननी** = सम्पूर्ण सृष्टि की जन्मदात्री हो, **मूलप्रकृतिः** = मूलप्रकृति स्वरूपा हो, **ईश्वरी** = और तुम सम्पूर्ण जगत् की नियामिका हो, **सृष्टिविधौ** = सृष्टि-कार्य के विधान काल में, **त्वम् एव** = तुम ही, **आद्या** = अकेली (आदि स्वरूपा) सृष्टि कर्मी हो, **स्वेच्छया** = तुम अपनी इच्छा से, **त्रिगुणात्मिका** = सत्त्व-रज और तम इन तीन गुणों से युक्त स्वरूपवाली हो जाती हो। **त्वम् च** = एवं तुम, **कार्यार्थम्** = कार्यविशेष के प्रयोजन से, **सगुणा** = गुणों से सम्पृक्त (संयुक्त) होती हो, **वस्तुतः** = यथार्थतः तुम, **स्वयम्** = स्वभाव से, **निर्गुणा** = सभी गुणों से अतीत अर्थात् गुणों से रहित स्वरूपा ही हो। **त्वम्** = क्योंकि तुम, **परब्रह्मस्वरूपा** = परब्रह्म स्वरूपा हो, **सत्या** = सत्स्वस्वरूपा, **नित्या** = नित्यस्वरूपा, **सनतनी** = तथा सनातन स्वरूपा हो। **परमा** = तुम सर्वोत्कृष्ट, **तेजः स्वरूपा** = तेज (प्रकाश-ज्ञान) स्वरूपा हो, **भक्तानुग्रहविग्रहा** = परन्तु भक्तों पर अनुग्रह (कृपा) करने के लिए समय-समय पर शरीर को धारण करती हो। **सर्वस्वरूपा** = तुम सर्वमय होने के कारण सर्वस्वरूपा हो, **सर्वेशा** = और सम्पूर्ण सृष्टि की नियामिका हो। इसके लिए श्रुति प्रमाण यह है कि—"यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्.....अन्तरो यमयति" जो सभी भूतों में स्थित होकर सबको अन्दर से नियमन करती है (वृ.उ. ३/६/१५), **सर्वाधारा** = तुम सभी की आधार अर्थात् आश्रय हो, **परात्परा** = तुम सभी प्रकार के पर सृष्टि से भी पर अर्थात् सबसे अतीत स्वरूपा हो। **सर्वबीजस्वरूपा च** = और तुम ही सम्पूर्ण जगत् की बीजभूता हो, **सर्वपूज्या** = सभी देव, दनुज, दानव, मानव, किन्नर, गन्धर्वादि की पूज्यनीया हो, **निराश्रया** = तुम सबका आश्रय हो परन्तु तुम्हारा आश्रय कोई नहीं है। **सर्वज्ञा** = पूर्णज्ञान होने के कारण अथवा सब में स्थित होने के कारण सर्वज्ञा हो, **सर्वतोभद्रा** = तुम कल्याण स्वरूपा होने के कारण सर्वतोभद्रा हो, **सर्वमङ्गलमङ्गला** = जागतिक तथा पारमार्थिक जो भी मङ्गलमय कार्य है उन मङ्गलों को प्रदान करने वाली हो अथवा सभी प्रकार के जो मङ्गल हैं उन मङ्गलो से भी सर्वोत्कृष्ट मङ्गलतमा मूर्तिवाली हो।

(ब्रह्म वैवर्त पुराण प्रकृति खण्ड २/६६/७-१०)

केशान्गाढतमो भ्रुवोः कुटिलता रागोऽधरं मुग्धता,
चास्यं चञ्चलताक्षिणि कठिनतोरोजौ कटिं क्षीणता।
पादौ मन्दगतित्वमाश्रयदहो दोषास्त्वदंगाश्रयाः,
प्राप्ता सद्गुणतां गताश्च सुतरां श्रीराधिके! धन्यताम्।।

(पं. श्री सीताराम शा. व्यावर)

लक्ष्मी सरस्वती धात्री, त्रिवर्गसम्पद्विभूतिशोभासु
उपकरण वेषरचना, विद्यासु श्रीरिति प्रथिता।।

(व्याडिकोषः)

गंगां पुण्यजलां प्राप्य, त्रयोदशविवर्जयेत्।
शौचमाचमनं चैव, निर्माल्यं मलकर्षणम्।।

व्याख्या–केशान्गाढ़तमः = जिसके शिर पर का केश अत्यन्त काला और सघन है, **भ्रुवोः कुटिलता** = भौंहें टेढ़ी अर्धचन्द्राकार है, **रागोऽधरम्** = अधर पर लालिमा है, **आस्यं मुग्धता** = मुख पर प्रसन्नता की झलक विद्यमान रहता है, **अक्षिणि-चञ्चलता** = आँख में चञ्चलता है, **उरोजौ कठिनता** = दोनों स्तन मण्डल कठोर है, **कटिं क्षीणता** = कटिभाग क्षीण (पतली) है, **पादौ मन्दगतित्वम्** = पैरों की गति में मन्दता है, **राधिके!** = हे राधिके, **त्वङ्गाश्रया** = तुम्हारे शरीर में रहनेवाले, **दोषाः** = दोष (अवगुण) समूह भी, **आश्रयत्** = आश्रय, **प्राप्ता** = प्राप्तकर, **सुतराम् सद्गुणताम्** = अत्यधिक रूपेण सद्गुणता का, **गताः** = प्राप्त कर जाता है, **अहो** = अद्भुत विलक्षण तुम्हारा स्वरूप होने के कारण, **धन्यताम्** = तुम धन्य हो और तुम्हारी यह सद्गुण सम्पन्नता धन्यता को प्राप्त करे। (पं. श्री सीताराम शा. व्यावर)

व्याख्या–'श्रीः' शब्द के दश पर्यायअर्थ यहाँ दिये गये हैं, जो इस प्रकार है—(१) लक्ष्मी, (२) सरस्वती, (३) धात्री, (४) त्रिवर्ग सम्पद्, (५) विभूति, (६) शोभा, (७) उपकरण, (८) वेषरचना, (९) विद्या और (१०) श्रीः। (व्याडिकोष)

व्याख्या–पुण्यजलाम् = पवित्र जलवाली, **गंगाम्** = गंगा जी को, **प्राप्य** = प्राप्त करके, **त्रयोदशम्** = इन तेरह कर्म को, **विवर्जयेत्** = त्याग देना चाहिये अर्थात् नहीं करना चाहिये। **शौचम्** = मलत्यागादिक कर्म, **आचमनम्** = कुल्ला, **च एव** = तथा, **निर्माल्यम्** = गंगाजल और गंगा की मृतिका आदि में अपवित्र (यह वासी है) बुद्धि, **मलकर्षणम्** = देह अथवा वस्त्र के मैल को छुडाना कर्म, **तैलसंमर्दनम्** = शरीर में तेल मर्दन करना, **क्रीडाम्** = जल में क्रीडा (तैरना आदि) करना कर्म, **प्रतिग्रहम्** = दान लेना, **अथ** = इसी प्रकार, **रतिम्** = स्त्री प्रसंगादि कामक्रीडा,

तैलसंमर्दनं क्रीडां, प्रतिग्रहमथो रतिम् ।
अन्यतीर्थाभिलाषा चा, न्यतीर्थप्रर्शसनम् ।।
(पद्म पुराण)

।। ललिता चतुष्पष्ट्युपचारमानसपूजा ।।

ॐ हृन्मध्यनिलये देवि, ललिते परदेवते ।
चतुष्षष्ट्युपचारांस्ते, भक्त्या मातः समर्पये ।।१।।
कामेशोत्संगनिलये, पाद्यं गृहणीष्व सादरम् ।
भूषणानि समुत्तीर्य, गन्धतैलं च तेऽर्पये ।।२।।
स्नानशालां प्रविश्याथ तत्रत्य मणिपीठके ।
उपविश्य सुमने त्वं, देहोद्वर्तनमाचर ।।३।।

अन्यतीर्थस्य = अन्य तीर्थ की, **अभिलाषा** = मनोरथ, **च** = और दूसरे, **तीर्थप्रशंनम्** = तीर्थ की प्रशंसा, **वस्त्रत्यगम्** = वस्त्र का त्याग, **तथा** = तथा, **खातम्** = जलादि प्रयोजन से गढ़ा खोदना, **संहरम्** = सभी प्रकार की हिंसा को, **वर्जयेत्** = इन उपर्युक्त कर्म को गंगा के समीप में जाने पर त्याग देना चाहिये। (पद्मपुराण)

व्याख्या—श्रीललितायाः = श्री ललितादेवी की, **चतुष्षष्टि** = चौंसठ, **मानसेन उपचारेण** = मानसिक उपचार द्वारा, **पूजा** = पूजन विधि का कथन—

ॐ हृन्मध्यनिलये = हृत्पद्ममध्य में निवास करने वाली, **देवि** = हे ललिता देवि !, **परदेवते** = हे परा देवते !, मातः = हे मातः, **ते** = तुम्हारे लिये, **भक्त्या** = भक्तिपूर्वक, **चतुःषष्टि** = चौसठ **उपचारान्** = उपचारों (सामग्रियों) को, **समर्पये** = समर्पण करता हूँ ।।१।।

कामेशोत्सङ्गनिलये = हे भगवानशिव के वामभाग में निवास करनेवाली देवि !, **सादरम्** = यह आदर पूर्वक दिया जानेवाला, **पाद्यम्** = पादप्रक्षालन हेतु दिया जानेवाला जलादिक, **गृहणीष्व** = आप ग्रहण करो। **भूषणानि** = तुम्हारे आभूषणों को, **समुत्तीर्य** = उत्तारकर अब, **ते** = तुम्हारे लिए, **गन्धतैलम्** = स्नान से पूर्व सुगन्धित तैल, **अर्पये** = देह में लगाने के लिए अर्पण कर रहा हूँ ।।२।।

सुमने = हे शुद्ध-सुन्दर मनवाली देवि !, **त्वम्** = तुम, **अथ** = अब, **स्नानशालाम्** = स्नानगृह में, **प्रविश्य** = प्रवेश करके, **तत्रत्य** = वहाँ पूर्व से रखा हुआ, **मणिपीठके** = मणियों से जड़ित पीठ पर, **उपविश्य** = बैठकर, **देहोद्वर्तनम्** = देह में लगाने वाला उद्वर्तन सामग्री, **आचर** = लगाओ ।।३।।

उष्णोदकेन ललिते, स्नापयाम्यथ भक्तितः ।
अभिषिञ्चामि पश्चात्त्वां, सौवर्णकलशोदकैः ।।४।।
धौतवस्त्राप्रोञ्छनं चा, रक्तक्षौमाम्बरं तथा ।
कुचोत्तरीयमरुण, मर्पयामि महेश्वरि ।।५।।
ततः प्रविश्य चालेय, मण्डपं श्रीमहेश्वरि ।
उपविश्य च सौवर्ण, पीठे गन्धान् विलेपय ।।६।।
कालागुरुज धूपैश्च, धूपये केशपाशकम् ।
अर्पयामि च माल्यादि, सर्वर्तुकुसुमस्रजः ।।७।।
भूषामण्डपमाविश्य, स्थित्वा सौवर्णपीठके ।
माणिक्यमुकुटं मूर्ध्नि, दयया स्थापयाम्बिके ।।८।।

ललिते = हे ललिता देवि !, **अथ** = अब, **त्वाम्** = तुमको, **उष्णोदकेन** = उष्णोदक (कवोष्ण) जल से, **भक्तितः** = श्रद्धाभक्तिपूर्वक, **स्नापयामि** = स्नान करा रहा हूँ, **पश्चात्** = इसके बाद तुमको, **सौवर्णकलशोदकैः** = सुवर्ण से निर्मित कलश (घट) के जल से, **अभिसिञ्चामि** = अभिसिक्त कर रहा हूँ ।।४।।

च = और इसके बाद, **द्यौतवस्त्रेण** = सूती धौत (धवल-स्वच्छ-निर्मल) वस्त्र से, **प्रोञ्छनम्** = शरीर को पोछ रहा हूँ, **आरक्तक्षौमाम्बरम्** = लाल रेशमी वस्त्र से निर्मित, **कुचोत्तरीयम्** = स्तन आच्छादनार्थ-उर्ध्ववस्त्र (आंगी-ब्लाऊज) **महेश्वरि** = हे परमेश्वरि !, **अर्पयामि** = तुम्हे अर्पण कर रहा हूँ, कृपया धारण करो ।।५।।

श्री महेश्वरि = हे श्रीपरमेश्वरि ! **ततः च** = और इसके बाद, **आलेपमण्डपम्** = शृङ्गारगृह में, **प्रविश्य** = प्रवेश करके, **च** = और, **सौवर्णपीठे** = सुवर्णमयपीठ पर, **उपविश्य** = बैठकर; **गन्धान्** = सुगन्धित द्रव्य इत्र आदि, **विलेपय** = लेपन करो ।।६।।

च = और, **कालाञ्जनधूपैः** = काला अञ्जन और विविध प्रकार के धूपों से, **केशपाशकम्** = केशपाशको, **धूपये** = मैं धूपित कर रहा हूँ अर्थात् उपर्युक्त धूप अर्पित कर रहा हूँ, **च** = तथा, **सर्वर्तुः** = सभी ऋतुओं में उपलब्ध होनेवाला, **कुसुमस्त्रजः** = पुष्पों से निर्मित, **माल्यादिः** = माला आदि, **अर्पयामि** = तुम्हें पहनने के लिए अर्पण कर रहा हूँ ।।७।।

अम्बिके = हे भगवति ललिते ! **भूषामण्डपम्** = आभूषादिधारण हेतु निर्मित गृह में, **आविश्य** = प्रवेश करके, **सौवर्णपीठके** = सुवर्णमयपीठ पर, **स्थित्वा** = बैठकर, **मूर्ध्नि** = मस्तक पर, **माणिक्यमुकुटम्** = माणिक्यमय मुकुट को, **दयया** = दया करके, **स्थापय** = धारण करो ।।८।।

सरूपावर्णचन्द्रस्य, शकलं तत्र शोभताम् ।
सिन्दूरेण च सीमन्त, मलं कुरु दयानिधे ।।९।।
भाले च तिलकं न्यस्य, नेत्रयोरञ्जनं शिवे ।
वालीयुगलमहच्चाम्ब, भक्त्या ते विनिवेदये ।।१०।।
मणिकुण्डलमप्यम्ब, नासाभरणमेव च ।
ताडकं युगलं देवि, यावकञ्चाधरेऽर्पये ।।११।।
आद्यभूषणसौवर्णचित्ताकर्षकाणि च ।
महापद्मकमुक्तावल्येकावल्यादि भूषणम् ।।१२।।
छात्रवीरं गृहाणाम्ब, केयूरयुगलं तथा ।
वलयावलिमङ्गुल्याभरणं ललिताम्बिके ।।१३।।
ओडयाणमथ कट्यन्ते, कटिसूत्रं च सुन्दरि ।
सौभाग्याभरणं पादकटकं नूपुरद्वयम् ।।१४।।

तत्र = वहाँ पर, **चन्द्रस्य** = चन्द्रमा के, **सरूपावर्णम्** = समान वर्णवाली, **शकलम्** = तुम्हारा शरीर, **शोभताम्** = शोभित हो जाय, **दयानिधे** = इसलिए हे दयानिधे !, **सिन्दूरेण** = सिन्दूर से, **सीमन्तम्** = माँग को, **अलम् कुरु** = शोभित करो अर्थात् लगाओ ॥९॥

शिवे = हे शिव की शक्ति स्वरूपा देवि !, **भाले** = आप ललाट पर, **तिलकम्** = तिलक को, **न्यस्य** = लगाकर, **नेत्रयोः** = दोनों आँखों में, **अञ्जनम्** = अञ्जन लगाईये, **महत्** = और बड़ी-बड़ी, **वालीयुगलम्** = दो वालियाँ, **भक्त्या** = भक्ति भाव से, **विनिवेदये** = मैं पहनने हेतु निवेदित (अर्पित) कर रहा हूँ ॥१०॥

अम्ब = हे माँ !, **मणिकुण्डलम्** = मणिमय कुण्डल, **अपि च** = तथा, **नासाभरणम्** = नाक के आभूषण, **एव** = भी (अर्पित कर रहा हूँ।) **ताडकम्** = ताडकनामकआभूषण, **युगलम्** = जो दो की संख्या में है, **च** = और, **यावकम्** = अधर पर लगानेवाला यावक नामक लेप, **देवि** = हे देवि !, **अधरे** = अधर पर, **अर्पये** = मैं लगाने के लिए आपको अर्पित कर रहा हूँ ॥११॥

आद्यभूषणानि = आभूषणों में उत्तम, **सौवर्णचित्ताकर्षकानि** = जो चित्त को आकर्षित करने वाला सुवर्णाभूषण होता है, **च** = तथा, **एकावल्यादि** = एकलड़ीवाली, **मुक्तावलिः** = मुक्ताहार, **महापद्मक-मुक्तावली** = महापद्मकमुक्ताहार, **छात्रवीरं** = उत्तम छत्र, **तथा केयूरयुगलम्** = तथा दोनों बाहों का बाजूबन्द, **अम्ब** = हे माँ, **गृहाण** = आप पहनने के लिए ग्रहण करो। **सुन्दरि** = हे सुन्दरि !, **अथ** = इसके अनन्तर, **ओडयाणम्** = ओडयाण नामक आभूषण, **च** = और, **कटिसूत्रम्** = कटिसूत्र,

अर्पयामि जगन्मातः, पादयोश्चांगुलीयकम् ।
पाशं वामोर्ध्वहस्ते च, दक्षहस्ते तथाङ्कुशम् ।।१५।।
अन्यस्मिन् वामहस्ते च, तथा पुण्ड्रेक्षुचापकम् ।
पुष्पवाणांश्च दक्षाधः पाणौ धारय सुन्दरि ।।१६।।
अर्पयामि च माणिक्य, पादुके पादयोः शिवे ।
आरोहावृतिदेवीमिश्रकं परशिवे मुदा ।।१७।।
समानवेशभूषाभिः, साकं त्रिपुरसुन्दरि ।
अत्र कामेशवामाङ्कपर्यङ्कोपरिनिवेशिनीम् ।।१८।।
अमृतासवपानेन, मुदितां त्वां सदा भजे ।
शुद्धेन गांगतोयेन, पुनराचमनं कुरु ।।१९।।
कर्पूरवीटिकामास्ये, ततोऽम्ब विनिवेशय
आनन्दोल्लासहासेन, विलसन्मुखपङ्कजाम् ।

पादकटकम् = पादकटक नामक आभूषण, **सौभाग्यभरणम्** = जो सौभाग्य को बढ़ानेवाला है, **नपुरद्वयम्** = ऐसे दो पायल, **पादयोः** = दोनों पैरों में पहनने हेतु, **अर्पयामि** = अर्पण करता हूँ। **वामोर्ध्वहस्ते** = ऊपरवाला बायें हाथ में, **अङ्गुलीयकम्** = हाथ की अंगूठी, **पाशम्** = पाश नामक आयुध, **तथा** = तथा, **दक्षहस्ते** = ऊपरवाले दाहिने हाथ में, **अङ्कुशम्** = अंकुश नामक आयुध, **(अर्पयामि)** = अर्पण करता हूँ ॥१२-१५॥

जगन्मातः = हे जगज्जननि !, **तथा** = उसी प्रकार, **अन्यस्मिन्** = दूसरे, **वामहस्ते** = बायें हाथ में, **पुण्ड्रेक्षुचापकम्** = पके हुए पीले इक्षुदण्ड (ईख) का धनुष, **च** = और, **वाणान्** = वाणसमुदाय, **दक्षाधः** = नीचे के दाहिने, **पाणौ** = हाथ में, **सुन्दरि** = हे मनोरमे !, **धारय** = धारण करो ॥१६॥

शिवे ! = हे शिव की अर्धाङ्गिनि ! **पादयोः** = दोनों पैरों में, माणिक्यपादुके = मणिमय एकजोड़ी पादुका (खड़ाऊँ), **अर्पयामि** = पहनने के लिए अर्पण करता हूँ। **परशिवे ! देवि** = हे परात्पर शिवे ! देवि !, **मुदा** = प्रसन्नता पूर्वक, **आरोहावृत्तिदेवीमिश्रकम्** = यथा योग्य स्थान में, **(धारय)** = धारण करो ॥१७॥

त्रिपुरसुन्दरि = हे भगवति त्रिपुरसुन्दरि !, **अत्र** = यहाँ, इस मानसपूजन के अवसर पर, **समानवेशभूषाभिः** = समानवेशभूषा के, **साकम्** = साथ, **कामेशवामांकपर्यङ्कोपरिनिवेशनीम्** = भगवान् कामेश (शिव) के वामभाग में पर्यङ्क (पलंग) के ऊपर शयन करनेवाली, **अमृतासवपानेन** = अमृतरूपी मद्य के पान करने से, **मुदिताम्** = प्रसन्नता को प्राप्त, **त्वाम्** = तुमको, **सदा** = नित्य, **भजे** = मैं सेवा-पूजा-ध्यान करता हूँ, **पुनः** = फिर, **शुद्धगाङ्गतोयेन** = शुद्ध गंगा के जल से, **आचमनम्** = आचमन, **कुरु** = करो ॥१८-१९॥

भक्तिमत्कल्पलताकेतां, कृती स्यां त्वां स्मरन् कदा ।।२०।।
मङ्गलारार्तिकं छत्रं, चामरं दर्पणं तथा ।
तालवृन्तं गन्धपुष्पधूपदीपांश्च तेऽर्पये ।।२१।।
श्रीकामेश्वरि तप्तहाटककृतैः स्थालीसहस्त्रैर्भृतिं
दिव्यान्नं घृतसूपशाकभरितं चित्रान्नभेदैर्युतम् ।
दुग्धान्नं मधुशर्करादधियुतं माणिक्यपात्रार्पितम्
माषापूपकपूरिकादिसहितं नैवेद्यमम्बार्पये ।।२२।।
साग्रविंशतिपद्योक्तचतुष्षष्ठ्युपचारतः ।
हृन्मध्यनिलया माता ललिता परितुष्यतु ।।२३।।

।। इति श्रीमच्छक्तियामलोक्तं मानसपूजनम् ।।

अम्ब = हे माँ !, **ततः** = अब, **आस्ये** = मुख में, **कर्पूरवीटिकाम्** = कर्पूरादि से निर्मित पान की वीटिका (बीड़ा) को, **विनिवेशय** = मुख में डालो अर्थात् खा लो, आनन्दोल्लासहासेन = फिर आनन्द के उल्लास से वर्धित हास-परिहास से, **मुखपङ्कजाम्** = मुखरूपी पंकज को, **विलसन्** = प्रफुल्लित करती हुई, **भक्तिमत्कल्पलताकेताम्** = मैं भक्तिरूपीकल्पलता से परिवेष्टित, **त्वाम्** = तुमको, **स्मरन्** = स्मरण करता हुआ मैं, **कृती** = कृतिवान् **कदा** = कब, **स्याम्** = होऊँगा? यह कृपा कर मुझे बताओ ॥२०॥

मङ्गलारार्तिकम् = मंगल आरार्ति, **छत्रम्** = छत्र, **चामरम्** = चामर, **तथा** = तथा, **दर्पणम्** = दर्पण (ऐनक), **तालवृन्तम्** = ताड़ के पत्तों से बने हाथ पंखा, **गन्धपुष्पधूपदीपान् च** = एवं गन्ध-पुष्पधूप-दीपादिकों को, **ते** = तुम्हारे लिए, **अर्पये** = मैं अर्पितकर रहा हूँ ॥२१॥

कामेश्वरि = त्रिपुरे ! मैं, **तप्तहाटककृतैः** = तपे हुए सुवर्ण के समान, **स्थालीसहस्त्रैः** = सहस्त्रों थालियों में, **भृतिम्** = भरे हुए, **दिव्यान्नम्** = उत्कृष्ट अन्न, **घृतसूपसाकभरितम्** = जो घृत से परिपूर्ण एवं सूप (दाल), शाक (सब्जी), से भरा हुआ है, **विचित्रान्नभेदैः** = तथा जो विविध प्रकार के अन्नों से, **युतम्** = युक्त है, **दुग्धान्नम्** = एवं दुग्ध में मिले हुए अन्न, **मधुशर्करादधियुतम्** = जो मधु-शकरा और दही से युक्त है, **माणिक्यपात्रार्पितम्** = तथा माणिक से निर्मित पात्र में परोसा गया है, **माषापूपकपूरिकादिसहितम्** = माष से निर्मित पुए पकवान, पूड़ी आदि के साथ, **नैवेद्यम्** = नैवेद्य, **अर्पये** = अर्पित कर रहा हूँ, कृपया इसका भोग करें ॥२२॥

साग्रविंशतिपद्योक्तम् = इस बीस संख्या से भी अधिक श्लोकों द्वारा कहे गये मानस पूजन स्तुति अर्थात् तेईस श्लोकों में वर्णित स्तुति, **चतुष्षष्ठ्युपचारतः** = जिसमें मानसिक चौंसठ उपचार की विधि कही गयी है, **हृन्मध्यनिलया** = हृत्कमल में निवास करनेवाली, **ललिता माता** = माता ललिता देवी, **परितुष्यतु** = प्रसन्न होवें ॥२३॥

॥ इति श्रीमच्छक्तियामलोक्त मानस पूजन समाप्त ॥

॥ श्रीकुण्डलिनी स्तुतिः ॥

हंसं नित्यमनन्तमद्वयगुणं स्वाधारतो निर्गता ।।१।।
शक्तिः कुण्डलिनीसमस्तजननी हस्ते गृहीत्वा तमः
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूयस्वयं
यान्ती स्वाश्रयमर्ककोटिरुचिराध्येया जगन्मोहिनी ।।२।।
अव्यक्तं परविम्बमंचितरूचिं नीत्वा शिवस्यालयं,
शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतकन्दगं पुरमिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभं
संवीक्ष्य स्वगृहं गता भगवती ध्येयानवद्या गुणैः ।।३।।
मध्ये वर्त्मसमीरणद्वयमिथस्संघट्टसंक्षोभजं,
शब्दस्तोममतीत्य तेजसि तडित्कोटिप्रभाभास्वराम् ।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजवासिन्दूरसान्द्रारुणां,
सान्द्रानन्दसुधामयीं परशिवं प्राप्तां परां देवताम् ।।४।।

व्याख्या—यहाँ पर अब कुण्डलिनी शक्ति की स्तुति जो शारदा तिलकोक्त है, को प्रस्तुत किया जा रहा है—हंस-नित्य-अनन्त-अद्वय गुण को धारण करनेवाली, स्वाधारचक्र से निर्गमन करनेवाली, कुण्डलिनी शक्ति स्वरूपा, समस्त भुवन की जननी, हाथ में तम (अज्ञान या तमोगुण) को पकड़कर भगवान् शम्भु के गृह को प्रस्थान करनेवाली, परम सुख के अनुभव को स्वयं अनुभव (स्वात्मानुरूपेण) करके, अपने आश्रय ब्रह्म (शिव) की ओर जाती हुई, कोटि सूर्य के समान प्रकाशपुञ्ज स्वरूपा जगन्मोहिनी भगवती ध्येय (ध्यान करने योग्य) हैं। अर्थात् उनका मैं ध्यान करता हूँ ॥१-२॥

जो भगवती अव्यक्त परविम्ब (चित् स्वरूप-ब्रह्म) से प्रतिविम्बित होकर शोभा पा रही हैं और जो कुण्डलिनी शक्ति शिव के आलय (निवास) को पहुँचकर तथा वहाँ पर वह विद्युल्लता की आभा से युक्त त्रिगुणा आनन्दामृत कन्द स्वरूप कोटि चन्द्र-सूर्य के प्रभावाला यह पुर हैं ऐसी संवीक्षा करके अपना घर समझ उसमें प्रवेश करती है, ऐसी अपने गुणों से अनघा (निष्पापा) भगवती मेरा ध्येय है। अर्थात् मैं उनका ध्यान करता हूँ ॥३॥

जो भगवती अपने अधिष्ठान स्वरूप पति के घर जाती हुई मार्ग के मध्य स्वासद्वय (श्वासोच्छ्वास) के फेकने के कारण आपस में दोनों के संघटन के कारण संक्षोभ से उत्पन्न शब्द समूह में कुछ काल रूककर तेज में प्रविष्ट हो कोटि विद्युत् प्रभा के समान रक्तसिन्दूराभरण से लिप्त रक्तवर्णा है ऐसी आनन्दसुधामयी परशिव को प्राप्त भगवती कुण्डलिनी शक्ति की मैं उपासना करता हूँ ॥४॥

गमनागमनेषु जा(ला)ङ्घ्रिकी सा तनुयाद्योगफलानि कुण्डली,
मुदिताकुलकामधेनुरेषा भजतां काङ्क्षित (वाञ्छित) कल्पवल्लरी ।।५।।

हृत्पङ्केरुहभानुविम्बनिलयां विद्युल्लतामन्थरां,
बालार्कारुणतेजसा भगवतीं निर्भर्त्सयन्तीं तमः ।
नादाख्यां परमर्धचन्द्रकुटिलां संविन्मयीं शास्वतीं
यान्तीमक्षररूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद्विभुं तेजसाम् ।।६।।

भाले पूर्णनिशापति (कर) प्रतिभटां नीहारहारत्विषा,
सिञ्चन्तीममृतेन देवममितेनानन्दयन्तीं तनुम् ।
वर्णानां जननीं तदीयवपुषा संव्याप्य विश्वं स्थितां,
ध्यायेत्सम्यगनाकुलेन मनसा संविन्मयीमम्बिकाम् ।।७।।

मूले भाले हृदि च विलसद्वर्णरूपा सवित्री-
पीनोतुङ्गस्तनभरतम (लस)न्मध्यदेशा महेशी ।

वह भगवती कुण्डलिनी अपने गमनागमन रूप कर्म समूह से योग के अनेक फल को प्रदान करनेवाली है, जो प्रसन्न होने पर कुलकामधेनु के समान-भक्तों को इच्छिफल देनेवाली है; ऐसी कलावल्लरी स्वरूपा देवी का मैं ध्यान करता हूँ ।।५।।

हृदयरूपी कमल में प्रतिविम्बित सूर्य के समान प्रकाशमान स्थान, जो विद्युत्लता से प्रतिस्पर्धा कर रही है तथा चेतन स्वरूप भगवान् शिव के बालार्क सूर्य की कान्ति से जो तम (अन्धकार-अज्ञान) को भर्त्सित करती हुई है, ऐसी नादब्रह्मरूपिणी परम ऋद्ध एवं कुटिल चन्द्रमा को धारण करनेवाली संविन्मयी शास्वती अक्षररूपिणी भगवती जो अधिष्ठान ब्रह्म शिव से सम्मिलन को जाती हुई है और जो तेज स्वरूपा है, का विमल बुद्धिजन योगी को ध्यान करना चाहिये ।।६।।

जो भगवती अपने ललाट पर पूर्णिमा के चन्द्रमा रूपी प्रतिभट के नीहार (ओस) के हार (माला) की प्रकाशरूपी अमृत से देव (शिव) को अभिसिञ्चत कर उनके आनन्द शरीर को और अधिकवर्धन कर रही हैं, वर्णों की जननी और वर्णरूपी शरीर से शिव (आनन्द ब्रह्म) को व्याप्त करके स्थित हो रही है, ऐसी सविन्मयी (ज्ञानमयी) अम्बिका का ध्यान योगीजन को अनाकुल (शान्त) मनसे करना चाहिये ।।७।।

मूलधार में, भाल (आज्ञाचक्र) में और हृत्कमल (विशुद्धि चक्र) में जो जननी विलास करती हैं और पीन (पीवर) एवं उन्नत स्तनों के भार से जिनका मध्यभाग (कमर) झुका हुआ है, जो महेशी

चक्रे चक्रे गलितसुधया सिक्तगात्री प्रकामं,
दद्यादाद्याश्रियमविकलां वाङ्मयी देवता नः ।।८।।
आधारबन्धप्रमुखक्रियाभिः समुस्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः ।
त्रिधामबीजं शिवमर्चयन्ती शिवाङ्गना वः शिवमातनोतु ।।९।।
निजभवननिवासादुच्चरन्ती विलासैः,
पथि-पथि कमलानां चारुहासं विधाय ।
तरुणतरणिकान्तिः कुण्डली देवता सा शिवसदनसुधाभिर्दीपयेदात्मतेजः ।।
सिन्दूरपुञ्जनिभमिन्दुकलावतंस, मानन्दपूर्णनयनत्रयशोभिवक्त्रम् ।
आपीनतुङ्गकुचनम्रमनङ्गतन्त्रं शम्भोः कलत्रममितां श्रियमातनोतु ।।११।।
वर्णैरर्णवषड्दिशारविकलाचक्षुर्विभक्तैः क्रमा-
दाद्यैःसादिभिरावृतान् सहयुतैः षट्चक्रमध्यानिमान् ।

एक चक्र से दूसरे चक्र में च्यवित सुधा के आधिक्य से जिनका शरीर सिक्त हो गया है, ऐसी वाङ्मयी अवद्या देवता अविच्छिन्न मनोवांछित श्री (लक्ष्मी) को हमें प्रदान करे ॥८॥

आधारबन्धरूपप्रमुख क्रियाओं के करने से गलित (निसृत) सुधाधाराओं से त्रिधाम के बीज स्वरूप भगवान् श्री शिव को अर्चन करती हुई भगवती शिवा हम लोगों का कल्याण करे ॥९॥

जो भगवती अपने निवास स्थान (भवन) से विलासपूर्ण उर्ध्वगमन करती हुई रास्ते के प्रति मार्ग में प्रतिष्ट होने पर मुखकमल से मनोहर अट्टहास करती है और उस समय जिनकी आभा तरुणतरणि (उदयकालीन सूर्य) के समान है, ऐसी वह भगवती शिवस्थानीय अमृतधारा से हमें आत्मतेज (आत्मप्रकाश) प्रदान करे ॥१०॥

सिन्दूरपुञ्ज के समान शरीर की आभा को धारण करनेवाली तथा चन्द्रकला के मुकुट से सुशोभित एवं तीनों नेत्र आनन्द से परिपूर्ण होने के कारण जो अत्यन्त शोभायुक्त है, जिनका पीवर और उन्नत कुचद्वय कामदेव का ज्ञापक है, ऐसी भगवान् शम्भु की कुलवधु असीम श्री का विस्तार (वर्धन) करें ॥११॥

अब अन्तर्मातृका क्रम से कुण्डलिनी देवी का ध्यान कहा जा रहा है—जो मूलाधार स्थानीय देवी अर्ण (चार समुद्र), वषड्, दिशा (दश), रवि (द्वादश), कला (षोडश), चक्षु (दो) से विभक्त (सकारादि ककारान्त) और आद्य (षोडश स्वर) एवं 'ह' 'क्ष' वर्ण युक्त अथवा विशुद्धिचक्र में अकारादिवर्णक्र से युक्त है अथवा विपरीत क्रमेण सकार का आद्यत्व ग्रहण करने

डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्दैवतैः-
भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चित्ते विधत्तां मुदम् ।।१२।।

आधाराद्गुणवृन्तशोभिततनुं लिङ्गत्रयं सत्त्वरं,
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मयघनानन्दप्रबोधोत्तरम् ।
संक्षुब्धध्रुवमण्डलामृतकरप्रस्यन्दमानामृत,
स्रोतः कन्दलिता(निभा) ममन्दतदिदाकारां शिवां भावयेत् ।।१३।।

मूलधारे त्रिकोणे तरुणतरणिभाभास्वरे विभ्रमन्तं,
कामं वालार्ककालानलजरठकुरङ्गाङ्कप्रभाभम् ।
विद्युन्मालासहस्रद्युतिरूचिः लसद्बन्धुजीवाभिरामं,
त्रैगुण्याक्रान्तविन्दुं जगदुदयलयैकान्तहेतु र्विचिन्त्यः ।।१४।।

तस्योर्ध्वं विस्फुरन्तीं स्फुटरुचिरतडित्पुञ्जभाभास्वराङ्गी,
मुद्गच्छन्ती सुषुम्नामनु सरिणशिखाभा ललाटेन्दुबिम्बम् ।

से सकार का आद्यत्व सिद्ध होता है, अतः उससे युक्त (द्विदल क्ष ह यहाँ प्रतिलोमार्थ ग्रहण है) और डाकिनी आदि के द्वारा आश्रित अर्थात् डाकिनी, शाकिनी, राकिनी, काकिनी और हाकिनी एवं ब्रह्मादि देवताओं से परिचित परदेवता तीनों लोकों के चित्त (अन्तःपुर) में आनन्द को प्रदान करे ।।१२।।

वह देवी आधार (चक्र) अर्थात् त्रिकोण कर्णिक वर्तुलाकार से सत्त्वरजतमगुणात्मक स्वरूप से शोभित विग्रहवती (शरीरवाली) शीघ्रगमनशील और विभिन्न कमलचक्रों को भेदती हुई ब्रह्मानन्दधन के प्रबोधन (जग जाने) के बाद संक्षुब्ध होकर ध्रुवमण्डलस्थित अमृत किरणों से पस्पन्दमान होकर और उस अमृत स्रोत से कन्दलित आनन्द विद्युत् का आकार धारण करती हुई जो कुण्डलिनी शक्ति शिवा है, उसकी भावना करनी चाहिये अर्थात् मैं भावना करता हूँ ।।१३।।

तरुणतरणि (उदयकालीनसूर्य) के आभा से भास्वर (देदीप्यमान) त्रिकोण मूलाधार में विशेषरूप से भ्रमण करनेवाली बालसूर्य एवं कालानल के जरठकुरङ्गाक के प्रभा के समान प्रभावाली, विद्युन्माला के सहस्रद्युति से प्रफुल्लित बन्धुजीव के तुल्य रमणीय, तीनों गुण से आक्रान्त, कामरूप विन्दु, जो जगत् के उदय (उत्पत्ति), लय (संहार) के एकान्त हेतु है, का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिये ।।१४।।

उसके (शिव के) ऊपर में स्फुरित होती हुई, मनोहर तडित् पुञ्ज के समान स्फुट आभा से भास्वर अङ्गवाली, शिव से मिलने को उद्यत् सुषुम्ना द्वार की सरणिशिखा की शोभावाली, ललाट पर चन्द्रबिम्ब धारण करनेवाली, चिन्मात्र स्वरूपा, सूक्ष्मदेहा, जगत् की उत्पत्ति करनेवाली,

चिन्मात्रां सूक्ष्मरूपां जगदुदयकरीं भावनामात्रगम्यां,
मूलं या सर्वधाम्नां स्फुरति निरूपमा हुंकृतोदञ्चितोरः ।।१५।।
नीता साशनकैरघोमुखसहस्रारुणाब्जोदरे,
श्च्योतत्पूर्णशशाङ्कविम्बमधुनः पीयूषधारास्रतीम् ।
रक्तां मन्त्रमयीं निपीय च सुधानिस्यन्दरूपा विशेद्,
भूयोऽप्यात्मनिकेतनं पुनरपि प्रोत्थाय पीत्वा विशेत् ।।१६।।
योऽभ्यस्यप्यनुदिनमेवात्मनोऽन्तर्बीजांशं दुरितजरापमृत्युरोगान् ।
जित्वासौ स्वयमिव मूर्तिमाननङ्गसंजीवेच्चिरमतिनीलकेशजालः ।।१७।।

(शारद तिलके)

वामः–

अस्नेमाः, अनेमाः, अनेद्यः, अनभिशस्ताः, उक्थ्यः,
सुनीथः, पाकः, वयुनमिति, दशप्रशस्य नामानि ।। (निरुक्ते)
प्रज्ञावन्ताः प्रशस्याः, (दुर्गाचार्यः)

भावनामात्रैकगम्या, सभी धामों का मूल, निरूपमा, अपने हुँकृति रूप स्फूतकार से वह सर्परूप को प्रकट करनेवाली है ।।१५।।

वह अधोमुखी अरुण सहस्रार कमल के मध्य में शनक वर्णों के द्वारा अथवा शनकादि योगियों के द्वारा प्राप्या है, अविद्यात्मक विघ्न को भक्षण करने के साथ ही जो अधोमुख अरुण सहस्रार कमलदल के स्थान को प्राप्त हुई है तथा जो पूर्णचन्द्र से च्यवित मधुर अमृतधारा को धारण की हुई, रक्तवर्णा, मन्त्राक्षरमयी, च्यवित (गलित) सुधा रज को पान कर कमल (सहस्रार) में प्रविष्ट होकर पुनः आत्मनिकेतन (शिवस्थान) को प्राप्त करती है और पुनः पुनः उठकर सुधारस का पान कर फिर सहस्रार (शिव मंदिर) में प्रवेश करती है ।।१६।।

जो साधक अनुदिन इस कुण्डलिनी का अभ्यास करता है और आत्मा के इस अन्तरबीजांश को धारण करता है उसकी जरा-अपमृत्यु आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। वह इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर स्वयं मूर्तिमान् अनङ्ग (कामदेव) हो जाता है और वह नीलकेश (कालाकेश) समूह को धारण कर चिरकाल तक जीवित रहता है ।।१७।।

व्याख्या–यहाँ पर 'वाम' शब्द के दश प्रशस्त नाम दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं— (१) अस्नेमा, (२) अनेमा, (३) अनेद्य, (४) अनभिशस्त, (५) उक्थ्य, (६) सुनीथ, (७) पाक, (८) वाम, (९) वयुन और (१०) प्रशस्य। ये 'वाम' शब्द के दशनाम निरुक्तकार ने लिखा है। (निरुक्त)

प्रशस्य का अर्थ प्रज्ञावान् होता है यह दुर्गाचार्य ने कहा है। (दुर्गाचार्य)

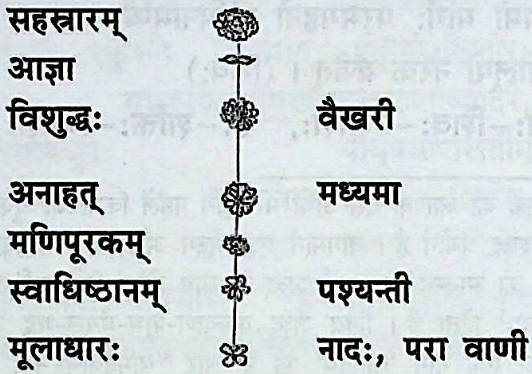
वामो मार्गः परमगहनो योमिनामप्यगम्यः ।
लोलुपो नरकं व्रजेत् । (शिव:)
अः—शिवः—प्रकाशः, हः—शक्तिः—विमर्शः ।

"वाम" शब्द का व्यापक दस अर्थों में प्रयोग पहले किया जा चुका है। उसी से सम्बद्ध एक "वाममार्ग" भी शब्द प्रयोग है। वाममार्ग एक सूक्ष्म और गहन साधना पद्धति से सम्बन्ध रखता है। 'वाम' शब्द का सम्बन्ध जब मार्ग शब्द के साथ होकर 'वाममार्ग' एकपद बनता है तो इसका अर्थ शिवमार्ग अर्थ होता है। शिव शब्द कल्याण-शुभ-मंगल-भद्र आदि वाचक है। इसलिए भगवान् शिव का एक नाम 'वामदेव' भी है और "वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः रुद्राय नमः कालाय नमः" इत्यादि श्रुति (वेद) मन्त्र के द्वारा उनकी आराधना भी प्रशस्त है। अतः साधना के नाम पर वाममार्ग में साम्प्रत् प्रचलित मद्य-मांसादि सेवन स्वेच्छाचारिता ही कहा जा सकता है। इसलिये भगवान शिव ने कहा—"वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" अर्थात् वामार्ग परम गहन विषय है और योगियों के लिए भी दुर्गम्य (समझना कठिन) है। तात्पर्य यह है कि जब योगियों के लिए भी वाममार्ग के गूढ़ रहस्य को समझना कठिन है और वह भगवान् वामदेव (शिव) मंगलकारी स्वरूपवाले हैं तो वाममार्ग में अमंगल कृत्य का आचरण तो साघना में साधक न होकर बाधक ही सिद्ध होगा। यह विषय गम्भीर होने के कारण साधकों-तपस्वियों-भक्तों तन्त्रागम शास्त्र-वेत्ताओं के लिये वर्तमान में पुनः विचारणीय विन्दु है; और इसका निषेध होना चाहिये। ताकि बहिर्मुख-भ्रमित तथा कथित साधकों के लिए मार्गदर्शन प्रशस्त हो सके।

वर्णमाला का आदि वर्ण 'अ' शिव वाचक है और भगवान् शिव ज्ञानस्वरूप होने के कारण सर्वप्रकाशक हैं। जगत् के सम्पूर्ण विषयवस्तु का प्रकाशक ज्ञान ही है, श्रुति कहती है।। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" अर्थात् वह ब्रह्म-परमात्मा सत्य-ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। वर्णमाला के 'ह' वर्ण शक्ति का वाचक है; जिसका स्वरूप विमर्श करना है। अर्थात् ब्रह्मवाचक अक्षर शब्द का जो आदि 'अ' वर्ण है वह शिव है और वह ज्ञान विज्ञान स्वरूप है, इसका विमर्श करना ही वर्णमाला निर्माण का वैज्ञानिक रहस्य है। शिव तत्त्व के वाचक 'अः' वर्ण को प्रकाश स्वरूप तथा शक्ति तत्त्व के वाचक 'हः' वर्ण को विमर्श स्वरूप कहा गया है। प्रकाश ज्ञान का बोधक है क्योंकि ज्ञान का शरीर प्रकाशमय-बोधमय है। तात्पर्य यह है कि जब शक्ति (प्रकृति) विमर्श स्वरूपा होगी तो शिव का अपरोक्ष ज्ञान सम्भव हो सकेगा। जब तक शक्ति विमर्शरूपा नहीं है तब तक शिव तत्त्व अपरोक्ष ही है ऐसा जानना चाहिये।

अतः कहा है कि—

अकारः सर्ववर्णाद्यः, प्रकाशः परमः शिवः ।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो, विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ।।
उभयोः सामरस्यं तु, परस्मिन् महसि स्फुटम् । (संकेतपद्धतौ)



मूलधारमन्तःस्थानं, स्वाधिस्थानं तु तेजसः।
मणिपूरमयां स्थानं, वायोः स्थानमनाहतम्॥
विशुद्धं नभसःस्थान, माज्ञाचक्रं तु मानसम्।
(श्रीविद्यार्णव तन्त्र ४-११, १२)

व्याख्या—यहाँ श्री विद्यार्णवतन्त्रोक्त चक्र का विवेचन किया जा रहा है। प्रथम अधोभाग में स्थित मूलाधारचक्र को जानें—

१. मूलाधारचक्र

यह चक्र मानव के गुदास्थान से दो अंगुल ऊपर और लिङ्गस्थान से दो अंगुल नीचे स्थित है। यह त्रिरावृत्त (तीन नाड़ियों की रेखा से घिरा हुआ) भगमण्डलाकार है। यहाँ पर मूलकन्द है जिसमें पावकाकार (अग्नि के लौ के समान) शक्ति का स्थान है तथा यहीं पर कामपीठ है। यहाँ इस चक्र की उपासना सिद्ध होने पर साधक की सम्पूर्णकामना सफल हो जाती है। क्योंकि यह कामपीठ सर्वकामप्रद है। इस आधारचक्र में ब्रह्मचक्र भी है। इसलिये कहा हैं—**"आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावृत्तं भगमण्डलाकारम्। तत्र मूलकन्दे व्यक्तिं पावकाकारं ध्यायेत्। तत्रैव कामपीठम्। सर्वकामप्रदं भवति। (सौभाग्यलक्ष्युपनिषद)** इस चक्र के स्वरूप को अन्य तन्त्रमत में त्रिकोण, कहीं त्रिदलकमल के आकार का कहा गया है। कहीं तो इसे चतुर्दलात्मकपद्मचक्र चतुष्कोण स्वरूप बताया है और यहाँ ब्रह्मदेव (ब्रह्मा) को चक्राधिपति के रूप में ध्येय वस्तु बताया है। आधारचक्र (मूलाधार) में स्वयम्भूनामक ज्योतिर्मय लिङ्ग है। लिङ्ग शिव के स्वरूप को कहते है। अतः लिङ्गपुराणान्तर्गत लिङ्ग को यहाँ कहा जा रहा है—

अलिङ्गो लिङ्गमूलं तु, अव्यक्तं लिङ्गमुच्यते।
अलिङ्गशिव इत्युक्तो, लिङ्गं शैवमिति स्मृतम्॥

प्रधानं प्रकृतिश्चेति, यदाहुर्लिङ्गमुत्तमम्।
गन्धवर्णरसैर्हीनं, शब्दस्पर्शादिवर्जितम्।।२।।

अर्थ है—अलिङ्ग (सूक्ष्म तत्त्व) ही लिङ्ग (स्थूल पदार्थ) अर्थात् मूर्ति का मूल (कारण) है; जो अव्यक्त स्वरूप अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष रहित है। वही इद्रियातीत तत्त्व लिङ्ग शब्द का वाच्यार्थ है। अतः अलिङ्ग (इन्द्रियातीत तत्त्व) ही शिव है; जिसे शैव (शिवोपासक) लिङ्ग स्वरूप से स्मरण (उपासना) करते हैं। प्रधान (मूल प्रकृति) भी लिङ्ग वाच्यार्थ है जिसे उत्तम लिङ्ग माना गया है। वह प्रधान प्रकृतिमय लिङ्ग गन्ध (घ्राण का विषय) वर्ण (नेत्र का विषय) शब्द (वाणी का विषय) स्पर्श (त्वचा का विषय) से विवर्जित अर्थात् रहित है। इसलिए इन्द्रियातीत है। योगी लोग इसको ही नाद अर्थात् परावाणीरूप से उपासना करते हैं। मूलाधारचक्र ही, परावाणी (नाद) का आश्रयभूत है। इस चतुर्दलात्मक चक्र में पूर्वादिक्रम से वं शं षं सं ये चार वर्ण न्यसित है। यह तेज तत्त्वमय है।

२. स्वाधिष्ठानचक्र

स्वाधिष्ठानचक्र नाभिस्थान से नीचे और शरीर स्थित लिङ्गस्थान से ऊपर है। यह षड्दलपद्मात्मक चक्र है, जिसे उड्यानपीठ कहा जाता है। अन्य तन्त्रादिमत में इसे शरीर के लिङ्गस्थान के मूल में षड्दल पद्मात्मक कहा है। यह पद्मचक्र बं भं मं यं रं लं इन वर्णों से युक्त है और बालादित्य (उदयकालीन सूर्य) के प्रभा के समान वर्ण (रंग) का है। यहाँ इसे प्रवालाङ्कुर सन्निभ अर्थात् प्रवाल में उपस्थित प्रभालता के सदृश कहा गया है। इस चक्र में पश्चिमाभिमुख लिङ्ग (मुर्ति) श्री विष्णु देवता की उपासना की जाती है। इसकी उपासना का फल–जरा, व्याधि और मृत्यु से मुक्ति, शरीरकान्तिमय, अश्रुतशास्त्रज्ञान प्राप्ति, अनङ्गसदृश योगीत्व तथा जल में अव्याहतगति प्राप्ति आदि कहा गया है। यहीं पश्यन्ती वाणी का उदय होता है।

३. मणिपूरकचक्र

यह पञ्चावर्त चक्र नीलाञ्जन के समान वर्ण का कहा गया है और इसे दशदलपद्मात्मक डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं वर्णों से युत् रुद्रात्मक कहा है। यहाँ प्रकृत प्रसंग में वायुतत्त्वमय कुण्डलिनी का स्थान कहा है। जो बालार्ककोटि प्रभा सदृश एवं सर्वशक्ति सम्पन्न रुद्र देवताख्य है। यहाँ पर उपासना से सर्वसिद्धि प्राप्ति अर्थात् वश्य, आकर्षण, निर्विषीकरण, तिरस्करिणी विद्या में सिद्धि, मृतशरीर के उत्थापन और उसमें प्रवेश का सामर्थ्य तथा पातालादि प्रवेश सामर्थ्य प्राप्त होता है।

४. अनाहतचक्र

यह चक्र हृदयस्थान में अष्टदलात्मक अधोमुखपद्म सदृश है। यहाँ ज्योतिस्वरूप लिङ्ग की उपासना विहित की गयी है और इसे ही हंस कला की संज्ञा दी गयी है। यहाँ की उपासना से साधक सबके प्रिय और सम्पूर्ण जगत् साधकप्रिय हो जाता है। तन्त्रान्तर में इसे इन्द्रगोपकीटप्रभ रक्तवर्ण ईश्वर देवताक, कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं इन द्वादशवर्णों से युत् कहा है। यहीं पर वाणाख्य लिङ्ग की उपस्थिति भी स्वीकृत किया गया है। इसके सेवन से त्रिकालज्ञता, दूरदेश

में उच्चरित शब्द श्रवण शक्ति सम्पन्नता, योगियों और सिद्धों के साथ सम्मिलन सामर्थ्य प्राप्त होता है। प्रकृत स्थल अनाहतचक्र मध्यमावाणी का उद्गम स्थान है।

५. विशुद्धिचक्र

यह चक्र कण्ठस्थानीय चतुरङ्गुल (चार अंगुली) है। इसके वामभाग में इडा (चन्द्र) नाड़ी तथा दक्षिण-भाग में पिङ्गला (सूर्य) नाड़ी है एवं मध्य में श्वेतवर्णा सुषुम्ना नाड़ी है। इसका तत्त्व आकाश है। तन्त्रान्तर में इसका वर्ण धूम्राभ (धूमवर्ण के समान) वर्ण, हं बीज से शोभित, कलिकाकार, सदाशिव देवताक और अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, ॡं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः वर्णों से युत् कहा है। यहाँ उपासना करने से त्रिकालदर्शिता, रोगराहित्य, सदा युवावस्था, सर्वदाकृष्णकेश, वीतमृत्यु की प्राप्ति होती है। इसके अभ्यासी चिरंजीवी होते हैं और इनके क्रोध करने की दशा में सम्पूर्ण पृथिवी दोलायमान हो जाती है तथा उन्हें शमन करने का सामर्थ ब्रह्मादि देवों में भी नहीं होता। यह वैश्वरी वाणी का उद्गमस्थान है।

६. आज्ञाचक्र

यह ब्रह्मरन्ध्र स्थानीय है। इसे निर्माणचक्र भी कहते हैं। यह धूम्रशिखाकारवर्ण का है। तन्त्रान्तर में इसे भ्रूमध्यस्थानीय शारदीयकमलसंकाश, प्रणवबीजयुत्, मन के वासस्थान तथा हकार से युत् अर्धनारीश्वर देवताक कहा गया है। इसमें अभ्यासी योगी पूर्व जन्म में कृत कर्म को जानता है। उसे दूरदेश में स्थित वस्तु का दर्शन और परोक्ष शब्द श्रवणशक्ति सम्पन्नता प्राप्त हो जाती है और शरीरत्यागान्तर मोक्ष का भागी होता है।

७. सहस्रार (सहस्रदलकमल) चक्र

यह चक्र शरीर में शीर्षस्थानी है। मस्तक के ऊपरी भाग में सहस्रदलकमलचक्र में आत्म-परमात्म अभेदत्व अद्वैतवादियों का प्रयत्न सिद्ध वस्तु है और भेदवादियों के लिये तत्तत् उपास्य देवता के परमैश्वर्य सम्पन्न स्वरूप का अपरोक्ष दर्शनानुभव प्रयत्न सिद्ध वस्तु है। अतः यहाँ सहस्रार के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए संक्षेपतः क्रमबोधात्मक लेखन आवश्यक है—सुषुम्ना नाड़ी को उर्ध्वभाग में अधोमुख रक्तकिञ्जल (लाल रंग का पराग) से सुशोभित सहस्रदल कमलचक्र के समान कहा गया है। यहाँ अकरादिक्षान्त (अकारवर्ण से क्ष वर्ण तक) पञ्चाशत् (पचास) शुक्लवर्ण से सुशोभित विंशति (बीस) आवर्तन (घेरा) से आवृत तथा सहस्र संख्यात्मक कमलदल स्थित है, जिसकी कर्णिका (कान के आकार का पत्ता) पूर्वक्रम से (अक्षरादि क्रम से) स्थित है। यहाँ उपास्य ब्रह्म देवता चक्राधिपतिरूप से विराजते हैं। यहाँ स्वयम्भू नामक ज्योतिलिङ्ग की ज्योतिः सार्धत्रिवलाकृति (साढ़े तीन फेटा) से वेष्टित चपला (चंचल) चित्कला का चिन्तन करना चाहिये। उसका जागरण (बोधन) हंस मन्त्र अथवा हुँकार मन्त्र से यथा गुरूपदिष्ट मार्ग से करना चाहिये। "यतोऽविद्यया सा सुप्ता" अर्थात् क्योंकि वह अविद्या से अभिभूत होकर सुषुप्त अवस्था में होती है। चित्रान्तर्गत (चित्रा नामक नाड़ी के मध्य) बिसतन्तु के समानप्रभावाली का अभ्यास यहाँ किया

जाता है। मूहूर्तद्वय अभ्यास के बाद प्रकाशानुभूति होने के अनन्तर यहाँ सभी प्रकार की सिद्धियों का आविर्भाव हो जाता है। यथा–शरीर में दिव्यकान्ति का प्रकटीकरण, नाद की व्यक्ति (स्फुटीकरण), अग्नि की प्रदीप्ति, इन्द्रिय पाटव, नैरुज्य, दुःखराहित्य, अतीतानागत बोध, अश्रुत शास्त्रबोध, स्वेच्छाविहारित्व, स्तम्भक्षोभोदय आदि की उपलब्धि होती है। इसी क्रम से प्रत्येक चक्रानुक्रम से साधनान्तर और प्रत्येक चक्रसाधना से प्राप्त उपलब्धि के बाद सहस्रारचक्र के अन्तःप्रविष्टि होने पर सहस्रदलकमलचक्र के कर्णिका में हंस (उस मन्त्र के उपासना द्वारा) संसिद्धिकर परमशिव रूप परमगुरु उसके बाद क्रमशः सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल, महावायुमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र, महाशङ्खिनी, महाविद्युदाकार त्रिकोणमध्य मृणालतन्तुशतभागैकभागरूपा सूक्ष्मा अधोमुख चन्द्रकला, उसके क्रोध में केशाग्रसहस्र-भागैकभागरूपसूक्ष्मा अधोमुख रक्तवर्णा निर्माणकला, उसके अधोभाग में अव्यक्तनादात्मकनिबोधिका वह्निकला, उसके क्रोड (गोद) में परविन्दु शिवशक्त्यात्मक परमात्मा के केशाग्रकोटिभागैकभागरूप हंसरूपा तेजः निर्माणशक्ति के स्वरूप से स्थित है। इसमें हंस रूप जीव और विन्दु के मध्य शून्य ब्रह्मपद स्थित है, का आभ्यास द्वारा उपासना करके प्राप्तव्य है।

मतान्तर

सहस्रदलकमलकर्णिका के मध्य में स्थित चन्द्रमण्डलमध्य अकथादि त्रिकोण, उसके मध्य त्रिकोण के समीप में त्रिविन्दु, उसके अधोभाग में विन्दुयुत् पुरुषात्मक हकार, उर्ध्वविन्दुद्वयरूप विसर्ग प्रकृतिरूप सकार है। यहाँ उभयात्मक हंस विन्दुस्वरूप से प्रकाशित होते हैं। उसके मध्य अमाकला, उसके क्रोड में निर्वाणशक्ति, उसके मध्य में परब्रह्म की स्थिति है। कहा गया है कि—

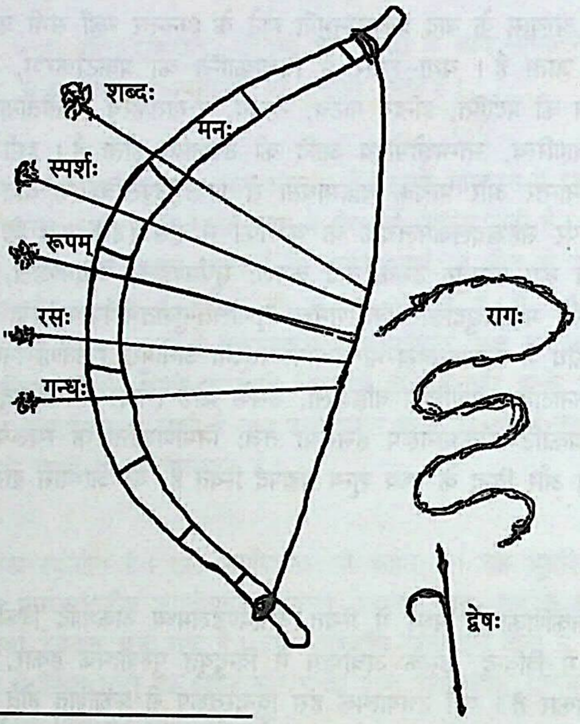
तेजोरूपा प्रिया तस्य ब्रह्मवर्त्मसुदुर्लभा।
परमं ब्रह्म यत्पादपङ्कजद्युतिवैभवम्।।
अमाषोडशभागेन देवि प्रोक्ता महाकला।
संस्थिता परमा माया देहिनां देहरूपिणी।।

अन्यत् उमानन्द का संक्षेप में कथन—

तन्मध्ये तु त्रिकोणं तु विद्युदाकारमुत्तमम्।
विन्दुद्वयं च तन्मध्ये विसर्गरूपमव्ययम्।।
तन्मध्ये शून्यदेशे च शिवः परमसंज्ञकः।

पूज्यपाद आचार्य भगवान् शंकराचार्य ने भी कहा है—"**परमशिवपर्यङ्कनिलयाम्**" अर्थात् परमशिव के पर्यङ्क पर निवास करनेवाली वह परमाशक्ति है।

(श्री विद्यार्णवतन्त्र ४/११,१२)



व्याख्या–ऊपर दिये गये कामदेव के पञ्चवाण प्रतीक चित्राङ्कन के माध्यम से महत्त्वपूर्ण उपदेश व्यक्त किया जा रहा है। मनरूपी धनुष पर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दरूपी वाणों को राग रूपी रस्सी (प्रत्यञ्चा) पर सन्धान कर अभीष्ट विषयरूपी लक्ष्य (शिकार) को वेधने का प्रयत्न करते रहता है ताकि वह अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करके सुख का अनुभव कर सके। इसी प्रकार मछलिया वंशी में लगे (गूथे) माँस पर, हस्ति मदोन्मत्त अवस्था में हस्तिनी से संग की इच्छा पर, पतङ्ग दीपज्योति की ललित दर्शन पर और मृग मरुमरीचिका स्थल पर, इसी संधानित धनुष का आश्रित होता है। परिणाम सब जानते हैं कि मत्स, हस्ति, पतङ्ग और मृग विषयाभिभूत होकर प्राण त्याग देता है और अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है। उसी प्रकार जीवात्मा विषयासक्त होकर अपने अस्तित्व को मिटाने के लिए स्वयं प्रयत्न करते रहते हैं। किसी भी जागतिक वस्तु में राग होना ही जीव का बन्धन प्राप्त होना है। क्योंकि राग ही पाश है। रागग्रस्त व्यक्ति को जब अभीष्ट वस्तु प्राप्त नहीं होता तो फिर वियोग (अप्राप्ति) रूप शूल हृदय में चुभते रहता है और वही अनन्त दुःख सम्प्रदाय उद्गम का कारण वन जाता है। श्रीमद्भगवत् गीता में कहा है कि—

आशापाशशतैर्बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थ, मन्यायेनार्थसञ्चयान् ।। (गी. १६/१२)

अर्थात् वह अज्ञानी जीवात्मा आशा की सैकड़ों फासियों से बाँधे जाकर काम-क्रोध के परायण होकर विषयों के अनन्तभोगों की इच्छापूर्ति के लिये अन्याय पूर्वक धन का सञ्चय करते रहता है। और वह कामी जीवात्मा अज्ञान की तमोमयी अन्धपथ पर निरन्तर चलता हुआ अनन्त भोग वस्तुओं के नित्य चिन्तन करने से विभ्रान्त चित्त हो जाता है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता, मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु, पतन्ति नरकेऽशुचौ ।। (गी. १६/१६)

वह अनेक विषयों में आसक्त-अज्ञानी जीवात्मा विषयभोगचिन्तनपरम्परा के अभ्यास में डूबे हुए भ्रमित चित्त हो मोहरूपी जाल में फँसा हुआ तथा काम-भोग में प्रसक्त होने के कारण आसुरभाव को प्राप्त हो जाता है और महान् अपवित्र अन्धतम रौरवादि नरक में गिरता है। इस प्रकार वह जन्म-जन्मान्तर में भी उसी आसुर योनिपरम्परा में बना रहकर अधम से अधम गति को पाते रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना, मूढ़ा जन्मनि-जन्मनि ।
माम प्राप्यैव कौन्तेय, ततो यान्त्यधमां गतिम् ।। (गी. १६/२०)

हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझ परमात्मा को प्राप्त नहीं होता; इसलिए जन्म-दर जन्म असुर (निकृष्ट-अधम) योनियों में बारम्बार जन्म ले लेकर असीमित-अनन्त दुःखभोग को प्राप्त होते रहता है और अति से भी अति नीच गति को प्राप्त करता है अर्थात् घोर नरक यातना का अधिकारी होता है। इसलिए कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गः तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः, कामात्क्रोधोभिजायते ।।
क्रोधात्भवति सम्मोहः, सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। (गीता २/६२)

हे अर्जुन! जीवात्मा जब विषय का ध्यान करता है तो उससे सङ्ग (संयोग) का उदय होता है, संगोदय से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह; सम्मोह से स्मृति का विभ्रम, स्मृतिविभ्रम से अर्थात् स्मृति के भ्रष्ट होने से बुद्धिनाश (भ्रष्ट) और बुद्धिनाश से जीवात्मा मानव का विनाश हो जाता है। इसलिए कहा है—

सुखमिच्छसि चेत्तात, विषयान्विषवत् त्यज ।
क्षमार्जवं दया शौचं, सत्यं पियूषवत्पिव ।।(अष्टावक्र गीता)

नीतिज्ञ महात्मा अष्टावक्र जी का यह डिम-डिम घोष कि—हे आदरणीय बन्धुओं यदि आप सुख के लाभार्थी हैं, हृदय से सुख की इच्छा करते हैं, सुख की खोज में लगे हो तो यह जान लो कि इन इन्द्रियों के जो विषय है उसे विष समझकर त्याग दो और क्षमा-आर्जव-दया-शौच तथा सत्य को अमृत जानकर पी जाओ। क्योंकि—

अरुणां करुणातरंगिताक्षीं धृतपाशाङ्कुशपुष्पवाणचापम् ।
अणिमादिभिरावृतां मयूखैरहमित्येव भावये[1] भवानीम् ।।

(श्रीतन्त्रराजे)



धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी, शान्तिः चिरं गेहिणी ।
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी, भ्राता मनःसंयमः ।।
शैय्या भूमितलं दिशोपवसनं, ज्ञानामृतं भोजनम् ।
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे, कस्माद्भयं योगिनः ।।

जिसने धैर्य को पिता, क्षमा को माता, शान्ति को पाणिगृहिता पत्नी, सत्य को मित्र, दया को भगिनी (बहन), मन के संयम को भ्राता रूप से स्वीकार कर उसे परिवार बनाया है तथा सोने बैठने के लिये भूमि को ही शय्या स्वीकार कर लिया, दिशाएँ ही जिनके वस्त्र हैं एवं जो ज्ञानरूपी अमृत को ही भोजन मानता और उसी से तृप्त होता है, ऐसे जिनके कुटुम्बजन (पारिवारिकजन) हैं, हे सखे ! बताओं इस प्रकार के योगियों को इस संसार में किससे भय होगा ? किसी से नहीं। जीवात्मा तो निर्भय तभी होगा जब सम्पूर्ण वासनाओं को समूल त्यागेगा और समस्त जगत् को परमात्म दृष्टि से देखकर स्वात्मरूप से अनुभव करेगा तथा उससे उसी रूप में व्यवहार भी करेगा। क्योंकि भय तो द्वैत (दो) में होता है अद्वैत में नहीं।

व्याख्या—उपर्युक्त प्रतीकचित्राङ्कन का अङ्कन इस अभिप्राय से किया गया है कि भगवती भवानी के तटस्थलक्षण के माध्यम से स्वरूपलक्षण का बोध सम्भव हो सके। यहाँ देवी भवानी के ध्यान का श्लोक श्री तन्त्रराज से उधृत है। मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गा सप्तसती ग्रन्थ

[1] गीता प्रेस दुर्गासप्तशती में "भावये" के जगह विभावये पाठान्तर है ।

(गीताप्रेस) में "धृतपाशाङ्कुशचाप हस्ताम्" पाठ छपा है परन्तु पाठान्तर से अर्थभेद में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इसका अर्थ है—मैं भगवती भवानी का ध्यान करता हूँ। जो भगवती भवानी अणिमा आदि सिद्धिमयी किरणों के प्रकाश से आवृत हैं। उनके शरीर का वर्ण लाल है। उनके नेत्रों में करुणा की तरङ्ग हिलोरें ले रही है तथा उनके हाथों में क्रमशः पाश, अङ्कुश, पुष्पवाण और धनुष शोभा पा रहे हैं। भवानी को भगवान् शिव की आदि शक्ति और महामाया कहा जाता है। भवनी उनका नाम इसलिये है कि वह इस भव अर्थात् संसार का सृजन करती है। भवानी शब्द की तदर्थ व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ है—भवं संसारम् आनयति सृजति या सा भवानी। अर्थात् जगत्स्रष्ट्री को भवानी कहा गया है। मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि—

"त्वं स्वाहा त्वं स्वधा, त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका। सुधा त्वमक्षरे नित्ये, त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।। अर्धमात्रास्थिता नित्या, यानुच्चार्या विशेषतः। त्वमेव सन्ध्या सावित्री, त्वं देवी जननी परा।। त्वयैतद्धार्यते विश्वं, त्वयैतत्सृज्यते जगत्। त्वयैतत्पाल्यते देवि, त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।। विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं, स्थितिरूपा च पालने। तथा संहृति रूपान्ते, जगतोऽस्य जगन्मये।।

अर्थात् स्वाहा देवहविर्दानमन्त्र है और उस मन्त्र की अभिमानिनी देवी स्वाहा है अथवा वह्नि की पत्नी का स्वाहा नाम है। स्वधा पितृहविर्दान मन्त्र की अभिमानिनी देवी अथवा पितृपत्नी का नाम है। वषट्कार देवविशेषहविर्दान मन्त्र है, क्योंकि "वषडिन्द्रायेति मन्त्रलिङ्गात्" यज्ञादि प्रयोग में "इन्द्राय वषट्" ऐसा ही प्रयोग देखा जाता है। अतः हे देवि! तुम उपर्युक्त स्वरूपा हो। देवि! तुम उदात्तादि स्वरस्वरूपा हो, सुधा (सुष्ठु दधाति पुष्णाति शरीरमिति सुधा) हो, अमरकोषान्तरर्गत– "पीयूषममृतं सुधा" पियूष, अमृत और सुधा पर्याय है। देवि! तुम अक्षर अर्थात् "अक्षरनिर्माणे वर्णमपि अक्षरं विदुः। अक्षरन्नक्षरं विद्यादक्षरं श्रुतितो ययो" रिति कोशान्तरम्" अथवा "अश्नाति त्रीन् लोकान्भुक्ते भूतरूपत्वात् अक्षरा" तुम तीनों लोकों को भक्षण करती हो इसलिए तुम अक्षरा हो। अथवा तुम "अश्नुते व्याप्नोति विश्वात्मत्वादक्षरा" स्वात्मना विश्व को व्याप्त कर रखी हो इसलिये अक्षरा हो। उत्पत्ति और विनाश रहित होने के कारण नित्या अर्थात् नित्यस्वरूपा हो। इन सब कारणों से तुम सन्मात्रता प्राप्तकर त्रिधा मात्रिका स्वरूप से स्थित रहती हो। देवि! तुम अर्धमात्रा अर्थात् ककारादिव्यञ्जनरूपता का उपव्यञ्जक हो। इसलिये तुम नित्या अर्थात् अपरिणामिनी हो। विशेषतः मात्रात्रयवैलक्षण्यता के फलस्वरूप अनुच्चार्या अर्थात् वेदान्तवाक्यार्थलक्षणमुक्तिअभिमानिनी तुरीया नामक स्वरूप से स्थित जो अर्धमात्रा है वह तुम्ही हो। इसी तरह प्रणव वाचक 'ॐ' को अधिकृत्य (अधीन करके) भगवान् दत्तात्रय ने कहा है—**"अकारश्च तथोकारो, मकारश्चाक्षरत्रयम्। एता एव त्रयो मात्राः, सत्त्वराजसतामसाः।। निर्गुणा योगिगम्यान्या, चार्थमात्रा च संस्थिताः। गान्धारीति च सा ज्ञेया, गान्धरस्वरसंश्रया।। पिपीलिका गतिस्पर्शा, प्रयुक्ता मूर्ध्नि लक्ष्यते। मात्रा चार्धं तथा श्रोत्रा, विज्ञेया परमार्थतः।। व्यक्ता तु प्रथमा मात्रा, द्वितीया व्यक्तसंज्ञिता। मात्रा तृतीया चिच्छक्तिरर्धमात्रा परं पदम्।। ह्रस्वा तु प्रथमा मात्रा, द्वितीया दीर्घसञ्ज्ञिता। तृतीया तु प्लुतार्द्धास्था, वचसः सा न गोचरा इति।।**

तद्भूमिभाग्यमिहजन्मकिमप्यटव्यां,
यद्गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुद,
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ।। (श्रीमद्भागवत १०/१४/३४)

पूर्वोक्ता इत्थंभूता तुम 'अ', 'उ', 'म' वर्णस्वरूपा होने के कारण "त्रिधा मात्रात्मिका हो। विशेषतः तुम अनुच्चार्य शरीर (स्वरूप) होने के कारण इन्द्रियातीता हो। इसलिए श्रुति कहती है—**"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"** अर्थ है—क्योंकि वह वाणी मन के साथ होने पर भी उसे प्राप्त करने में असर्थ होकर लौट आती है इत्यादि। अतः हे देवि! तुम ही इस विश्व का धारण-सृजन और पालन करती हो तथा प्रलयावस्था के काल में सबको समाहृत कर अपने में लीन कर लेती हो। तुम सृष्टिकाल में सृष्टिरूपा, पालनकाल में स्थितिरूपा तथा अन्तकाल (प्रलयकाल) में संहृतिरूपा रूप से स्थित होती हो एवं सृजन करके उस जगत् में तन्मय स्वरूप से विराजती हो।

उस देवी भवानी की ऐश्वर्यशक्ति को सुस्पष्ट करने के लिए ही प्रतीक चित्र का उल्लेखन है। अष्टसिद्धियों में प्रथम अणिमा उनका दक्षजन्घा, गरिमा वामजन्घा, प्राप्ति दक्षजन्घा मूल, लघिमा वाम वामजंघा मूल, प्राकाम्य दक्ष अधोहस्तमूल, वशित्व वाम अधोहस्तमूल (वाँह), महित्व अंकुशयुत् दक्ष (दक्षिण) हाथ, इशित्व शिरोभागस्थान है। भगवती के हाथ में पुष्पवाण का अर्थ है कि—माया-मोह-रागदि जनित परिणाम की ओर इंगन (इशारा) है कि वे दुःख परिणामी हैं। उनका धनुष धारण भी विषपरिणामी कार्य का उपकरण ही है। यह भगवती का मायात्व स्वरूप है। इससे भिन्न उसकी परमात्मता भी साधकों के अज्ञान और तज्जनित दोष निवारण में शास्त्र प्रसिद्ध हेतु है। कहा गया है कि—**"नातः परतरं स्तोत्रं, किञ्चिदस्ति वरानने। भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं, पावकानां पावनम्।।"** (डामरतन्त्र) **सर्वाबाधाविनिमुक्तोधनधान्य सुतान्वितः। मनुष्यो मत्प्रसादेन भविष्यति न संशयः ।।** (मा.पु.दु.स. १२/१२) तथा च **"श्रुतं हरति पापानि तथारोग्यं प्रयच्छति"** (मा.पु.दु.स. १२/२१) **स्तुवन्तु परमां देवीं ब्रह्मविद्यां सनातनीम्। गूढाङ्गीं च महामायां सर्वकार्यार्थसाधनीम्।।** (दे.भा. ५/५०)

इस प्रकार देवी भवनी का ही–महामाया, ब्रह्मविद्या, परमेश्वरी, चित्कला आदि अनन्त नाम हैं।

व्याख्या–यत् = जो, **जीवितम्** = जीते जी (जीवितावस्था में), **निखिलम्** = विश्वरूप, **भगवान्** = भगवान्, **मुकुन्दस्य** = श्रीकृष्ण के, **पादरजः** = उस पादरज का दर्शन-स्पर्शन कर लिया, **यत्** = जिस पादरजः का, **अद्यापि** = आज तक, **श्रुतिमृग्यमेव** = वेद भगवान् दर्शनार्थ अन्वेषण करते रह गये हैं। **यद्** = जिसने, **गोकुलेऽपि** = गोकुल के, **अटव्याम्** = मार्ग में, **कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्** = श्रीकृष्ण के पदकमल से उड़ते हुए धूलि को मस्तक पर धारण किया, **इह** = इस जगत् में, **तद्जन्म** = उसका जन्म, **भूरिभाग्यम्** = अहोभाग्य के तुल्य अर्थात् सार्थक-सफल है। (श्रीमद्भागवत पु. १०/१४/३४)

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं,
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते,
माया त उद्यदपि यत् सदिवावभाति
(श्रीमद्भागवत १०/१४/२२)

नराज्जातानि तत्त्वानि, नाराणीति विदुर्बुधाः ।
तस्य तान्ययनं पूर्वं, तेन नारायणः स्मृतः ।।
(स्मृ. श्रीधरः)



(रामपटल)

तस्मात् = जगत् अनात्मवस्तु में आत्मवस्तु की आभास मात्र है इसलिए, **स्वप्नाभम्** = जिस तरह स्वप्न में, **अस्तधिषणम्** = मन के द्वारा कल्पित रथ-गजादि, राजा-रंक, परिजनादिमरणादि असत्कल्पन होता है और, **पुरुदुःखदुःखम्** = उसके दुःखाधिक्य से जीवात्मा दुःखी हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् स्वप्नदर्शनजन्य सुख-दुःखादिवत् असत् ही है। **नित्यसुखबोधतनावनन्ते** = उसी प्रकार नित्यसुखविग्रह स्वरूप हे अनन्त श्रीकृष्ण, **त्वयि** = तुझ में, **एव** = ही, **मायातः** = माया की सहायता से, **यत्** = जो, **उद्यदपि** = जो यह जगत् प्रपञ्च दृष्टिगोचर हो रहा है, **सदिव** = वह स्वप्न-कालीन सत्य के समान, **अवभाति** = दिखाई दे रहा है। जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये सम्पूर्ण सुख-दुःखात्मक दृश्य असत् होता है पर द्रष्टा-साक्षी मात्र सत् होता है, उसी प्रकार यह जगत् सम्पूर्णरूप से असत् ही है और आपके बोधमय शरीर में कल्पित है और माया जनित होने के कारण सत् प्रतीत होता है। (श्रीमद्भागवतपु० १०/१४/२२)

नरात् = परमात्मा से, **जातानि** = उत्पन्न, **तत्त्वानि** = तत्त्व को, **नाराणी** = नाराणी, **इति** = इस नाम से, **बुधाः** = ज्ञानीलोग, **विदुः** = कहते और जानते हैं। **तस्य** = उस परमात्मा भगवान् के, **पूर्वम्** = पूर्वकाल में, तानि = वे तत्त्व, **अयनम्** = निवास स्थान रहा है, **तेन** = इसीसे उस परमात्मा को, **नारायणः** = नारायण, **स्मृतः** = कहा जाता है। (स्मृ. श्रीधरः)

व्याख्या—आरती का मुख्य विधान है कि—सर्वप्रथम चरणों में चार वार, नाभि में दो वार और मुख में एक बार आरती करने के बाद फिर सम्पूर्ण अंगों की सात वार आरती करनी चाहिये।

सतां मतिमतिक्रम्य, योऽसतां वर्तते मते।
अचिरात्स च्युतः स्थानात्, पतति द्विषतां वशे।।१।।
(हँसादेश १९८)

परश्चेदेनमतिवादवाणै, र्भृशं भिध्द्येच्छम एवेह कार्यः।
संशष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः, स आदत्ते सुकृतं वै परस्य।।२।।
(हँसगीता)

इस तरह आरती की कुल भ्रमी (घुमाना) चौदह हो जाती है। चूँकि भगवान् की स्थिति चौदहों भुवनों के चराचर में व्याप्त है, इसलिए इस आरती की आवृत्ति संख्या भी चौदह ही कही गयी है। चरणों में चार आवृत्ति का तात्पर्य है कि परमात्मा के चार पाद हैं। एक पाद से जगत् की सृष्टि करते है और तीन पाद से स्वयं में स्थित रहते है। इसलिए श्रुति कहती है—"पादोऽस्य विश्वाभूता-नित्रिपादस्यामृतन्दिवि" ॥ अर्थात् इस परमब्रह्मपरमात्मा के एक पाद से सम्पूर्ण भूतों के सृजन हुए हैं और शेष तीन अमृत पाद से वे दिव्य लोक में निवास करते हैं। नाभि में दो वार से तात्पर्य है भगवान् योगमाया के साथ कुण्डलिनीस्थानीय नाभि में निवास करते हैं, इसलिए महामाया योगनिन्द्रारूपा भगवती (शक्ति) सहित उनकी आरती होती है। एक आवृत्ति से तात्पर्य है कि— नित्य-शुद्ध बुद्धमुक्तस्वभाव अद्वितीय स्वरूपलक्षण शुद्धब्रह्म एकमेव अद्वितीय तत्त्व हैं। इसलिए उनकी आरती एक आवृत्ति से करते हैं। क्योंकि "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" नेह नानास्ति किञ्चन" आदि श्रुति वाक्यों से परमात्मा का अद्वितीय स्वरूप का विनिश्चय हम करते हैं। अतः एक अद्वितीय स्वरूप होने के कारण मुख में एक आवृत्तिक आरती की जाती है। (राम पटल)

व्याख्या–यः = जो मनुष्य, **सताम्** = सज्जनों (साधुजनों) के, **मतिम्** = उपदेश (विचार) का, **अतिक्रम्य** = उल्लंघन करके, **असताम्** = दुर्जनों के, मते = विचार में, **वर्तते** = अपने को अवस्थित करता है अर्थात् उसके उपदेश को स्वीकार कर आचरण करता है, **सः** = वह, **अचिरात्** = शीघ्र ही, **स्थानात्** = अपने पवित्र स्थान (चरित्र) से, **च्युतः** = गिर कर, **द्विषताम्** = दुर्जनों (दुष्टों) के, **वशे** = अधीन में होने के कारण, **पतति** = नरक में गिरता है ॥१९८॥ (हंसादेश)

चेत् = यदि, **परः** = कोई दूसरे दुष्ट व्यक्ति, **एनम्** = इस सज्जन पुरुष को, **अतिवादवाणैः** = दूषित-वाक्वाणों से, **भृशम्** = अत्यन्त, **विद्ध्येत्** = वेध कर दुःखी करना चाहता है या करता है तो, **इह** = इस स्थिति में उस साधु पुरुष को, **शम्** = क्षमा, **एव** = ही, **कार्यः** = कर देनी चाहिये। **यः संशष्यमाणः** = जो लोग दूसरे को दुःखी जानकर, **प्रतिहृष्यते** = प्रसन्न होता है, **सः** = वह, **परस्य** = दुःखीजन को, **वै** = निश्चितरूप से, **सुकृतम्** = अपना पुण्य देकर, **आदत्ते** = उसका पाप ले लेता है ॥२॥ (हंस गीता)

योनात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा, यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तु, स्तस्येहदेवाः स्पृहन्ति नित्यम्।।३।।
पापीयसः क्षमतैव श्रयेसः सदृशस्य च।
विमानितो हतोत्क्रुब्ध एवं सिद्धिं गमिष्यति।।४।।
चत्वारि तस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित्।।५।।
सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं, घृतिं तितिक्षामतिसेवमानः।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा, मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत् सः।।६।।

यः = जो लोग, **रूक्षम्** = दुसरों के द्वारा कठोर नीरस, **वा** = अथवा, **प्रियम्** = मधुर चापलूसी वाली, **प्राह** = वाणी कहने पर, **अत्युक्त** = सत्य तथ्य से अधिक बोलता, **न** = नहीं है। **वा** = अथवा, **यः** = जो, **हतः** = मार खाने पर भी, **धैर्यात्** = धैर्य धारण करके, **न** = उसे नहीं, **प्रतिहन्ति** = मारता है: अर्थात् दूसरों के प्रहार करने पर भी स्वयं उसपर प्रहार नहीं करता, **च** = और, **यः** = जो, **तस्य** = उस, **हन्तुः** = मारने वाले (प्रहर्ता) द्वारा किये गये, **पापम्** = शापित करने को, **न** = नहीं, **इच्छति** = इच्छा करता, **तस्य** = ऐसे लोगों का ही, **इह** = इस जगत् में, **देवाः** = देवतागण, **नित्यम्** = नित्य (निरन्तर) **स्पृहयन्ति** = चाहना करते हैं अर्थात् उस पर प्रसन्न रहते हैं ।।३।। (हँस गीता)

पापीयसः = पापियों को, **क्षमता** = क्षमा करना, **एव** = ही, **श्रेयसः** = श्रेयमार्ग (निवृत्ति मार्ग) के प्रवृष्टि के, **सदृशस्य** = समान शम-दम-नियम-प्रत्याहारादि कर्म है। **एवं** = इस प्रकार श्रेयमार्ग का अभ्यास करते रहने से, **विमानितः** = अहंकार रहित होकर, **हतोत्क्रुब्धः** = क्रोध रहित होकर साधक, **सिद्धिम्** = सिद्धि को, **गमिष्यति** = प्राप्त करता है ।।४।।

व्याख्या—अमरोत्तमाः = हे देवश्रेष्ठ, **उपस्थम्** = जननेन्द्रिय, **उदरम्** = पेट, **हस्तौ** = दोनों हाथ, **चतुर्थी** = और चौथी, **वाक्** = वाणी, **द्वाराणि** = जो शरीर के द्वार कहे गये हैं, **यस्य** = जिसके, **सुगुप्तानि** = वश में कर लिए गये हों, **सः** = वे व्यक्तिं, **धर्मवित्** = धर्मवेत्ता कहे जाते हैं ।।५।।

सत्यम् = जो व्यक्ति सत्य, **दमम्** = दम (इन्द्रियों का दमन करना), **आर्जवम्** = उदारता, **अनृशंस्यम्** = दयालुता, **धृतिम्** = धैर्यं, **तितिक्षाम्** = सहिष्णुता की, **सेवमानः** = सेवा की है अर्थात् अभ्यास किया है, **नित्यम्** = और नित्य, **स्वाध्यायम्** = स्वाध्याय करता है, **परेषाम्** = तथा दूसरे की वस्तु की, **अस्पृहयन्** = स्पृहा नहीं करता, **एकान्तशीली** = एवं एकान्तवास करने का जिसका स्वभाव बन गया है, **सः** = वह व्यक्ति, **उर्ध्वगतिम्** = उन्नतशील गतिवाला, **भवति** = हो जाता है अर्थात् वह परमात्म चिन्तन में उत्तमगति को प्राप्त करता है ।।६।।

सर्वांश्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान् ।
न पावनतमं किञ्चित् सत्यादध्यगमं क्वचित् ।।७।। (हँस गीता)
अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः, सत्यं वदेत् व्याहृतं द्वितीयम् ।
प्रियं वदेत् व्याहृतं तत् तृतीयं, प्रियं धर्मं वदेत् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ।।८।।
(हँस गीता)
अज्ञानेनावृतो लोको, मात्सर्यान्न प्रकाशते ।
लोभात्त्यजति मित्राणि, संगात् स्वर्गं न गच्छति ।।९।। (हँस गीता)

स्तनान् = माँ के स्तन को, **चतुरः** = चतुर, **वत्सवत्** = उसके बच्चे जिस प्रकार (दूध) पीते हैं उसी भाँति जो निर्विकार भाव से, **एतान्** = इन, **सर्वान्** = सभी भोगवस्तुओं में, **अनुचरन्** = कामरहित होकर जो साधक अभ्यास करके दक्षता प्राप्त कर लेता है, वही सर्वोत्तम लक्ष्य को प्राप्त करता है; **सत्यात्** = क्योंकि सत्य से बढ़कर, **पावनतमम्** = पवित्रतम, **अध्यगमम्** = प्राप्ति, **क्वचित्** = कोई भी, **किञ्चित्** = कुछ भी, **न** = नहीं है ।।७।।

व्याहृतात् = बोलने से, **अव्याहृतम्** = कुछ नहीं बोलना, **श्रेयः** = श्रेष्ठ-उत्तम है, **आहुः** = यह प्रथम प्रकार का वक्ता कहा गया है। **सत्यम्** = सत्य, **व्याहृतम्** = बोली, **वदेत्** = बोलनी चाहिये, इस विचार का जो व्यक्ति है, **तत्** = वह, **द्वितीयम्** = दुसरे प्रकार के वक्ता हैं। **प्रियम्** = प्रिय-मधुर, **व्याहृतम्** = बोली, **वदेत्** = बोलनी चाहिये इस विचार का जो व्यक्ति है, **तत्** = वह, **तृतीयम्** = तीसरी कोटि का वक्ता है। **धर्मम्** = धर्मयुक्त, **प्रियम्** = प्रिय, **व्याहृतम्** = बोली, **वदेत्** = बोलनी चाहिये, इस विचार का जो व्यक्ति है, **तत्** = वह, **चतुर्थकम्** = चतुर्थ (चौथी) कोटि का व्यक्ति है ऐसा कहा गया है ।।८।।

व्याख्या—लोकः = लोकगत वस्तुएँ, **अज्ञानेन** = अज्ञान से, **आवृतः** = ढ़के हुए हैं क्योंकि, **मात्सर्यात्** = लोकगत वस्तुएँ मात्सर्य के कारण (अज्ञान से आवृत होने से), **न प्रकाशते** = प्रकाशित नहीं हो पाते। इसलिए वें गुप्त रह जाते हैं। **लोभात्** = इस लोक में देखा जाता है कि लोभ से, **मित्राणि** = मित्रों को भी लोग, **त्यजति** = त्याग देते हैं। **सङ्गात्** = और कुसंग के प्रभाव के कारण, **स्वर्गम्** = स्वर्ग, **न** = नहीं, **गच्छति** = जा पाते। तात्पर्य है कि अज्ञान से आवृत अज्ञानीजन सत्संग नहीं कर पाते इसलिए वे स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर पाते, प्रत्युत् नरकगामी हो जाते है। इस लोक में तो सत्संग और दुस्संग दोनों के अवसर प्राप्त होते हैं; परन्तु अज्ञान के कारण जीवात्मा सत्संग से वंचित हो जाते हैं। जब कि सत्संग से ही तथ्य एवं तत्व का उद्घाटन होता है ।।९।।

प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां, प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते।
प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोपि, प्राज्ञ एषां कलहं नन्ववैति ।।१०।।
(हँस गीता)

स्वाध्याय एषां देवत्वं, व्रतं साधुत्वमुच्यते।
असाधुत्वं परिवादो, मृत्युर्मानुष्यमुच्यते ।।११।। (हँस गीता)

॥ अन्तर्मातृका न्यासः ॥

मूलाधाराद्ध्वनिं श्रुत्वा, प्रबुद्धा शक्तिकुण्डली।
ज्वलत्पावकसंकाशा, सूक्ष्मा तेजःस्वरूपिणी ।।१।।
मूलाधाराच्छिरः प्राप्तं, स्पृशन्ती विद्युदाकृतिः।
तया स्पृष्ट शिरःपद्मा, दमृतौघस्वरूपिणः ।।२।।

ब्राह्मणानाम् = ब्राह्मणों में, **एकः** = एक प्रकार का, **प्राज्ञः** = ज्ञानी विद्वान् वह है जो, **रमते** = परमात्मा में निरत रहकर उसमें रमण करते है। **एकः** = एक प्रकार के, **प्राज्ञः** = ज्ञानी वह है जो, **बहुभिः** = अनायास (विना प्रयत्न के) प्राप्त वस्तुओं को बहुत मानकर, **जोषम्** = सन्तुष्ट हो प्रसन्नता का, **आस्ते** = अनुभव करते हैं। **एकः** = एक प्रकार के, **प्राज्ञः** = ज्ञानवान् व्यक्ति वे होते हैं, जो, **बलवान्** = बल सम्पन्न होते है अर्थात् शरीर से भी ताकतवर होते है, **प्राज्ञः** = और इसी प्रकार कोई अन्य ज्ञानी, **दुर्बलोऽपि** = दुर्बल अर्थात् शरीर से कमजोर परन्तु ज्ञान प्रबल होते हुए भी। **एषाम्** = उन संसारी व्यक्तियों के साथ, **कलहम्** = कलह (झगड़ा-फसाद) न **अन्वेति** = आपसे में नहीं करते है ॥१०॥

एषाम् = इन ज्ञानी ब्राह्मणों के, **स्वाध्यायः** = स्वाध्याय (आत्म-परमात्म चिन्तन) करना ही, **देवत्वम्** = उनका देवत्व है। **व्रतम्** = और व्रतादि का आचरण ही, **साधुत्वम्** = उनकी साधुता को, **उच्यते** = प्रमाणित करता है। **परिवादः** = और अन्यके कलह ही, **असाधुत्वम्** = दुर्जनता को प्रमाणित करता है, **मृत्युः** = एवं मृत्यु (मृत्यु बुद्धि) ही, **मानुष्यम्** = मनुष्य के मानव होने का प्रमाण है। इस प्रकार साधु, असाधु और सामान्य मानव तीन कोटि के व्यक्ति को यहाँ कहा गया है ॥११॥

व्याख्या–अन्तर्मातृकान्यासः = अब अन्तर्मातृका न्यास विधि कही जा रही है—**मूलाधारात्** = साधक के मूलाधार स्थान से उत्थित, **ध्वनिम्** = ध्वनि को, **श्रुत्वा** = सुनकरके जब उनका, **ज्वलत्** = जलते हुए, **पावकसंकाशा** = अग्नि के वर्णवाली, **सूक्ष्मा** = सूक्ष्म, **तेजःस्वरूपिणी** = तेजः स्वरूपा, **शक्तिकुण्डली** = कुण्डलीशक्ति, **प्रबुद्धा** = जागृत हो जाय, **विद्युदाकृतिः** = और विद्युदाकार

---

1. ब्राह्मणानाम्।

निर्गतान् मातृकावर्णान्, सुषुम्नावर्त्मना तनुम्।
व्यापयित्वा स्थितान्सर्वान्, एवं ध्यात्वा प्रविन्यसेत्।।३।।

(शक्तिमहिम्न टी. ४६)

षोढ़ान्यासस्त्वायं प्रोक्तः–
गणेश-ग्रहनक्षत्र, योगिनी-राशि पीठकैः।
(५१ विघ्नेशाः) (नित्यषोडशिकार्णवः)
जीवस्य विषयासत्त्या संसारः।
स चेश्वरानुग्रहेण निवर्तते।
विपर्ययगृहीतस्य साक्षाद्बोधयितुमसक्तेः। (श्रीधरः ४/२५)

वह कुण्डलिनी शक्ति, **स्पृशन्ती** = सम्पूर्ण शरीर को स्पर्श करती हुई अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में नीचे से ऊपर की ओर, **मूलाधारात्** = मूलधारस्थान (चक्र) से, **शिरः** = मस्तक को, **प्राप्तम्** = प्राप्त कर जाय, तथा–उस तेज:पुञ्ज विद्युदाकार कुण्डलीशक्ति के द्वारा, **शिरः** = शिर में स्थित (सहस्त्रदल कमल) **स्पृष्टः** = स्पर्श कर जाय, **पश्चात्** = और सहस्त्रदलकमल से अमृतधारा, **सुषुम्नावर्त्मना** = सुषुम्ना मार्ग में, **स्थितान्** = स्थित, **सर्वान्** = सभी, **मातृकावर्णान्** = मातृकावर्ण समूह, **तनुम्** = सम्पूर्ण शरीर को, **व्यापयित्वा** = व्याप्त कर जाय, **एवम्** = इस प्रकार की स्थिति हो तब, **ध्वात्वा** = ध्येय का ध्यान करके, **प्रविन्यसेत्** = मातृकान्यास प्रारम्भ करना चाहिये।।

(शक्तिमहिम्न टीका ४६,१,२,३)

व्याख्या–षोढ़ान्यासस्त्वायं प्रोक्तः = षोढ़ान्यास इसे कहते हैं—**गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशि पीठकैः** = गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी समूह के पीठस्थान के द्वारा षोढ़ान्यास करना चाहिये। विघ्नेश एकावन प्रकार के हैं। (नित्यषोऽशिकार्णव)

व्याख्या–जीवस्य = जीवात्मा के, **विषयासत्त्या** = विषय में आसक्त होने से, **संसारः** = संसार की सत्ता की प्रतीति होती है, अनासक्तता में तो संसार का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। **स च** = और वह संसार की सत्ता की प्रतीति, **ईश्वरानुग्रहेण** = ईश्वर की कृपा से, **निवर्तते** = निवृत होती है।

विपर्ययगृहीतस्य = जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं है और उनकी सत्ता को मिथ्या मानता है ऐसे मिथ्या बोध को ग्रहण करनेवाले को, **साक्षात्** = सद्यः, **बोधयितुम्** = सत्य का ज्ञान कराने के लिए, **अशक्तेः** = वे ईश्वर समर्थ (तैयार) नहीं होते। क्योंकि ईश्वर तो शरणागत को ही उद्धार करने में समर्थ हैं। (श्रीधर ४/२५)

ब्रह्मणस्त्रीणिरूपाणि:—

१. निष्कलं—सत्यं विज्ञानमानन्दं निरञ्जनं सर्वगतं सर्वतोमुखमनिर्देश्यममृतम् ।

२. सकलनिष्कलं—मायवी कृष्णपिङ्गल ईश्वरः ।

३. सकलं—योऽसौ देवो भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्नो मायया कीडति ब्रह्म-विष्णू रुद्र इन्द्रः सर्वे देवाः स एव, सर्वाणि भूतानि स एव ।

(शाण्डिल्योपनिषद् ३)

कुण्डलिनी—

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णो, निर्भया स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति, गुणत्रयप्रसूतिका ।।१।।

ब्रह्मणः = ब्रह्म के, **त्रीणि** = तीन, **रूपाणि** = स्वरूप होते हैं—

१. **निष्कलम्** = निष्कल ब्रह्म का लक्षण है—**सत्यम्** = जो त्रैकालिक सत्यस्वरूप, **विज्ञानम्** = विज्ञान स्वरूप, **आनन्दम्** = आनन्दस्वरूप, **निरञ्जनम्** = तथा सकल-पाप रहित, **सर्वगतम्** = सर्वगत, **सर्वतोमुख** = सभी दिशाओं में व्याप्त है, **अनिर्देश्यम्** = और जिसको किसी भी प्रकार से निर्दिष्ट करके नहीं बताया जा सकता, **अमृतम्** = एवं जो अमृत स्वरूप है वह निष्कल ब्रह्म है ।

२. **सकलनिष्कलम्** = सकलनिष्कल (कलाओं के सहित निष्कल) ब्रह्म का लक्षण है—**मायावी** = जो मायावी है, **कृष्णपिङ्गलः** = और कृष्णपिङ्गलवर्ण है, **ईश्वरः** = तथा सर्वैश्वर्य सम्पन्न और नियन्ता है वह सकलनिष्कल ब्रह्म है ।

३. **सकलम्** = अब सकल ब्रह्म का लक्षण कहते हैं—**यः** = जो, **असौ** = वह, **देवः** = देव है, **भगवान्** = जिसे भगवान् कहते हैं, **सर्वैश्वर्यसम्पन्नः** = और जो सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से सम्पन्न है, **मायया** = एवं जो अपनी माया शक्ति द्वारा, **कीडति** = सभी भूतों में स्थित होकर कीडा करते हैं, **ब्रह्मविष्णू रुद्र इन्द्रः सर्वे देवाः** = वे सकल ब्रह्म ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-इन्द्र आदि सभी देवता, **सः एव** = वही हैं, **सर्वाणि** = और सभी, **भूतानि** = भूत समूह, **सः एव** = भी वही हैं ।

(शाण्डिल्योपनिषद ३)

कुण्डलिनी = अब कुण्डलिनी शक्ति को कहते हैं—**विष्णोः** = विष्णु की, **शक्तिः** = शक्ति स्वरूपा ही, **इयम्** = इस कुण्डलिनी को, **ज्ञेया** = जानना चाहिये । **निर्भया** = जो निर्भया है, **स्वर्णभास्वरा** = और तप्त स्वर्ण के समान आभावाली है, **सत्त्वंरजस्तमः च** = जो सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, **गुणत्रयप्रसूतिका** = इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली है ।।१।।

मणिपूरविहित वसतेः, स्तनयित्नोःसदा शिवाङ्के लसिता ।
सौदामिनी स्थिरा सा, त्रिपुरामातु चिदम्बरे नः ।।२।।
गणेश्वरो विधिर्विष्णुः शिवो जीवो गुरुस्तथा ।
षडेते हंसतामेत्य, मूलाधारादिषु स्थिताः ।।३।।
(वालापद्धतिः)

शक्तिः सिद्धि गणेशस्य, ब्रह्मणश्च सरस्वती ।
लक्ष्मीनारायणस्यापि, पार्वती च पिनाकिनः ।।४।।
अविद्याचैव जीवस्य, गुरोर्ज्ञानं परात्परम् ।
मोक्षबीजात्मिका विद्या, शक्तिश्च परमात्मनः ।।५।।
(सूर्याङ्कगता)



मणिपूरविहितवसतेः = वह मणिपूरचक्र में निवास करनेवाली, **स्तनयित्नोः** = अपने दोनों स्तनों को, **सदाशिवाङ्के** = सदाशिव के क्रोड (गोद) में रखकर, लसिता = शोभा पानेवाली है। **सा** = ऐसी वह देवी, **सौदामिनिस्थिरा** = स्थिर सौदामिनी (विद्युत्) के समान विराजमान, **त्रिपुरामाता** = तीनों लोकों में व्याप्त और तीनों लोकों की प्रसूतिका होने के कारण जिसे त्रिपुरामाता कहा जाता है, अथवा **त्रिपुरामातुः** = तीनों लोकों को मापनेवाली, **नः** = वह हमारे, **चिदम्बरे** = चिदाकाश में निवास करती है ।।२।।

गणेश्वरः = गणेश जी, **विधिः** = ब्रह्माजी, **विष्णुः** = भगवान् विष्णु, **शिवः** = भगवान् शिव, **जीवः** = जीवात्मा, **तथा** = तथा, **गुरुः** = गुरु, **षडेते** = इन छहों के, **हंसताम्** = परमात्मभाव, **एत्य** = प्राप्त करने पर, **मूलाधारादिषु** = शरीर के मूलाधार आदि चक्रों में, **स्थिताः** = स्थिति होते हैं ।।३।। (बालापद्धति)

सिद्धिः = सिद्धि, **गणेशस्य** = गणेश की, **शक्तिः** = शक्ति का नाम है, **च** = और, **ब्रह्मणः** = ब्रह्मा की शक्ति, **सरस्वती** = सरस्वती है, **अपि** = एवं, **लक्ष्मी** = लक्ष्मी, **नारायणस्य** = भगवान् नारायण की शक्ति है, **च** = तथा, **पार्वती** = पार्वती, **पिनाकिनः** = पिनाकधारी भगवान् शिव की शक्ति है ।।४।।

च = और, **जीवस्य** = जीव की, **अविद्या एव** = अविद्या ही शक्ति है, **परात्परंज्ञानम्** = परात्पर परमात्मा का ज्ञान, **गुरोः** = गुरु की शक्ति है, **च** = और, **मोक्षबीजात्मिका विद्या** = मोक्षबीजात्मिका विद्या, **परमात्मनः** = परमात्मा ब्रह्म की शक्ति है ।।५।। (सूयाङ्कगता)

व्याख्या–उपर्युक्त मेरु के चित्राङ्कण के द्वारा यह कहा गया है कि—मेरु (पीठ की रीढ़) में ३३० हड्डियों की जोड़ (गाँठ) होती हैं। साथ में यह भी संकेत है कि रीढ़ से बहुत सी नाड़ियों का भी सम्बन्ध है। मेरु में सात चक्रों का उल्लेखन कर उसके आध्यात्मिक महत्त्व को भी दर्शाया गया है, जो साधकों के लिए चिन्त्य विषय है।

देवी–

स्थूलदेहो भवेद् ब्रह्मा, लिङ्गदेहो हरिः स्मृतः।
रुद्रस्तु कारणो देहः, तुरीया त्वहमेव हि।।७३।।
साम्यावस्था तु या प्रोक्ता, सर्वान्तर्यामिरूपिणी।।७४।।

(देवी भा. १२/८)

मामेव शरणं यात, सच्चिदानन्दरूपिणीम्। (देवी.भा. १२/८/८३)
निद्राभङ्गः कथाच्छेदो, दम्पयोः प्रीतिभेदनम्।
शिशुमातृविभेदश्च, ब्रह्महत्यासमं स्मृतम्।।२०।। (देवी भा. १/५)
सर्वः स्वार्थवशो लोकः कुरुते पातकं किल।।२१।। (देवी भा. १/५)

व्याख्या–स्थूलदेहः = स्थूलदेहधारी, **ब्रह्मा** = ब्रह्मा, **भवेत्** = होता है। **लिङ्गदेहः** = लिङ्गदेहधारी (सूक्ष्मशरीरधारी), **हरिः** = भगवान् विष्णु, **स्मृतः** = होते हैं, **तु** = और, **रुद्रः** = भगवान् शिव, **कारणो देहः** = कारण शरीरधारी होते हैं, **तु** = क्योंकि, **हि** = मेरा स्वरूपलक्षण ब्रह्मरूपा है इसलिए, **तुरीया** = तुरीयावस्था (इन्द्रियातीतावस्था) अर्थात् देहादिरहित, **अहम्** = चिच्छक्ति स्वरूपा मैं, **एव** = ही हूँ। यह देवी ने स्वयं उपदेश किया है। (देवी भा. १२/८/७३)

जब तीनों गुण सम होते हैं, कोई भी गुण परस्पर में कम या अधिक नहीं होते हैं, **या** = ऐसी जो, **प्रोक्ता** = अवस्था कही गयी है, **सर्वान्तर्यामिरूपिणी** = वह सभीभूतों के अन्तः करण में आत्मारूप से स्थित रहकर सबका नियमन (शासन) करनेवाली होती है, **साम्यावस्था** = और वह तीनों गुणों की साम्यवस्था स्वरूपा मूलप्रकृति मैं ही हूँ। (१२/८/७४)

सच्चिदानन्दरूपिणीम् = सत्-चित्-आनन्द ही है स्वरूप जिसकी, ऐसे स्वरूपवाली, **माम्** = मेरी, **एव** = ही, **शरणम्** = शरण में, **यातः** = जाओ। यहाँ पर यक्ष रूप में प्रकट भगवती देवराज इन्द्र से उपर्युक्त वचन कही है।।८३।। (देवी भा. १२/८)

निद्राभङ्गः = सोये हुए व्यक्ति के निद्रा भङ्ग करना, **कथाच्छेदः** = कोई वक्ता किसी श्रोता को कोई कथा सुना रहा हो तो उसमें व्यवधान उत्पन्न करना, **दम्पत्योः** = पति-पत्नी के बीच, **प्रीतिभेदनम्** = स्थापित प्रेम को कूटवाक्य प्रयोग कर उच्छेद करना, **शिशुमातृविभेदः च** = और शिशु और माता में नैसर्गिक उपस्थित प्रेम का उच्छेद करके दोनों में दोनों के प्रति अथवा किसी एक के प्रति कंटुताभाव उत्पन्न करना, **ब्रह्महत्यासमम्** = ब्रह्महत्या करने के पाप के समान होता है। (देवी भा. १/५/२०)

सर्वः = सम्पूर्ण, **लोकः** = संसार, **स्वार्थवशः** = अपने-अपने स्वार्थ के वश में होकर, **पातकम्** = पाप, **कुरुते** = किया करते हैं, **किल** = यह सांसारिक जीवात्माओं का नियत स्वभाव होता है। (देवी भा. १/५/२२)

सत्त्वम्—

सत्त्वम् प्रीत्यात्मकं ज्ञेयं, सुखात्प्रीतिसमुद्भवः ।
आर्जवं च तथा सत्यं, शौचं श्रद्धा क्षमा धृतिः ।।२।।
अनुकम्पा तथा लज्जा, शान्तिः सन्तोष एव च ।।३।।
श्वेतवर्णं तथा सत्त्वं, धर्मे प्रीतिकरं सदा ।।४।।
रक्तवर्णं रजः प्रोक्त, मप्रीतिकरमद्भुतम् ।।५।।
प्रद्वेषो मत्सरो द्रोहो, मत्सरः स्तम्भमानकौ ।
उत्कण्ठा च मदो गर्वो, राजसात् किल जायते ।।६।।
कृष्णवर्णं तमः प्रोक्तं, मोहनं च विषादकृत् ।
आलस्यं च तथा ज्ञानं निद्रा दैन्यं भयं तथा ।।७।।
विवादश्चैव कार्पण्यं, कौटिल्यं रोष एव च ।

सत्त्वम् = अब सत्वगुण को कहते हैं—

सत्त्वम् = सतोगुण, **प्रीत्यात्मकम्** = प्रीत्यात्मक, **ज्ञेयम्** = जानना चाहिये, **सुखात्प्रीतिसमुद्भवः** = क्योंकि सुख से प्रीति का, **समुद्भवः** = उद्भव होता है, अर्थात् सुख से प्रीति और प्रीति से सत्त्वगुण का उद्भव होता है। **च** = और, **आजर्वम्** = शालीनता, **तथा** = इसी प्रकार, **सत्यम्** = सदाचारण, **शौचम्** = सभी प्रकार की पवित्रता, **श्रद्धा** = श्रद्धा, **क्षमा** = क्षमा करने का स्वभाव, **धृतिः** = धैर्य, **अनुकम्पा** = कृपा, **तथा** = तथा, **लज्जा** = लज्जाशीलता, **शान्तिः** = शान्ति, **च** = और, **सन्तोषः** = सन्तोष, **एव** = भी सत्त्वगुण का ही स्वभाव है, प्राणी में उत्पन्न होते अर्थात् सत्त्वगुण की अधिकता होने पर उपर्युक्त स्वभाव मानव में उत्पन्न होते हैं। (देवी भा. ३/८/२-३)

तथा = इस प्रकार से अब उसके वर्ण कहते हैं—**श्वेतवर्णम्** = श्वेत वर्ण का, **सत्त्वम्** = सतोगुण होता है, **सदा** = जो हमेशा, **धर्मे** = धर्म में, **प्रीतिकरम्** = प्रीति उत्पन्न करता है। (देवी भा. ३/८/४)

रक्तवर्णम् = रक्त के समान लाल वर्ण (रंग), **रजः** = रजोगुण का, **प्रोक्तम्** = कहा गया है, **अद्भुतम्** = जो अद्भुत, **अप्रीतिकरम्** = द्वेषभाव को उत्पन्न करता है ।।६।।

प्रद्वेषः = वह प्रद्वेष, **मत्सरः** = ईर्ष्या, **स्तम्भमानकौ** = स्तम्भमान स्वरूपवाला ही है ।।७।।

च = और इसी प्रकार, **उत्कण्ठा** = उत्कण्ठा, **मदः** = मद, **गर्वः** = गर्व भी, **राजसात् किल** = राजसगुण के ही, **जायते** = होते हैं। **कृष्णवर्णम्** = कृष्ण (काले रंग) वर्ण का, **तमः** = तमोगुण

वैषम्यं वातिनास्तिक्यं, परदोषानुदर्शनम् ।।८।। (देवी भा. ३/८)
सत्त्वं प्रकाशयितव्यं, नियन्तव्यं रजः सदा ।
संहर्तव्यं तमः कामं, जनेन शुभमिच्छता ।। (देवी भा. ३/८/१२)



ज्ञानशक्तिः सात्त्विकस्य ।
राजसस्य क्रियात्मिका ।
द्रव्यशक्तिस्तामस्य ।।

का स्वरूप, **प्रोक्तम्** = कहा गया है, **च** = और उसका फल, **मोहनम्** = मोह उत्पन्न करना, **विषादकृत्** = विषाद उत्पन्न करना, **आलस्यम्** = आलस्य, **तथा च** = और इसी प्रकार, **अज्ञानम्** = अज्ञान, **निद्रा** = निद्रा, **दैन्यम्** = दीनता, **तथा** = तथा, **भयम्** = भय उत्पन्न करना है ॥९॥

च = और इसी प्रकार, **विवादः** = विवाद, **कार्पण्यम्** = कृपणता, **कौटिल्यम्** = कुटिलता, **रोषः** = रोष, **च** = तथा, **वैषम्यम्** = विषमता बुद्धि, **वा** = अथवा, **अतिनास्तिक्यम्** = नास्तिकता का चरम, **परदोषानुदर्शनम्** = दूसरे के दोष को देखना, **एव** = ही तमोगुण उद्रेक का फल है। (देवी भा. ३/८)

शुभमिच्छता = कल्याण की इच्छा रखने वाले, **जनेन** = लोगों के द्वारा, **सत्त्वम्** = प्रयत्नपूर्वक सतोगुण का, **प्रकाशयितव्यम्** = प्रकाशन-वर्धन करना चाहिये ताकि दुरूह और दुःखप्रद संसार सागर से आत्मोद्धार हो सके ॥१२॥ (देवी भा. ३/८)

व्याख्या—उपर्युक्त प्रतीक चित्र द्वारा प्रकृति के तीन परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले गुणों से भी कार्योत्पति दर्शाने के लिए प्रयास है। लोक में प्रायः यह शंका का विषय न बने कि जब कोई भी गुण अकेले अस्तित्व में कभी भी नहीं होता और वह परस्पर विरुद्ध धर्मी भी होता है तो इस स्थिति में उनसे कायोत्पत्ति कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि कहा है—

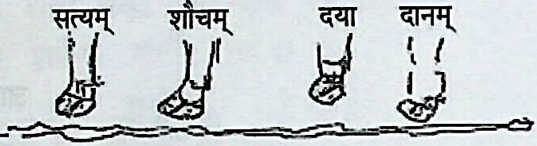
एकं सत्त्वं न भवति, रजश्चैकं तमस्तथा ।
सदैवाश्रित्य वर्तन्ते, गुणा मिथुनधर्मिणः ।। (देवी भा. ३/८/४२)
सर्वे मिथुनधर्माणो, गुणा कार्यान्तरेषु वै ।। (देवी भा. ३/८/४४)

इस शंका के समाधान के लिए ही यहाँ प्रदीप्त दीपक का चित्राङ्कन है। जिसकी सामाग्री तैल-वर्ति और अग्नि परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। अप्रदीप्त (प्रज्वलन रहित) अग्नि पर अधिक तैल उड़ेलने से

साहित्यम्–

साहित्यं चैव त्रिविधं, स्वीयायां चोत्तमं स्मृतम्।
मध्यमं पैरयोषायां, परोढ़ायां तथाधम् (देवी भा. १/६/१४)

धर्मस्य पादाः–



अग्नि बुझ जाती है, प्रदीप्त अग्नि तैल को जला देती है। इसी तरह मृन्मय पात्र भी इन दोनों के स्वभाव से भिन्न ही है; परन्तु युक्ति से तीनों का सम्मिलन प्रकाशक बन जाता है। इसलिये कहा है कि—

प्रदीपश्च यथा कार्यं प्रकरोत्यर्थदर्शनम्।
वर्तिस्तैलं यथार्चिश्च, विरुद्धाश्च परस्परम्।।२९।।
विरुद्धं हि तथा तैलं, मग्निना सह सङ्गतम्।
तैलं वर्तिविरोध्येव, पावकोऽपि परस्परम्।।३०।।
एकत्रस्थाः पदार्थानां, प्रकुर्वन्ति प्रदर्शनम्।।३१।। (देवी भा. ३/९)

उपर्युक्त कारिका (श्लोक) के अर्थानुसंधान से यह स्थिति बनती है कि—**ज्ञानशक्तिः सात्त्विकस्य** = सत्त्वगुण प्रधान स्वभाववाले मानव का यही लक्षण होता है कि उसकी ज्ञानशक्ति प्रबल होती है। **राजसस्य क्रियात्मिका** = इसी प्रकार-रजोगुणप्रधान स्वभाववाले मानव का यह लक्षण होता है कि—उसकी क्रियाशक्ति प्रवल होती है तथा इसी प्रकार–**द्रव्यशक्तिस्तामस्य** = तमोगुणप्रधान स्वभाव के मानव का यह लक्षण होता है कि उसकी द्रव्य संग्रह शक्ति प्रबल होती है।

साहित्य

व्याख्या–च = और, **साहित्यम्** = साथ रहने अर्थात् संग करने का स्वभाव अथवा हितकारी स्वभाव, **त्रिविधम्** = तीन प्रकार के, **एव** = ही हैं। **स्वीयायाम्** = अपनी पाणिगृहीता (धर्मपत्नी) स्त्री के साथ संग करना, **उत्तमम्** = उत्तम श्रेणी का संग, **स्मृतम्** = कहा जाता है। **परयोषायाम्** = दूसरे की स्त्री के साथ संग करना, (**वार्रयोषायाम्** = वारस्त्री के साथ संग करना) **मध्यमम्** = मध्यम श्रेणी का संग है, **तथा** = तथा, **परोढ़ायाम्** = दूसरों के द्वारा विवाह कर लाई गयी स्त्री के साथ संग करना, **अधमम्** = अधम कोटि का संग कहा गया है।

धर्म के चरण

व्याख्या–धर्म के स्वरूप को बताने के लिए यहाँ धर्मवृषभ के चार पाद (पैर-खुर) चित्राङ्कित किये गये हैं; ताकि तात्त्विक अर्थ का ठीक ढंग से अनुगम (ज्ञान) हो सके। देवी भागवत के स्कन्ध चार के

---

1. *पाठान्तर*–वारयोषायाम् (देवी भा. गीता प्रेस प्रकाशन)

अनृतं साहसं माया, मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दयत्वं च, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।। (१/५/८३)
विषयनिष्ठबुद्धियोगेन जीवस्य देहसम्भवः। (श्रीधरः ४/२५)
मन्त्रिपापं च राजानं, पतिं जायाकृतं तथा।
तथा शिष्यकृतं पापं, प्रायो गुरुमपि स्पृशेत्।। (श्री विद्यार्णवत. १/२२)
पुरुषाणां नराणां च, केवलं तुल्यमूर्तिता।
आज्ञात्यागः क्षमाधैर्यं, विक्रमश्चाप्यमानुषः।। (सुश्रुतं सं.सू. ३४)

चौथे अध्याय के श्लोक चौदह और पन्द्रह में इसका उल्लेख है—

धर्मस्य प्रथमः पादः सत्यमेतच्छ्रुतेर्वचः।
द्वितीयस्तु तथा शौचं, दया पादस्तृतीयकः।।१४।।
दानं पादश्चतुर्थश्च, पुराणज्ञा वदन्ति वै।
तैर्हीनं कथं धम; स्तिष्ठेदिह सुसम्मतः।।१५।। (देवी भा. ४/४)

धर्म का पहिला पाद (धर्मवृषभ का) सत्य है। द्वितीय शौच (शुद्धि) जिसमें शरीर के भीतर (मानस) और बाहर (अवयव-अंग) की शुद्धि, वाणी, लेन-देन आदि की पवित्रता सन्निहित है। तृतीयपाद दया का है दया से अहिंसा अभिप्रेत है। वाणी, कर्म और मन आदि से भी जीवमात्र के प्रति अन्यथा (द्वेषादि) वृत्ति का नहीं होना अहिंसा के अन्तर्गत आता है। धर्म के चतुर्थ पाद दान है। दान का वास्तविक अर्थ है–न्यायपूर्वक अपने द्वारा अर्जित धन में से दीनादि यथायोग्य अधिकारी के लिये त्याग करना। उपर्युक्त चार पद के व्यापक अर्थ चिन्तन है, जिसका विशद वर्णन शास्त्रों में है। यहाँ संक्षेप में उसे कहा गया है। (देवी भा. ४/४/१४-१५)

व्याख्या–अनृतम् = असत् भाषण-आचरण आदि, **साहसम्** = साहस, **माया** = मोहन स्वभाव, **मूर्खत्वम्** = मूर्खता, **अतिलोभता** = अत्यन्त लोभी स्वभाव, **अशौचम्** = बाह्य भीतर की अशुद्धि, **च** = और, **निर्दयत्वम्** = निर्दयता, **स्त्रीणाम्** = स्त्रियों की, **स्वभावजाः** = स्वभाव से उत्पन्न होने वाले, **दोषाः** = दोष होते हैं। (देवी भा. १/५/८३)

व्याख्या–मन्त्रिपापम् = मन्त्री द्वारा किये गये पाप **राजानम्** = राजा को प्रभावित करता है, **तथा** = और **जायाकृतम्** = स्त्री (पत्नी) द्वारा किये पाप, **पतिम्** = पति को प्रभावित करता है। **तथा** = उसी प्रकार, **प्रायः** = प्रायः, **शिष्यकृतम्** = शिष्य द्वारा किये पाप को, **गुरुम्** = गुरु (आचार्य), **अपि** = भी, **स्पृशेत्** = प्राप्त करता है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १/२२)

व्याख्या–पुरुषाणाम् = पुरुषत्व स्वभाव प्रधान वाले व्यक्ति का, **च** = और, **नराणाम्** = नीति

उचिते वर्तमानस्य, नास्ति देशकृतं भयम्।
आहार स्वप्नचेष्टादौ, तद्देशस्य गुणे सति।। (सुश्रुतं सं.सू. ३५)
संकरः सर्ववर्णानां प्रणाशः धर्मकर्मणाम्।
प्रज्ञानमपि चोच्छित्ति, र्नृप व्यसन हेतुतः।। (सुश्रुत सं.सू. ३४/९)
प्राणायामेन युक्तेन, सर्वरोगक्षयो भवेत्।
मलाकुलासु नाडीषु, मारुतो नैव मध्यगः।
यदा सुषुम्नापार्श्वस्था, मला शोषं प्रयान्ति च।।

निपुण पुरुष का, **केवलम्** = केवल, **तुल्यमूर्तिता** = शारीरिक स्वरूप की सादृश्यता होती है। **आज्ञा** = क्योंकि मानव स्वभाव के पुरुष के आज्ञा, **त्यागः** = त्याग, **क्षमा** = क्षमा, **धैर्यं च** = और धैर्य से युक्त, **नराणाम्** = नीतियों से सम्पन्न जो लोग हैं, उनके होते है, **आमनुषः** = परन्तु जो मानवोचित स्वभाव के विपरीत हैं अर्थात् जिसमें आज्ञा पालन, त्याग, क्षमा और धैर्य धारण करने का सामर्थ्य नहीं है, उसका अन्यथा काल और स्थल पर भी, **विक्रमः** = क्रोधी स्वभाव ही प्रकट होता है।

(सुश्रुत सं.सू. ३४)

व्याख्या–**उचिते** = देश-काल-स्थानादि सम्बन्ध से उचित, **वर्तमानस्य** = व्यवहार करनेवाले का, **आहारस्वप्नचेष्टादौ** = उसके भोजन, शयन आदि चेष्टा (व्यवहार) में, **तत्** = उस, **देशस्य** = देश का, **गुणे** = गुण, **सति** = रहने के कारण, **देशकृतम्** = देशकृत, **भयम्** = भय, **नास्ति** = नहीं होता। क्योंकि वह देश-काल-स्थान के अनुसार भोजनादिक चेष्टा पर ध्यान रखकर ही व्यवहार करता है।

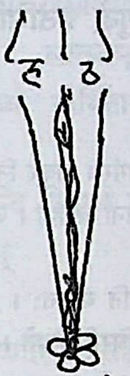
(सुश्रुत सं.न्यू. ३५)

व्याख्या–**नृप** = हे राजन्!, **सर्ववर्णानाम्** = जब सभी वर्णों में, **धर्मकर्मणाम्** = शास्त्रोंचित्त धर्म-कर्म का, **प्रणाशः** = विनाश हो जाता है, **संकरः** = तब संकर जाति की उत्पत्ति हो जाती है, **च** = और, **व्यसनहेतुतः** = तब वहाँ के लोगों का व्यसन में आसक्त रहने के कारण, **प्रज्ञानम्** = उनके अर्जित ज्ञाना-विज्ञान का, **अपि** = भी, **उच्छित्तिः** = उच्छेद अर्थात् नाश हो जाता है। (सुश्रुत सं.सू. ३४/९)

व्याख्या–**प्राणायामेन** = प्राणायाम विधि से, **युक्तेन** = युक्त पुरुष का, **सर्वरोगक्षयः** = सभी प्रकार के रोगक्षय, **भवेत्** = होते हैं। **मलाकुलासु** = क्योंकि मल की आधिक्यता से परिपूर्ण, **नाडीषु** = नाड़ियों में, **मारुतः** = उन प्राणवायु का, **मध्यगः** = उसके बीच में पहुँचना, **नैव** = नहीं हो पाता। जिससे वह व्याधि वहीं बनी ही रह जाती है ।।१।।

यदा = जब तक (योग प्रक्रियान्तर्ग नैती-धौती आदि क्रिया के द्वारा) **सुषुम्नापार्श्वस्था** = सुषुम्नानाडी के पार्श्व देश में स्थित, **मलाः** = मल का, **शोषम्** = योग प्रक्रिया विशेष द्वारा शोषण नहीं कर दिया जाता, **च** = और उसे, **प्रयान्ति** = बाहर नहीं कर दिया जाता तब तक वह नीरोग नहीं होता है ।।२।।

तदैव जायते योगी, प्राणसंगहणो क्षमः । (श्रीविद्या तन्त्र ६)



राज योगः

कम्पश्च पुलकानन्दो,
वैमल्यं स्थैर्यलाघवाः ।
तद्वत्कान्तिप्रकाशौ च,
योगसिद्धस्य लक्षणम् ।। (श्री विद्यार्णवतन्त्र)

तदैव = मल निर्गत हो जाने पर ही, **योगी** = योगी, **प्राणसंगहणः** = प्राण वायु को धारण करने में, **क्षमः** = समर्थ, **जायते** = होता है ॥३॥ (श्री विद्यातन्त्र ६)

व्याख्या—उपर्युक्त प्रतीक चित्राङ्कन इसलिये दिया गया है ताकि विषयनिष्ठ तथ्य को पाठक आसानी से समझ सके। चित्र के ऊपर भाग में नाक के छिद्र का चित्र है। जिसके नीचे 'ह' और 'ठ' अक्षर लिखा है। ये 'ह' और 'ठ' इडा और पिङ्गला नाड़ी के वाचक होते हैं। प्राणायाम विधि के द्वारा इडा और पिङ्गला नाड़ी का जब सुषुम्ना नाड़ी में लय कर दिया जाता है तो उसकी स्थिति सूक्ष्म हो जाती है। इसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि—जब सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी अथवा यों भी समझने का तरीका है कि—जब नाक के दोनों छिद्र से श्वास प्रश्वास समान रूप से चलने लगे और उसे सुषुम्ना में लय कर दिया जाय है तो वह प्राणवायु सूक्ष्म हो जाता है। यहाँ यह ध्येय है कि सूर्यनाड़ी से आने-जाने वाले वायु उष्ण (गर्म) और चन्द्रमाड़ी से आगत-निर्गत वायु शीतल होते हैं; और उष्ण तथा शीत के विलय होने पर उसे सुषुम्न कहते हैं। यहाँ समझने मात्र के लिये ऐसा कहा जा रहा है।

सुषुम्ना (स्थानगत) वायु के शोतोष्ण (न ठण्ढ़ा न गरम) रहने के कारण उसे सूक्ष्म कहा जा चुका है। ऊपर चित्र भी उसी अभिप्राय से (ऊपर विस्तार और नीचे पतला) बनाया गया है। अभ्यास द्वारा नीचे मूलाधार चक्र में (चतुर्दलकमल चक्र) वह वायु जब पहुँचता है तो 'ह' और ठ दोनों के मिलन परिणाम की स्थिति को योग शब्द से कहा जाता है अर्थात् सूर्य और चन्द्र (ह और ठ) का योग (मिलन) हठ योग है। कहा है कि— **"यावद्धि मार्गगो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः ।**
असिद्धं तं विज्ञानीयात्, वायुं कर्मवशानुगा ।। (अमृतसिद्धिः)
यावत् प्रस्यन्दते चित्तं, बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु ।
असिद्धं तद्विजानीयात्, चित्तं कर्मगुणान्वितम् ।। (अमृतसिद्धिः)

वपुः कृशत्वं वदनप्रसन्नता, नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगिताग्निर्जयोऽग्निदीपनम् नाड़ी विशुद्धे हठसिद्धिलक्षणम्।।
(श्री विद्यार्णवतन्त्र ६)

साधक का यावत्काल मार्गगत (नाड़ीगत) वायु मध्यमार्गस्थ होकर निश्चल (स्थिर-सूक्ष्म) नहीं हो जाता है तावत् उस साधक को असिद्ध (अयोगस्थ) ही जानना चाहिये। जब वह सिद्ध (योगस्थ) हो जाता है और उसके—

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसो रैक्यं, समाधिरमिधीयते।। (हठयोगदीपिका ४/५)

जिस प्रकार जल में सैन्धव मिलजाने से जो साम्यता होती है, उसी प्रकार आत्मा और मन का साम्य (अभेद) हो जाने पर समाधि होती है। जब आत्मा और मन की साम्यता-समरसता-एकता-अभेदत्व हो जाता है तब वह राजयोग की स्थिति में पहुँच जाता है। इसलिए प्रतीक चित्र द्वारा हठयोग को वृक्ष और राजयोग को उसके फल अर्थात् जन्य-जनक भाव के रूप में दर्शाया गया है। अब राजयोग प्राप्त योगी के लक्षण से सम्बन्धित मूल श्लोक की हिन्दी व्याख्या शब्दशः लिखते हैं—**च** = अन्तर, **कम्पः** = उस साधक के शरीर में कम्पन, **पुलकानन्दः** = आनन्दातिरेक से रोंगटें खड़े हो जाते हैं, **वैमल्यम्** = वह सकल मल रहित नाड़ीवाला हो जाता है, **स्थैर्यलाघवाः** = चित्त स्थिर हो जाता और शरीर में हलकापन का अनुभव होने लगता है, **तद्वत्** = उसी प्रकार, **कान्तिप्रकाशौ च** = उनके शरीर में कान्ति (सुन्दरता) और प्रकाश छा जाता है, **लक्षणम्** = तब उसका लक्षण, **योगसिद्धस्य** = योगसिद्ध का हो जाता है, अर्थात् वह सिद्धयोगी हो जाता है। अब हठयोग का लक्षण कहते हैं—"**हकारः कीर्तितः सूर्यः, ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्याचन्द्रमसोर्योगात्, हठयोगो निगद्यते।।**" (सिद्धसिद्धान्त पद्धतौ) हठ शब्द के हकार सूर्यनाड़ी और उसके ठकार चन्द्रनाड़ी का वाचक है और सूर्य तथा चन्द्र नाड़ियों के योग (मिलन-एकीभाव) को हठयोग कहा जाता है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र)

व्याख्या—वपुःकृशत्वम् = जब साधक का हठ (**ह** = इडा, **ठ** = पिङ्गला) सिद्ध (सुषुम्ना में लीन होकर सूक्ष्म) हो जाता है; तब साधक का शरीर कृश (मोटाई रहित) हो जाता है, **वदनप्रसन्नता** = मुख पर प्रसन्नता की लहर छा जाती है, **नादस्फुटम्** = नाद ब्रह्म का प्राकट्य हो जाता है और, **नयने** = दोनों आखें निर्मल होने के कारण दृष्टि की रोशनी बढ़ जाती है, **अरोगिता** = शरीर रोग रहित हो जाता है, **अग्निर्जयः** = भूख-प्यास सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है, **अग्निदीपनम्** = जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, जिससे पाचन शक्ति बढ़ जाती है, **नाड़ी विशुद्धे** = इस प्रकार नाड़ियों की विशुद्धि जब हो जाती है, **हठसिद्धिलक्षणम्** = तो यही हठयोग सिद्धि का लक्षण है; जानना चाहिये। (श्री विद्यार्णव तन्त्र ६)

पयः—

पय अनेकौषधिरसप्रसादं प्रसादं गुरु ।
सर्वप्राणभृतां सात्म्यम् हिततमम्
रसायनं मेध्यं कर्षितानां पथ्यतमम् ।। (सुश्रुत सं.सू. ४५)

गोःक्षीरम्—

अल्पाभिस्यन्दि स्निग्धं गुरुरसायनं शीतं मधुरं रस पाकयोः ।

१. द्रव्यम् औषधम्

२. रसः मधुरादिः

३. गुणः शीतोष्णस्निग्धरुक्षमन्दतीव्रगुरुमन्दतीव्रगुरुलघुपिच्छलविशदश्लक्ष्ण-परुष कठिनादयः ।

४. वीर्यम् शीतोष्णरुक्षविशदादि गुणेषु अष्टविधम् । शक्तिरूपं यथोष्णवीर्या शिवा शीतवीर्यमामलकम् ।

५. विपाकः परिणामकाले रसान्तरनिष्पत्तिः । (सुश्रुत सं.टी. सू. ४०)

व्याख्या—पयः = दूध, **अनेकौषधिरसप्रसादम्** = अनेकानेक औषधियों के रस के प्रभाव को प्रसादन करने (बढ़ाने) वाला, **प्रसादम्** = प्रसन्नता को, **गुरु** = बढ़ानेवाला, **सर्वप्राणभृताम्** = सभी प्राणधारी जीवों के आत्मा (शरीर) का सबसे अधिक हितकारी होता है । **कर्षितानाम्** = रोगियों के लिए, **मेध्यम्** = उत्तम, **पथ्यतमम्** = और पथ्यकारी है । (सुश्रुत सं.सू. ४५)

व्याख्या—अल्पाभिष्यन्दि = स्वल्पदस्तकारी, **स्निग्धम्** = स्निग्धगुणयुत, **गुरुरसायनम्** = रसायन में उत्तम गुणकारक, **रसपाकयोः** = रस और पाक में, **शीतम्** = ठण्ढ़ा, **मधुरम्** = और मधुर होता है ।

व्याख्या—१. द्रव्यम् = द्रव्य से, **औषधम्** = औषध अभिप्रेत है । **२. रसः** = रस से, **मधुरादिः** = मधुर-तिक्त-कषायादि अभिप्रेत है । **३. गुणः** = गुण से, **शीतोष्णस्निग्धरुक्षमन्दतीव्रगुरुलघुपिच्छविशद-लक्षणपरुषकाठिन्यादयः** = शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, मन्द, तीव्र, गुरुत्व, लघुत्व, पिच्छलता, विशदत्व, श्लक्ष्णता, परुषता और कठिन्यता आदि वैद्यक शास्त्र में ग्रहण किया गया है । **४. वीर्यम्** = वीर्य शब्द से, **शीतोष्णरुक्षविशदादि** = शीत, उष्ण, रुक्ष, विशदादि ग्रहण किया गया है, **गुणेषु** = गुणों में, **अष्टविधम्** = आठ प्रकार के वैद्यक शास्त्रोक्त गुण ग्रहण किये गये हैं । **शक्तिरूपम्** = वीर्य शक्तिरूप है । **यथा** = जैसे कि, **उष्णवीर्या शिवा** = उष्ण वीर्य का गुण हल्दी (हरदी) में पाया जाता है; **शीतवीर्यमामलकम्** = शीतवीर्य का गुण आमलकी (धात्री) में पाया जाता है । **५. परिणामकाले** = परिपाक काल में, **रसान्तरनिष्पत्तिः** = जो रसान्तर की निष्पत्ति (उपलब्धि) होती है, **विपाकः** = उसे विपाक कहते हैं । (सुश्रुत सं.टी.सू. ४०)

पयः—

आमं—अभिस्यन्दि गुरु । श्रितं—लघुतरमनभिष्यन्दि ।

स्त्रिया स्तन्यमामेव हितम् । (सुश्रुत सं.सू. ४५)

धारोष्णं गुणवत्क्षीरम् । अतिश्रितं—शीतं गुरु वृंहणम्[1] ।

ॐ ॐ ॐ ऐं क्लीं सौः नमस्त्रिपुरसुन्दरि मां रक्ष रक्ष ।।

रसाः—

आग्नेयाः—कट्वम्ललवणाः । सौम्याः—मधुरतिक्तकषायाः । (सुश्रुत सं.सू.टीत्र ४०)

पानीयम्—

अन्तरिक्षम्—अनिर्देश्यरसममृतम् जीवनं तर्पणं धारणमाश्वासजनमेकान्ततः पथ्यम् ।।

(सुश्रुत सं.सू.टी. ४५)

माहिषम्—

महाभिष्यन्दिमधुरम्; वह्निनाशनं, निद्राकरं, शीततरं, गव्यात्सिग्धतरं गुरु ।

(सुश्रुत सं.सू.टी. ४५)

व्याख्या—यह त्रिपुर सुन्दरी का मन्त्र "ऊँ ऊँ ऊँ ऐं क्लीं सौः नमस्त्रिपुरसुन्दरि मां रक्ष रक्ष" साधकों-भक्तों के लिए बहुत ही प्रभावकारी है और इच्छित फल को देनेवाला है। इस मन्त्र के आदि में छः बीज लगे हैं, जो पाँचों ज्ञानेन्द्रिय और मन, कुल छहों का शोधन (शुद्धिकरण) और रक्षण करता है। मुख्यतः यह रक्षणकारक ही मन्त्र है।

व्याख्या—पयः = अब दूध का गुण कहते हैं—**आमम्** = वैद्यक शास्त्र में आम से अभिप्राय है—**अभिस्यन्दिगुरु** = जो मल त्याग (दस्त) में गुरु हो अर्थात् पेट साफ करनेवाला हो। **श्रितम्** = श्रित से तात्पर्य है, **लघुतरमभिष्यान्दि** = जो काम (न्यून) दस्तकारी हो। **स्त्रियाः** = स्त्री के ही, **स्तन्यम्** = स्तन से प्राप्त होनेवाला दूध ही, **आमम्** = दस्तकरण गुण में, **हितम्** = हितकारी होता है।

व्याख्या—रसः—कटु, अम्ल और लवणगुण युक्त पदार्थ आग्नेय अर्थात् गर्म स्वभाव के होते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय गुणयुक्त पदार्थ सौम्य अर्थात् शीतकर स्वभाव के होते हैं। (सुश्रुत सं.सू.टी. ४०)

पानीय—अन्तरिक्ष (वर्षा) का जल अनिर्देश्य है, क्योंकि जिसको निर्देश कर प्राप्त नहीं किया जा सकता वह अनिर्देश्य कहलाता है। अतः अनिर्देश्य वर्षा का जल अमृत के समान, जीवन रक्षक, तृप्तिकर, सम्पूर्ण प्राणियों के पोषक, और एकान्ततः पथ्यकारी होता है। (सुश्रुत स.सू.टी. ४५)

माहिष—महिषी (भैंस) का दूध महाभिस्यन्दि (दस्तकारी), मधुर, अग्निनाशक (भूख रोधक), निद्राकारी (आलस्यकर), शीतल परिणामी, गाय के दूध से भी स्निग्ध (चिक्कण) और गरिष्ठ होता है।

(सुश्रुत सं.सू.टी. ४५)

---

1. स्थौल्यकरम् ।

कामराजाष्टादशाक्षरी–

ऐं कएईल ह्रीं क्लीं ह स क ह ल ह्रीं श्रीं सकल ह्रीं ।।

ॐ क्लीं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः क ए इ ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं स्त्रीं ऐं क्रों क्रीं क्लीं हूं ।। (रुद्रयामले)

एकोच्चारेण देवेशि !, वालपेयस्य कोटयः ।
अश्वमेघ सहस्राणि, प्रादक्षण्यं भुवस्तथा ।। (ज्ञानार्णवे)

कामो माया रमा वाला, त्रिकूटा स्त्रीभगांकुशौ ।
काली कामकला कूर्चः, सर्वादौ प्रणवः प्रिये ॥
श्री महाषोडशीया च, या ख्याता भुवनत्रये ।
ज्ञानेन मृत्युहा विद्या, सर्वाम्नायै र्नमस्कृता ॥ (सिद्धयामले)

व्याख्या–यह मन्त्र कामराज के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्त्र की साधना से साधक को सम्पूर्ण मनोरथ की सिद्धि होती है। इसलिए इसका नाम "कामराज" मन्त्र है। चूँकि यह मन्त्र अष्टादश (अठारह) अक्षरवाला है इसलिए इसे "कामराजाष्टाक्षरी" मन्त्र कहा जाता है।

व्याख्या–यह द्वितीय मन्त्र भी कामराज ही है। यह कामराज मन्त्र प्रकारान्तरवाला है। इसमें अठाईस अक्षर है। इसके अनुष्ठान से साधकों-भक्तों के सर्वकाम पूर्ण होता है। (रुद्रयामल)

व्याख्या–देवेशि ! = हे परमेश्वरि !, **एकोच्चारेण =** जो एक बार भी इस मन्त्र का उच्चारण (जप) कर लेता है उसे, **कोटयः =** करोड़ों, **वालपेयस्य =** वाजपेय यज्ञ का फल प्राप्त होता है। **अश्वमेघ सहस्राणि =** हजारों अश्वमेघ यज्ञ का फल प्राप्त होता है, **भवः =** और सम्पूर्णभूमण्डल के, **प्रादक्षण्यम् =** प्रदक्षिणा का जो फल होता है वह फल प्राप्त हो जाता है। (ज्ञानार्णव)

व्याख्या–प्रिये ! = हे पार्वति !, **कामः =** काम बीज, **माया =** माया बीज, **बाला =** बाला बीज, **त्रिकूटा =** त्रिकूट बीज, **स्त्री =** स्त्री, **भगांकुशौ =** और भग और अंकुश बीज, **काली =** काली, **कामकला =** एवं कामकला बीज, **कूर्च =** कूर्च बीज आदि जो-जो बीज अथवा व्याहृतियाँ अथवा श्लोकात्मक मन्त्र हैं, **सर्वादौ =** उन सबके प्रारम्भ करने से पूर्व, **प्रणवः =** प्रणव मन्त्र 'ॐ' का उच्चारण करना आवश्यक है।

या = जो, **भुवनत्रये =** तीनों लोकों में, **श्रीमहाषोडशीया =** महाषोडशी देवी के, **ख्याता =** नाम से विख्यात है, **ज्ञानेन =** उस मन्त्रार्थ की देवी के बोध से, **मृत्युहाविद्या =** जनन-मरण सांसारिक चक्र को निवृत्त करती है। **सर्वाम्नायैर्नमस्कृता =** इसलिए यह सभी आम्नायों में स्थित साधकों द्वारा नमस्कृता अर्थात् पूजनीया है।

विद् ज्ञाने—वेत्ति
विद् विचारणे—विन्ते
विद् सत्तायाम्—विद्यन्ते
विद् लाभे—विन्दति, विन्दते

अथ सञ्जीविनी विद्या ।

शुक्राचार्य ऋषिः, गायत्री छन्दः, सञ्जीवनी देवता ।
ध्यानम्—कर्पूराभां हीरमुक्ता; भूषणभूषिताम्बराम् ।
ज्ञानमुद्रामक्षमालां, दधतीं चिन्तयेत्पराम् ।।
ह्रीं हंसः सञ्जीवनि जूं हंसः कुरु कुरु सौः सौः स्वाहा ।।

(श्री विद्यार्णव त.७)

व्याख्या—अब वेद के सम्बन्ध में लिखते हैं—वेद शब्द के अर्थ को जानने के लिए व्यापक ज्ञान आवश्यक है। वेद शब्द 'विद्' धातु से तत्तत् प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न होकर प्रमुख चार अर्थ को वहन करता है। यथा—"विद् विज्ञाने" अर्थात् विद् धातु का विज्ञान अर्थ प्रयोग अभिप्राय स्थल में 'वेत्ति' रूप बनता है; अतः जिसके द्वारा परमात्म विज्ञान प्राप्त किया जाय वह वेद है—"वेत्ति विद्यामविद्यां च" (श्रुति) प्रयोग भी बहुत-सा देखा जाता है। "वेत्ति अनेन परमात्मविज्ञानमिति वेदः" कहना उचित होगा। "विद् विचारणे" धातु से अर्थ होगा—"विद्यते परमात्मात्मस्वरूप इत्यनेन इति वेदः" जिसके द्वारा अज्ञानी जीवात्मा अपने विस्मृत परमात्मसत्ता को विचारपूर्वक प्राप्त करे वह वेद है। इसी प्रकार "विद् लाभे" धातु से बननेवाला वेद शब्द का अर्थ होगा—"विन्दति, विन्दते अनेन परमात्मलाभ इति वेदः" अर्थात् जिसके द्वारा जीवात्मा मिथ्याभूत अहंकार को त्याग कर परमात्मपुरुष का लाभ प्राप्त करे उसे वेद कहते हैं।

व्याख्या—अब संजीविनी विद्या मन्त्र को कहते हैं—इस संजीविनी विद्या के शुक्राचार्य ऋषि हैं। इसका छन्द गायत्री है और इस विद्या का देवता सञ्जीविनी है। इसके ध्यान के अर्थ का भाव इस प्रकार है—जिसके शरीर की शोभा (वर्ण) कर्पर के समान धवल (उज्ज्वलवर्ण) है और जो हारों-मुक्ताओं के मनकों से गूँथे हार के आभूषणों से विभूषित हैं तथा दिव्य रेशमी साड़ी को पहनी हुई हैं, एवं अक्षमाला तथा ज्ञानमुद्रा को धारण की हुई हैं, ऐसी पराम्बा भगवती का हम ध्यान करते हैं। ध्यान के बाद उसके मन्त्र के जप का विधान है। मन्त्र इस प्रकार है—"ह्रीं हंसः सञ्जीवनि जूं हंसः कुरु कुरु सौः सौः स्वाहा" इस मन्त्र के जप से साधक के आयु-आरोग्य की वृद्धि होती है और वह चिरञ्जीवी होता है।

(श्री विद्यार्णव तन्त्र ७)

सर्पिःपुराणं सरं कटुविपाकं त्रिदोषापहं मूर्छामदोन्मादो दर ज्वर गर शोषापस्मार योनिश्रोत्राक्षिशिरःशूलघ्नं दीपनं वस्ति नस्य पूरणेषूपदिश्यते ।।

(सुश्रुत सं.सू. ४५)

गुडः–

स पुराणोऽधिकगुणः पथ्यतमः स्मृतः । (सु.सं.सू. ४५)

अजपा–

हंसः पदं प्रत्यहं जपते नरः उच्छ्वासे चैव निःश्वासे ।
उत्त्पत्तिर्जप आरम्भो, मृतिरस्य निवेदनम् ।
विना जपेन जपो भवति मन्त्रिणः ।
श्री गुरोः कृपया लभते ।
षष्ठिश्वासैर्भवेत् प्राणः षष्ट्या तै र्नाडिका स्मृता,
षष्टिनाड्या अहोरात्रम् ।
हंसः ऋषिः, अव्यक्त गायत्री छन्दः,
परमहंसो देवता, हं बीजं, सः शक्तिः,

व्याख्या–सर्पि (घृत) कफ, पित्त और वात तीनों को हरण (शमन) करनेवाला, मूर्छा, मद, उन्माद, उदरज्वर, रोग को शमन करनेवाला तथा अपस्मार, योनि, कान, आँख, शिर में होनेवाली पीड़ा को नष्ट करनेवाला, वस्ति (पतला दस्त), नाक आदि के जलन को शमन करता है। अतः उपर्युक्त रोगों के शमन के उपाय के लिए इसका उपदेश किया गया है अर्थात् उस-उस रोगों के निवारण के हेतु प्रयोग करने के लिए कहा गया है। (सुश्रुत सं.सू. ४५)

गुडः–गुड जितना पुराना होता है उतना गुणकारी-पथ्यकारी होता है, ऐसा वैद्यक शस्त्रों में कहा गया है। (सूश्रुत सं.सू. ४५)

व्याख्या–हंस पद (शब्द) को निरन्तर जीवात्मा जपता है। जब हम श्वास ग्रहण करते हैं तो "हं" का उच्चारण (ध्वनि) स्वयं होता है और जब श्वास को छोड़ते हैं तो "सः" का उच्चारण होता है, इसी बात को यहाँ कहा गया है। इतना ही नहीं जब हम इस हंस मंत्र के जप का आरम्भ करते हैं अर्थात् श्वास लेते हैं तभी हमारा जन्म होता है और जब हम उसे छोड़ते है तभी हमारी मृत्यु हो जाती है। इस तरह मन्त्री (जप करनेवाले) का विना जप किये ही निरन्तर जप होते रहता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब हम श्वास को छोड़ते हैं तो एक आवृत्ति (एकबार) मन्त्र का जप हो जाता है अर्थात् हम मर

सोऽहं-कीलकम्, ऊँ-तत्त्वम्, नादः स्थानम्,

श्वेतो वर्णः, उदात्तः स्वरः, मोक्षे विनियोगः। (श्री विद्यार्णव त. ७)

पात्रम्—

दृष्ट्वा पात्रं नारिकेलं, सर्वं पापं प्रणश्यति।

कन्याकोटिप्रदानानि, तथा होमशतानि च॥

तत्फलं कोटिगुणितं, नारिकेलार्घ्यदानतः। (महाहारकतन्त्रे)

हेमराजतपात्राणि, काष्ठमृच्छैलजानि च।

अर्घ्यनैवेद्यपूजार्थं, वलिदाने च कल्पयेत्॥

जाते हैं; फिर जप का प्रारम्भ अर्थात् जीवन (जन्म) कैसे होता है ? इसी का उत्तर यहाँ दिया गया है कि "गुरोः कृपया लभते" अर्थात् हम श्री गुरु जो साक्षात् परमात्मा हैं, उनकी कृपा से जीवन प्राप्त करते हैं। अब उस जप के सम्बन्ध में विशेष कहा जा रहा है कि—

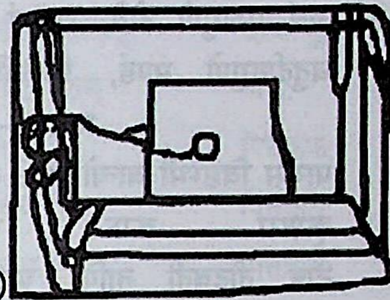
साठ श्वास के आवर्तन को प्राण कहा जाता है और साठ प्राण की नाड़ी कही जाती है एवं साठ नाड़ी का अहोरात्र अर्थात् (दिन और रात-चौबीस घण्टा) होता है। इस तरह परमेश्वर गुरु जिसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश कहा गया है—

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥" ब्रह्मा रूपसे स्रष्टा हैं; इसलिए वे जन्म देते हैं। विष्णु रूप में पालन कर्ता हैं, इसलिए पालन होता है और रुद्र (रुद्र) संहार (मृत्यु) करते हैं, तो हम मरते हैं। अतः प्रत्येक श्वास-प्रच्छ्वास में हम जीते मरते हैं। इसलिए सदा उन परमात्मा-परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये, जिनसे हमारा निरन्तर जीवन रक्षित हो रहा है। जिस क्षण श्वास छोड़ने के बाद नहीं आवेगा अर्थात् जब गुरु कृपा नहीं होगी तो उस क्षण हम मृत्यु अवस्था में पड़े रह जायेंगें, इस बात का निरन्तर ध्यान रखें। अब उस अजपा हंस मन्त्र के ऋष्यादि के सम्बन्ध में कहते हैं—यह जो हंस मन्त्र है उसके हंस नामक ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है और परमहंस नामक देवता ही देवता है। इसके "हं" बीज, "सः" शक्ति, "सोहं' कीलक, 'ऊँ' तत्त्व, नाद स्थान, श्वेत वर्ण, उदात्त-स्वर है तथा मोक्ष कर्म में इसका विनियोग (प्रयोग) करने का विधान है।

(श्रीविद्यार्णव तन्त्र ७)

व्याख्या—नारिकेलम् = नारियल के पात्र को, **दृष्ट्वा** = देखने मात्र से ही, **सर्वम्** = सम्पूर्ण, **पापम्** = पाप, **प्रणस्यति** = नष्ट हो जाते हैं, **नारिकेलार्घ्यदानतः** = एवं नारिकेल के पात्र से दिये गये अर्घ्य दान से, **कन्याकोटिप्रदानानि** = कोटि कन्यादान करने से जो फल प्राप्त होता है, **तथा** = तथा,

ताम्रपात्रेण सौभाग्यम्, (देवीभागवते)
धर्मं मृन्मयसम्भवे, (शिव रहस्ये)
ऐं क्लीं सौः धर्माधर्महविर्दीप्ते,
आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्ना वर्त्मना नित्य,
मक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम्॥ (श्रीवि.त. १५)



सौ सुवर्णदान से जो फल प्राप्त होता है, **तत्फलं** = उन फलों से, **कोटिगुणितम्** = कोटिगुणा अधिक फल नारिकेल के पात्र से दिये गये अर्घ्य से प्राप्त होता है। (महाहारकतन्त्र)

हेमरजतपात्राणि = सुवर्ण और रजत पात्र, **च** = तथा, **काष्ठमृच्छैलजानि** = मिट्टी, पाषाण और काष्ठ के पात्र, **अर्घ्यनैवेद्यपूजार्थम्** = अर्घ्य, नैवेद्य और पूजा के प्रयोग में, **च** = एवं, **वलिदाने** = वलिदान कार्य के, **कल्पयेत्** = प्रयोग में लाना शास्त्रविहित है। अतः उपर्युक्त कार्यों में उसे प्रयोग करे। (महाहारकतन्त्र)

ताम्रपात्र के प्रयोग से सौभाग्य की अभिवृद्धि होती है। (देवीभागवत) मृन्मय (मिट्टी से बने) पात्र को प्रयोग में लाने पर धर्म की अभिवृद्धि होती है। (शिवरहस्य)

हवनात्मक यज्ञ करना अथवा अनुष्ठानान्तर्गत अंगभूत दसांश हवन करने का अध्यात्म विज्ञान है, उससे हम दूर होते जा रहे हैं। अगर हम अपने पूर्वज ऋषियों, व्रतियों, यतियों, मुनियों, महर्षियों, परमर्षियों द्वारा खोज किये गये अध्यात्म विज्ञान को नहीं खोते, तो आर्यों की यह पावन भूमि भारतवर्ष आज भी स्वर्णविहग (सोने की चिड़िया) ही होता। हमने महत् अध्यात्म को खो दिया है और उसे प्राप्त करने के लिये महच्चिन्तन-मनन-प्रयत्न करने की आवश्यकता है। क्या है वह अध्यात्म विज्ञान ? जिसे हमने खोया है ? इसके उत्तर में प्रसंगतः उपरिगत मूल संस्कृत वाक्य की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। हम हवन करते है, परन्तु हवन के मूल उद्देश्य से अनभिज्ञ रह जाते हैं। वर्तमान कर्मकाण्डगत हवनादि में तो मन कहीं, शाकल्य कहीं, मन्त्र कहीं रहता है तथा मन्त्रवक्ता ऋत्विज् ब्राह्मणों एवं यजमानों के मन्त्रार्थ से सम्बन्ध नहीं होने से वह हवनादि-पूजनादि जलप्रताड़न (पानी पीटना) मात्र ही है। जबकि यह प्रचलित कर्मकाण्ड प्रतीक मात्र है। प्रतीक उपासना द्वारा मुख्य उपासना में प्रविष्टि (योग्यतार्जन) ही कर्मकाण्ड का मुख्य उद्देश्य है। अब मुख्य उद्देश्य की ओर चलते हैं— यहाँ श्रीविद्यार्णव तन्त्रान्तर्गत विज्ञान को उधृत कर रहे हैं। अतः मूल से सम्बन्ध रखकर विचार करें— "ऐं क्लीं सौः" यह मंत्र का बीज है और मन्त्र है—**धर्माधर्महविर्दीप्ते** = धर्म और अधर्म रूपी हवि

अन्नं पञ्चगुणे तोये, यवागूं षड्गुणे पचेत्।
चतुर्दशगुणे मण्डं, विलेपी तु चतुर्गुणे।। (सुश्रुत सं. सू.टी. ४६)

पायसः–

पायस विष्टम्भी वल्यो मेधः कफकरो गुरुः।
कृशरा कफ पित्तकरावल्या (सुश्रुत सं.सू. ४६ मूल)
दाह तोदवती तापि, म्राटकावर्त्मसम्भवा।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा, सा ज्ञेयाञ्जनिनामिका।। (सुश्रुत सं. उत्तरार्ध. ४)

अर्थात् घृत से प्रज्ज्वलित, **आत्माग्नौ** = आत्मारूपी अग्निमें, **मनसास्त्रुचा** = मनरूपी स्त्रुक् (स्त्रुवा) से, **सुषुम्नावर्त्मना** = सुषुम्ना मार्ग होकर, **नित्यम्** = निरन्तर, **अक्षवृत्तीः** = इन्द्रियों की वृत्तियों (क्रोध, मोह, लोभ, वासना आदि के व्यापारों) को, **अहम्** = मैं, **जुहोमि** = हवन करता हूँ। कितना उत्तम हितकारी यह अध्यात्म विज्ञान है हमारा। यदि हम इस अध्यात्म विज्ञान के कर्मकाण्ड के साथ सम्बन्ध को विस्मृत नहीं किये होते तो इस तप:पूत पावन भूमि भारतवर्ष की यह दुर्दशा नहीं हुई होती और आज गाँधीवादी किसी अन्ना हजारे जैसे राष्ट्रवादी व्यक्ति को राष्ट्र में कैंसर का रूप धारण कर चुके भ्रष्टाचरण के विरुद्ध अहिंसक आन्दोलन और आमरण अनशन के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता तथा न ही राष्ट्र की जनता आक्रोशित होकर उनके साथ हो सड़कों पर उतरी होतीं। भौतिक वस्तुओं में वासनाधिक्य ही भ्रष्टाचार का जनक होता है एवं सभी अनर्थ का कारण होता है। अपने ज्ञान-विज्ञान का तिरस्कार और परविज्ञान के प्रति समादरभाव से राष्ट्र की सद्गति नहीं हो सकती। "स्वधर्मे निधनो श्रेय: परधर्मो भयावह:" वर्तमान भारतवर्ष को देख ही रहे हैं कहने की आवश्यकता नहीं है। जब अपने घर में कोई वस्तु नहीं होती तभी दूसरे से लिया जाना उपयुक्त होता है; परन्तु ऐसा नहीं हुआ और नहीं होता है। यहाँ तो शिक्षा पद्धति भी विदेशी मैकाले से उधारी चल रही है। (श्री विद्यातन्त्र १५)

व्याख्या–अन्न से पाँच गुणा पाचन शक्ति जल में और छः गुणा जौ की लप्सी में, चौदह गुणा माँड़ में तथा विलेप (मलहम) में चार गुणा होता है। (सुश्रुत सं.सू.टी. ४६)

पायस–पायस मलावरोधक, गरिष्ठ, मेध, कफकारी और गरिष्ठ होता है।

कृशरा–कृशरा (खिचड़ी) कफ और पित्तकारी तथा वल्य होता है। (सुश्रुत सं.सू. ४६)

अञ्जन–आँजन ताम्रपात्र में बना हुआ दाहकारी और सूजन करनेवाली होती है। जो आँजन पिटिका में बनायी जाती है वह मृद्वी (मुलायम-कोमल) एवं रोग को मन्द करनेवाली होती है तथा पिटका गर्भ से निर्मित को ही आँजन कहते हैं। (सुश्रुत सं. उत्तरार्ध ४)

हेतवः	रसाः	दोषशमनम्	दोष-कुपितम्
भूमिजलम्	मधुरः	वातपित्तम्	कफः
भूमिअग्निः	अम्लः	वातः	पित्तकफः
जलअग्निः	लवणः	वातः	पित्तवातः
वायुअग्निः	कटुः	कफः	पित्तवातः
वायुव्योमः	तिक्तः	पित्तकफः	वातः
वायुभूमिः	कषायः	पित्तकफः	वातः

(चरक सू.)

फलैर्वनस्पतिः—

फलैः पुष्पै वानस्पतयः

फलपाकान्ताः ओषधयः

प्रतोनेः वीरुधः

व्याख्या—भूमिजलः—भूमिगत जल मधुर और वातपित्त को शमन करनेवाला तथा कफ को कुपित करनेवाला होता है ।

भूमिअग्निः—भूमि की अग्नि अम्ल रस युक्त, वात को शमन करनेवाला और कफपित्त वर्धक होता है ।

जलअग्निः—जलगत अग्नि लवण रस से युक्त, वात शामक और पित्तवात को कुपित करनेवाला होता है ।

वायुअग्निः—वायुअग्नि कटु रस से युक्त, कफ शामक और पित्तवात को कुपित करनेवाला होता है ।

वायुव्योमः—वायव्योम तिक्त रस से युक्त तथा पित्तकफ का शामक एवं वात को कुपित करनेवाला होता है ।

वायुभूमिः—वायुभूमि कषाय रस से युक्त, पित्तकफ का शामक तथा वात को कुपित करनेवाला होता है । (चरक सू.)

व्याख्या—फल और पुष्प से युक्त को वनस्पति कहते हैं । फल और पुष्प के पकजाने पर वह औषधि कहलाता है । तरु के डाल काटने पर बढ़ते हैं तो वे वीरुध कहलाते हैं ।

मनःशिला मरीचानि तैलमर्कं पयः
कुष्ठहरप्रदः (चरक सू. ३/१२)
शूद्रसंकरजातीनां नाध्वशुद्धिर्विधीयते।
पादोदकप्रदानाद्यैः कुर्यात् पापविमोचनम्।।

(श्री विद्यार्णव त. १३)

षडध्वा–

१. कलाध्वा – निवृत्ति प्रमुखाः
२. तत्त्वाध्वा – षड्त्रिंशप्रभृतीनि
३. भुवनाध्वा – लोकाः
४. वर्णाध्वा – आदि क्षान्ताः
५. पदाध्वा – वर्णवृन्दम्
६. मन्त्राध्वा – पदसंचयः। (श्री विद्यार्णवतन्त्र १३)

व्याख्या–मैनसिल, मरीच, तैल और आक (अर्क) के दूध को मिलाकर कुष्ट के घाव पर लगाने से कुष्ट रोग की शान्ति हो जाती है। (चरक सू. ३/१२)

शूद्र एवं संकर जाति की अध्व शुद्धि नहीं हो पाती है। पादोदक आदि प्रदान करके उसके पाप (मल) की शुद्धि हो जाती है। पादोदक ग्रहण श्री गुरुचरणों का यहाँ विहित है। (श्री विद्यार्णतन्त्र १३)

अध्व छः प्रकार के हैं।

(१) **कलाध्वा**–कलाध्वा प्रमुखरूप से निवृति से सम्बन्ध रखता है।

(२) **तत्त्वाध्वा**–तन्त्र मार्ग में जो छत्तीस तत्त्व ग्रहण किये गये हैं, तत्त्वाध्वा उससे सम्बन्धित है।

(३) **भुवनाध्वा**–भुवनाध्वा तीनों लोकों से सम्बन्धित है।

(४) **वर्णाध्वा**–वर्णाध्वा 'अ' वर्ण से 'क्ष' वर्ण तक के अक्षरों से सम्बन्धित है।

(५) **पदध्वा**–वर्णाध्वा अर्थात् वर्ण (अक्षर) समूह से बने पद यथा–राम, कृष्ण, गोविन्द, काशी, हरिद्वार, मथुरा आदि से सम्बन्धित है।

(६) **मन्त्राध्वा**–मन्त्राध्वा प्रभावकारी पदों के संचय से सम्बन्धित है। यथा–ऊँ ऐं ह्रीं क्लीं चामुडायै विच्चे, ऊँ तत्सवितुर्वरेण्यं भगो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् आदि।

चितश्चेत्योन्मुखत्वं–चित्तम् ।
विचारेण–शाम्यति ।
चेत्यसम्भवबोधेन चित्तं न वासना न ।
कथं न सम्भति चेत्यं! अनुभूयते
यादृग्जगदज्ञ विषयं तस्य न सत्यता
यादृक्तज्ञविषयं तनाख्य मद्द्वयम् ।।
आद्यन्तद्वैतमज्ञानां, तज्ज्ञानानां, तन्न विद्यते ।
जगच्च नो सम्भवति, नित्यानुत्पन्नमादितः ।। (यो.वा.नि. १९०)
आत्ममन्त्रः–ॐ ह्रीं हंसः सोऽहं स्वाहा ।। (श्री विद्यार्णवत. १५)

व्याख्या–चेतन का चेत्य (प्रकृति) की ओर उन्मुख होना ही चित्त कहलाता है अर्थात् जब चेतन चेत्य-अन्तःकरण की ओर अभिमुख हो उसमें अपने प्रतिबिम्ब (छाया) में अहंकार (मैं हूँ) करता है तब वह चित्त कहलाता है। उस चित्त की शान्ति (लय-नाश) विचार अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति वाक्यों के युक्ति-युक्त मनन से होता है।

विचार करने पर जब यह बोध हो जाता है कि यह जड़ अन्तःकरण में प्रतिविम्बित प्रतिविम्ब मैं नहीं हूँ अर्थात् यह शरीरादि मैं नहीं हूँ, तो न ही चित्त की सत्ता रह जाती है और न ही वासना का उद्भव होना ही सम्भव रह जाता है। यह प्रश्न मूल में किया जाता है कि—"कथं न सम्भवति चेत्यम् ? अर्थात् चेत्य जगत् वस्तु की सत्ता कैसे कह सकते हैं कि नहीं है ? उत्तर है—अज्ञानियों के द्वारा जैसा दृश्य जगत् का विषय (ग्रहण) किया जाता है वैसे दृश्य में उसकी स्वसत्ता नहीं होती अर्थात् उसकी सत्यता नहीं होती, ऐसा अनुभव होता है। क्योंकि कारण सत्ता अतिरिक्त सत्ता वस्तु की नहीं देखी जाती। यथा स्वर्ण निर्मित कवच-कुण्डलादि की सुवर्ण सत्ता अतिरिक्त सत्ता नहीं होती। यही अनुभव जगत् प्रपञ्च में भी काम करता है। जितनी भी जगत् वस्तु को हम देखते और उसको उस रूप में जानते हैं, वे सभी वस्तु जगत् के उपादान कारण अद्वय ब्रह्म की ही है। इसे सुस्पष्ट करने के लिए कहते हैं—अज्ञानियों का जो यह जगत् है, वह आदि और अन्त से युक्त है तथा वह द्वैतरूप है, परन्तु ज्ञानियों (तत्त्वज्ञ) की दृष्टि में वह जगत् उस रूप में वैसा नहीं है जैसा अज्ञानियों का होता है। अज्ञानियों की दृष्टि में जगत् की सत्ता सत् है जो भ्रम मात्र ही है, परन्तु तत्त्वज्ञों की दृष्टि में जगत् की सत्ता सम्भव नहीं है; क्योंकि आदिकाल से ही कभी भी उसकी उत्पत्ति हुई ही नहीं है। (योग वा. निर्माण ख. १९०)

व्याख्या–अब आत्ममन्त्र को कहते हैं—यह "ॐ ह्रीं हंसः सोऽहं स्वाहा" आत्ममन्त्र है। इस मन्त्र के जप (मनन-ध्यान) करने से आत्म-परमात्म ऐक्य बोध प्राप्ता होता है। (श्रीविद्यार्णव तन्त्र)

ब्रह्मार्पणमन्त्रः–

ॐ इतः पूर्वं प्राण-बुद्धि-देह-धर्माधिकारेण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु अवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तच्च सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु ठः ठः स्वाहा ।।

(श्री विद्यार्णव त. १३)

अष्टाङ्गनमनम्–

हस्त-पद जानु वक्षःमूर्धा दृष्टिःवाक् चित्तम् एतैः ।

पञ्चाङ्गनमनम्–

हस्त जानु शिरो वाक्यधीभिः । (श्री विद्यार्णव त. १३)

व्याख्या–अब ब्रह्मार्पणमन्त्र को लिखते हैं—ब्रह्म (परमात्मा) को सम्पूर्ण कर्म अर्पण किये जाने हेतु जिस मन्त्र को जपते हैं वह मन्त्र 'ब्रह्मार्पण' मन्त्र कहलाता है। मन्त्र शब्द "मन्तृ गुप्त सम्भाषणे" धातु से सम्पन्न होता है। जिसका अर्थ है—मन ही मन मनन करना, स्वयं से विचार करना अर्थात् जहाँ—जिस स्थिति में कोई द्वितीय चिन्त्य वस्तु न हो, उसे मन्त्र कहते हैं। अब ब्रह्मार्पणमन्त्र की व्याख्या करते हैं— मन्त्र के आदि में 'ॐ' प्रणव है। आगे कहते हैं—**इतः** = अब से, **पूर्वम्** = पहले, **प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारेण** = प्राण, बुद्धि और देह के धर्म में अपने अहंकार पूर्वक जो भी, **जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमवस्थासु** = जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्वाओं में स्थित रहकर, मनसा–मन से, वाचा = वाणी से, **कर्मणा** = कर्म से, **हस्ताभ्याम्** = दोनों हाथों से, **पद्भ्याम्** = दोनों पैरों से, **उदरेण** = उदर से, **शिश्नया** = शिश्ना (जननेन्द्रिय) से, **यत्स्मृतम्** = जो कुछ भी स्मरण किया, **युदक्तम्** = जो कुछ भी बोला, **यत्कृतम् च** = और जो कुछ भी मैंने किया, **तत्सर्वम्** = वे मनसा-वाचा-कर्मणा किये हुए सम्पूर्ण कर्म, **ब्रह्मार्पणम्** = ब्रह्म-परमात्मा को समर्पण, **भवतु** = हो जाय, **ठः ठः** = यह मन्त्रान्त बीज है और स्वाहा का अर्थ है उन कृतकर्म को हम ठीक-ठीक ढ़ंग से सतर्कता और यत्लपूर्वक ब्रह्म रूपी अग्नि में हवन करते हैं। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १३)

व्याख्या–साष्टाङ्ग प्रणाम करने की विधि के अन्तर्गत-हाथ-पैर, जानु (घुटने), वक्षस्थल, मूर्धा (मस्तक), दृष्टि, वाक् (वाणी) और चित्त (मन), इन अंगों के द्वारा प्रणिपात (प्रणाम) करने का विधान किया गया है।

पञ्चाङ्ग प्रणाम करने की विधि में–हाथ, जानु, मस्तक, वाक्य और बुद्धि के द्वारा प्रणाम करने की विधि कही गयी है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १३)

स्वयं ज्योतिर्मयीं विद्यां, गच्छान्तीं भावयेद्गुरुः ।
आगतां भावयेच्छिष्यः, धन्योस्मीति विशेषतः ।।
गुरुदेवात्ममन्त्राणां, ऐक्यं शिष्यो विभावयेत् ।। (श्री विद्यार्णव त. १३)
गुरुशिष्यावुभौ मोहा, दपरीक्ष्यपरस्परम् ।
उपदेशं ददद् गृहणन्, तौ प्रयातां पिशाचताम् ।।
अशास्त्रीयोपदेशं तु, यो गृहणाति ददाति च ।
भुञ्जाते तावुभौ घोरान्, नरकानेकविंशतिम् ।। (श्री विद्यार्णव त. १३)

व्याख्या--यहाँ दीक्षाविधि के सम्बन्ध में कहा गया है। दीक्षा विधि अनेक प्रकार के होते हैं, जो उन-उन सम्प्रदायों में उन-उन विधियों द्वारा, शरणागत शिष्यों को प्रदान किये जाते हैं। यहाँ भावदीक्षा विधि को कहा गया है। भावविधि दीक्षा के अतिरिक्त और कई दीक्षाएँ प्रचलित रहे हैं; जैसे-मन्त्रविधि, आचारविधि, संस्कारविधि, कृपाविधि, दृष्टिपातविधि आदि। इन विधियों में से किसी एक के द्वारा अपने साम्प्रदायिक परम्परानुसार शिष्यों में दीक्षा का आधान किया जाता है। अब प्रसंग में उपस्थित भावविधि गर्भित श्लोक की व्याख्या लिखी जा रही है—**गुरुः** = गुरु, **स्वयंज्योतिमयीम्** = स्वयं प्रकाशमयी, **विद्याम्** = विद्याको, **गच्छन्तीम्** = शिष्यों के प्रति जाती हुई की, **भावयेत्** = भावना करे। **शिष्यः** = और शिष्य, **विशेषतः** = विशेषरूप से, **धन्यः** = मैं धन्य, **अस्मि** = हूँ इस भाव की प्रबलता पूर्वक, **आगताम्** = दीक्षामन्त्र के अपने में आने का अर्थात् आधान होने की भावना करे। **गुरुदेवात्ममन्त्राणाम्** = और गुरु-देव, आत्मा (स्वयं), और मन्त्र का, **ऐक्यम्** = एकता की, **शिष्यः** = शिष्य, **भावयेत्** = भावना दृढ़ करे ताकि गुरु-देव-आत्मा और मन्त्र सबों में अभेद बोध (अखण्ड) बुद्धि उत्पन्न हो। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १३)

अब दीक्षा के आधान में किसी दोष का समावेश न हो इसके लिए सावधान करने के उद्देश्य से प्रावधान किया जा रहा है, ताकि इस परम्परा की पवित्रता की अखण्डता बनी रहे—**मोहात्** = यदि मोह में आवृत्त होकर, **परस्परम्** = एक दूसरे (गुरु शिष्य को और शिष्य गुरु) को, **अपरीक्ष्य** = परीक्षण किये विना अनधिकारी को दीक्षा का आदान-प्रदान करते हैं तो, **उपदेशम्** = गुरु के द्वारा उपदेश, **ददन्** = देते हुए, **गृहणन्** = और शिष्य के द्वारा उसे ग्रहण करते हुए, **गुरुशिष्यौ** = गुरु और शिष्य, **तौ** = उन, **उभयौ** = दोनों ही, **पिशाचताम्** = पिशाच योनि को, **प्रयाताम्** = प्राप्त होते हैं। **च** = और, **यः** = जो, **अशास्त्रीयोपदेशम्** = शास्त्र में बताई गयी विधि से भिन्न अर्थात् स्वेच्छाचारिता पूर्वक दीक्षामन्त्र का उपदेश, **ददाति** = प्रदान करते हैं अर्थात् दीक्षामन्त्र देते हैं, **गृहणति** = तथा जो उसे ग्रहण करते हैं, **तौ** = वे, **उभौ** = दोनों, **नरकानेकविंशतिम्** = जहाँ पर बीस-बीस संख्या की अनेक प्रकार की कोटि हों, ऐसे नरक की, **घोरान्** = भयङ्कर यातनाओं को, **भुञ्जाते** = भोगते हैं। इसलिए लोभ-मोह-क्रोध-मद-मात्सर्य आदि अवगुणों से रहित गुरु-शिष्य ही दीक्षामन्त्र के दान और ग्रहण के अधिकारी हैं। आजकल कतिपयजन इस विधान का ध्यान न रखकर दीक्षा प्रदान करते देखे जाते हैं, उन्हें इस विधियों-नियमों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १३)

श्रीकुलसुन्दरी–ऐं क्लीं सौः दक्षमूर्तिः पङ्क्तिः । (तन्त्रराजे)

चित्तं हि करणं त्वस्याः, संसारानुभवे चितेः ।
न च तत्कारणं किञ्चित्, चित्त्वान्यत्त्वात्यसम्भवात् ।।

(योग वा.नि. ३१/४)

व्याख्या–श्रीकुलसुन्दरी मन्त्र यह है—"ऐं क्लीं सौः" इसकी दक्षमूर्ति (दक्षिणामूर्ति) ही मूर्ति है और पङ्क्ति छन्द है। (तन्त्रराज)

व्याख्या–संसारानुभवे = सांसारिक अनुभव स्थल में, **चित्तम्** = चित्त, **हि** = ही, **अस्याः** = इस, **चितेः** = चिति शक्ति का, **तु** = निश्चित, **करणम्** = करण है। **तत्** = क्योंकि, **कारणम्** = उस चिति शक्ति का कारण, **किञ्चित्** = कुछ भी, **न च** = नहीं है। **चित्त्वान्यत्त्वात्यसम्भवात्** = अविद्याकृत इस असत् जगत्कर्म का अन्य (सत्) रूप से उपस्थिति सम्भव नहीं हो सकता। (यो.वा.नि. ३१/४)

व्याख्या–दृश्यदर्शनद्रष्टृरूपम् = दृश्य, दर्शन और द्रष्टा रूपसे जो इस आत्मा में आरोप कर व्यवहार होता है वह सत्, **न** = नहीं है असत् ज्ञान ही है वह, **उपले** = क्योंकि पत्थर में, **तैलम् इव** = तैल जिस प्रकार प्रविष्ट नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा में दृश्य-दर्शन और द्रष्टाभाव का समावेश सम्भव नहीं है। **न कर्म** = परमात्मा में न कर्मभाव है, **न कर्तृ** = न कर्तृत्व भाव है, **न करणम्** = और न करण (कार्य के प्रति साधन) भाव ही सिद्ध हो सकता है, **दृशीन्दु** = वह आँख में तारा के, **इव** = समान, **कृष्णता** = कालिमा दर्शन मात्र है अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अन्धकार स्वरूपवाला न होने पर भी आँख के तारा में चक्षु इन्द्रिय का प्रयोग आरोप मात्र है, वास्तविक नहीं। आत्मा उपर्युक्त धर्मों से रहित है ऐसा जानना चाहिये।

न मातृमेयमानानि = उस परमात्मा को न तो किसी प्रमाण से मापा जा सकता और न ही उसके द्वारा किसी वस्तु को माप सकता, इसी प्रकार वह मेय–नापने योग्य प्रमाण स्वरूप वाला है ऐसा भी नहीं कह सकते एवं उसका मान इयत्ता (इतना) मात्र है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। उसमें किसी प्रकार की कल्पना करना, **नभसि** = आकाश में, **नवाङ्कुर इव** = नवीन अंकुर के समान ही है। **न चिच्चेतन न चेत्यादि** = इसमें न तो चित्त की कल्पना सम्भव है, न चेत्य जड़ प्रकृति जन्य अन्तःकरण की स्थिति बन सकती, न कोई और ही प्रकार से कल्पना हो सकती है। **नन्दने** = नन्दनवन में, **खदिरः** = खैर वृक्ष की, **यथा** = जिस प्रकार कल्पना करना असत् है, उसी प्रकार सभी कल्पनाओं से शून्य यह परमात्मा ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मों से कल्पनातीत है।

नाहंत्व = यहाँ ब्रह्म परमात्मा में न तो अहंकार अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार से कर्तृत्व नहीं है, अतः आत्मा (ब्रह्म) में निरहंकारत्व ही अन्ततः सिद्ध होता है। **न त्वंत्व** = यहाँ इस ब्रह्म में त्वम् (तुम) शब्दालम्बन भी नहीं बन सकता क्योंकि यह अद्वितीय (अद्वैत) स्वरूप है। **तत्त्वादि** = न इसमें जल-

न दृश्यदर्शन द्रष्टृ, रूपं तैलमिवोपले ।
न कर्तृ-कर्म-करणं, दृशीन्दाविव-कृष्णता ।।
न मातृ-मेय-मानानि, नभसीव नवाङ्कुरः ।
न चिच्चेतन चेत्यादि, नन्दने खदिरो यथा ।।
नाहंत्व त्वंत्व तत्त्वादि, पर्वतत्त्वमिवाम्बरे ।
सदेहत्त्वान्यदेहत्त्वे, शंखत्वमिव कज्जले ।।
(यो.वा.नि. ३४/४)

नानानामाबचाप्यन्तर, रणाविव सुमेरवः ।
न शतदार्थ शब्दश्रीः, महोषर लता यथा ।।
नेति-नेति चैवार्क, मण्डले रजनी यथा ।
केवलं केवली भाव, स्वच्छतैवावशिष्यते ।।
(यो.वा.नि. ३४/४)

अग्नि आदि तत्त्वरूपता कल्पन संभव है । क्योंकि उन भौतिक तत्त्वों से वह परमा परे है, **पर्वतत्त्वम्** = पर्वत-वृक्ष आदि वस्तुओं की, **अम्बरे** = आकाश में, **इव** = कल्पना के समान ब्रह्म में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कल्पित-असत् और मिथ्या रूप से कल्पित है, क्योंकि ये उनका स्वरूप नहीं है । वह ब्रह्म सभी प्रकार के विकारों, दोषों और आधाराधेय भावों से रहित शुद्ध चेतन स्वरूप निर्विकार है । **सदेहत्वान्यदेहत्वे** = क्योंकि सदेहत्व और परदेहत्व की परिकल्पना करना, **कज्जले** = कज्जल (कालिमा) में, **शंखत्वम् इव** = शंख के समान धवलता (स्वच्छ-सफेद) कहने जैसा सर्वथा मिथ्या-असत् ही है । (योग वा.नि. ३१/४)

व्याख्या—यथा च = और जिस प्रकार, **अप्सु** = जल में, **नानानाम** = अनेक प्रकार के, **सुमेरवः** = सुमेरु पर्वत का, **अन्तरणौ इव** = प्रतिबिम्ब के उतर जाने से उस जल में पर्वत की उपस्थिति असत् ही है; **महोषरलता** = अत्यधिक ऊपर भूमि में लतादि कोमल प्रकृति के वनस्पति का, **यथा** = जिस प्रकार होना असम्भव होता है, **न शब्दार्थशब्दश्रीः** = उसी प्रकार उस ब्रह्म को जानने में शब्दार्थ और शब्द विलास का सामर्थ्य नहीं होता, क्योंकि वह शब्दार्थातीत और शब्दातीत वस्तु है । **यथा** = जिस प्रकार, **अर्कमण्डले** = सूर्यमण्डल में, **रजनी** = रात्रि अर्थात् अन्धकार का, **न च** = होना सम्भव नहीं हो सकता, उसी प्रकार सकल उपमा, उपमेय, दृष्टान्तादि से रहित, **केवलम्** = केवल, **केवलीभावस्वच्छता एव** = स्वच्छ केवलीभाव (अद्वैतभाव) ही, **अवशिष्यते** = वहाँ उस ब्रह्म में अवशेष रह जाता है । (यो.वा.नि.)

सुखदुःखयोः = सुख और दुःख, **अविनाभावनिष्ठत्वम्** = एक के बाद एक के उदय होने वाले

अविनाभावनिष्ठत्वं, प्रसिद्धं सुख-दुःखयोः ।
यत्सुरवायतदेवाशु, वस्तु दुःखाय नाशतः ।।

(यो.वा.नि. १२०)

चित्क्षेत्रे कलनाबीजं, यदेतत्पतितं स्फुरन् ।
चित्ताङ्कुरं तदेतस्मा, भाविसंसारकण्डकम् ।।

(यो.वा.नि. १२०)

पुरश्चरणम्–



जपो होमः तर्पणं च सेको ब्राह्मणभोजनम् ।
पञ्चाङ्गोपासनं लोके, पुरश्चणमुच्यते ।। (वैष्णवतन्त्रे)



संकल्पो कलनोन्मुक्ते, स्वसविन्मात्रकोटरे ।
यस्तिष्ठत्यात्मनि स्वैर, मात्मारामो महेश्वरः ।।

हैं, क्योंकि सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख एक दूसरे के विना नहीं रह सकता, **यत्** = जो, **वस्तु** = वस्तु, **सुखाय** = सुख देता है, **तदेव** = वही वस्तु, **नाशतः** = नष्ट हो जाने पर, **दुःखाय** = दुःख को जन्म देता है। अतः सुख और दुःख वस्तु में अविनाभावनिष्ठ रूप से स्थित रहता है, और वह वासना जनित असत् रूप है। (योग वा.नि. १२०)

चित्क्षेत्रे = अन्तःकरण में, **कल्पनाबीजम्** = वासना का बीज का स्थान होता, **यत्** = जो कलनाबीज, **एतत्** = यह वस्तु-यह वस्तु की, **स्फुरन्** = इच्छा से स्फुरित होता हुआ, **चित्ताङ्कुरम्** = चित्त में अंकुरि हो जाता है, **तदेततम्** = वही इस, **संसारकण्डकम्** = संसार को उत्पन्न करनेवाला है उसी संसारकन्द से, **आविः** = संसार की उत्पत्ति होती है। अतः चित्त में स्थित वासना ही जगत् के आविर्भाव का हेतु है।

व्याख्या–अब वैष्णवों के सम्प्रदायानुसारी पुरश्चरण, विधि कहते हैं—**जपः** = उपास्य इष्ट देव के नाम मन्त्र का पुश्चणसंख्या जप, **होमः** = किए गए पुरश्चरण संख्या की सफलता हेतु दृष्टदेव के नाम मन्त्र जप का दसांश उसी मन्त्र से हवन, **तर्पणम्** = किए गए हवन संख्या के दसांश तर्पण, **सेकोब्राह्मणभोजनम्** = ग्यारह-इक्कीस आदि एक संख्या सहित संख्या के ब्राह्मणों का भोजन, **पञ्चाङ्गोपासनम्** = दोनों हाथ, दोनों पैर और वाणी से उपास्य की सेवा करना, **लोके** = वैष्णव लोगों में, **पुरश्चणम्** = पुरश्चण, **उच्यते** = कहा जाता है। (वैष्णव तन्त्र)

व्याख्या–**यः** = जो साधक व्यक्ति, **संकल्पः** = सकल्परूपी, **कलनोन्मुक्ते** = इच्छा से मुक्त हो गया है अर्थात् सम्पूर्ण चित्तवृत्ति बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में अक्षम हो गया है और जिसके मात्र परमात्मतत्त्व ही ग्रहण करने का अभ्यास हो चुका है ऐसे पुरुष, **स्वसविन्मात्रकोटरे** = स्वविज्ञानरूपी हृदय गुफा रूप, **आत्मनि** = आत्मा में ही वह, **आत्मारामः** = आत्माराम, **महेश्वरः** = मैं सबों के ईश्वर

अन्तर्मुखतया नित्यं, कार्यमाहरतां बहिः।
जीवतामपि नोदेतिः वासना दृषदामिव ।। (योग वा.नि. २९)
अन्तर्मुखतया नित्यं, कार्यमाहरतां बहिः।
इयं दृश्यमरभ्रान्ति, नन्वविद्येति चोच्यते।
वस्तुतो विद्यते नैषा, तापनद्यां यथा पयः ।।

वर्णमाला–

अकारादि क्षकारान्तै, र्विन्दुमन्मातृकाक्षरैः।
अनुलोम विलोमस्थैः, क्लृप्तया वर्णमालया ॥
प्रत्येकवर्णयुक्मन्त्रा, जप्ताः स्युः सर्वसिद्धिदाः।
वैरिमन्त्रापि तु नृणां, सुसिद्धाद्यास्तु किं पुनः ॥ (उत्तरतन्त्रे)

परमात्मा हूँ, **स्वैरम्** = इस स्वच्छभाव से विचरण करता हुआ, **तिष्ठति** = अवस्थित होता है, **नित्यम्** = और वह नित्य, **सदा अन्तर्मुखतया** = सर्वदा अन्तर्मुख रहता हुआ, **बहिः** = बाहर (जगत् व्यवहार) के, **कार्यम्** = कार्य को, **आहरताम्** = ग्रहण करता हुआ है, **जीवतामपि** = उसके जीवित इस शरीर में ही, **दृषताम् इव** = पाषाण खण्ड में जिस तरह किसी बीज का उदय नहीं होता उसी प्रकार, **वासना** = वासना का उदय (जन्म) उसके हृदय में नहीं होता है। (योग वा.नि. २९)

व्याख्या–च = और, **इयम्** = इस, **दृश्यमरभ्रान्तिः** = दृश्यजगत् में आत्मा की मरने की जो भ्रान्ति है, **ननु** = निश्चितरूप से, **अविद्या** = उसे ही अविद्या (अज्ञान) **उच्यते** = कहा गया है; क्योंकि आत्मा सदा अजर-अमर ही है। **एषा** = इस आत्मा की मृत्यु का व्यवहार, **मृषा** = मिथ्या (असत्), **विद्यते** = है। **तापनद्याम्** = क्योंकि मरुप्रदेश में स्थित नदीं में, **यथा** = जिस प्रकार, **पयः** = जल के अस्तित्व की कल्पना मिथ्या कल्पना होती है वैसे ही इस आत्मा के सम्बन्ध में मृत्यु की बुद्धि असत् ही है।

व्याख्या–अकारादिक्षान्तैः = अकार से लेकर क्ष अक्षर तक, **विन्दुमन्मातृकाक्षरै** = विन्दुयुत् मातृकावर्ण, **अनुलोमविलोमस्थैः** = अनुलोम (अ से क्ष पर्यन्त) और विलोम (क्ष से अ तक) के मध्य जो वर्ण हैं, **क्लृप्तयावर्णमालया** = उन वर्णों के समूह से युक्त जो वर्णमाला बनता है, **प्रत्येकवर्णयुक्मन्त्राः** = उसके प्रत्येक वर्ण विन्दु और मातृकाक्षर से सम्बद्ध होने पर मन्त्र बन जाता है, **जप्ताः** = और उसके जप करने पर, **सर्वसिद्धिदाः** = सभी प्रकार सिद्धियों को प्रदान करनेवाले, **स्युः** = होते हैं। **वैरिमन्त्राः** = इसी प्रकार वैरियों (शत्रुओं) को शमन करने से सम्बन्धित जो मन्त्र हैं **आद्या अपि** = वे सब भी, **तु** = निश्चित रूप से, **सुसिदाः** = मनोरथ को सिद्ध करनेवाले ही हैं, **किम् पुनः** = फिर इससे भिन्न निष्काम से आत्मोद्धार के लिए जो मन्त्र कहे गये हैं; उसके लिए कहना ही क्या है ? वे तो निश्चय ही फलदायक हैं। (उत्तर तन्त्र)

पञ्चविंशतिभिः प्रोक्ता, मणिभिर्मुक्तिदायिनी ।
कुशग्रन्थ्या जपेद्विप्रः, सुवर्णमणिभिःनृपः ॥

(श्रीविद्यार्णव त.)

रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान् मस्तके विंशतिद्वे,
षट्-षट्, कर्णप्रदेशे करयुगलगतान् द्वादशैव-द्वादशैव ।
वाह्वोरिन्दोकलाभिः चैकमेकं शिखायाम्,
वक्षस्यष्टाधिकं यः कलयति शतं सः नीलकण्ठः ॥

अब माला के सम्बन्ध में कहा जा रहा है—**पञ्चविंशतिभिः** = पचीस, **मणिभिः** = दानाओं से बनी हुई माला, **मोक्षदायिनी** = मोक्ष को प्रदान करनेवाली होती है, **प्रोक्ता** = शास्त्र में ऐसा ही कहा गया है। **कुशग्रन्थ्या** = कुश की ग्रन्थी वाली माला से, **विप्रः** = ब्राह्मण को, **जपेत्** = जप करना चाहिये। **नृपः** = और राजा को, **सुवर्णमणिभिः** = सुवर्ण (सोना) के दाने से बनी हुई माला से जप करना चाहिये।

(श्री विद्यार्णव तन्त्र)

व्याख्या—अब रुदाक्ष के कितने दानों को किस अंग में पहनना चाहिये यह कहा जा रहा है—

दशनपरिमितान् = दातों की जितनी संख्या होती है अर्थात् बत्तीसंख्यासे, **रुद्राक्षान्** = बनी हुई रुद्राक्ष की माला को, **कण्ठदेशे** = गले में पहना चाहिये। **मस्तके** = और मस्तक पर पहननेवाली रुद्राक्ष की माला, **द्वे** = दो, **विंशति** = बीस-बीस अर्थात् चालीस दानेवाली धारण करनी चाहिये। **कर्णप्रदेश** = कानों में पहनने के लिए, **षट्-षट्** = छः-छः दानों की माला अर्थात् छः की संख्यावाली एक कान में और छः की संख्यावाली दूसरे कानों में (कुल बारह) पहना चाहिये। **करयुगलगतान्** = दोनों हाथों में पहनी जानेवाली माला के दानों की संख्या, **द्वादश-द्वादश एव** = बारह-बारह ही होनी चाहिये। अर्थात् बारह मनकेवाली रुद्राक्ष माला प्रथम हाथ में और बारह मनके की रुद्राक्षमाला दूसरे हाथ में पहने का प्रावधान है। हाथ से यहाँ मणिबन्ध जानना चाहिये। **इन्दोः कलाभिः** = इसी प्रकार चन्द्रमा की कला अर्थात् सोलह मनके से बनी रुद्राक्षमालाओं को, **वाह्वोः** = दोनों बाहुओं में पहननी चाहिये। **च** = और, **एकैकम्** = एक-एक मनके, **शिखयाम्** = शिखा में पहननी चाहिये। **वक्षसि** = हृदयदेश पर पहनी जानेवाली रुद्राक्षमाला, **अष्टाधिकम्** = आठ है अधिक जिसमें, **शतम्** = ऐसी सौ मनकेवाली रुद्राक्षमाला पहना चाहिये। **यः** = जो व्यक्ति इस प्रकार से, **कलयति** = संकलण कर रुद्राक्ष की माला पहनता है, **सः** = वह व्यक्ति, **नीलकण्ठः** = साक्षात् भगवान् शिवस्वरूप हो जाता है।

जपे—

मनः संहरणं शौचं, मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम्।
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो, जप सम्पत्ति हेतवः॥ (नारदः)
भूशय्याब्रह्मचारित्वं, मौनं चाप्यनसूयता।
नित्यं त्रिषवणस्नानं, क्षुद्रकर्मविवर्जनम्॥ (मन्त्रार्णवे)
नित्यपूजा नित्यदानं, देवतास्तुतिकीर्तनम्।

व्याख्या—अब जप करने के काल (अनुष्ठान) में जापक को क्या और कैसे जप करना चाहिये, इसका विधान बताया जा रहा है—**मनःसंहरणम्** = जप कर्ता को मन को वाह्य विषयों से खींच कर मन्त्र और मन्त्र के अर्थ की ओर कर लेना चाहिये। **शौचम्** = शरीर और अन्तःकरण को शुद्ध कर लेना चाहिये। वाह्य शरीर को जलादि से शुद्ध कर एवं अन्तःकरण (मन) को वासना और काम-क्रोधादि से रक्षित तथा शुद्ध करके जप करना चाहिये। **मौनम्** = मौनभाव धारण किये रहना चाहिये। **मन्त्रार्थचिन्तनम्** = मन्त्रगत पद और पदार्थ मात्र का जप में सदा चिन्तन करना चाहिये। **अव्यग्रत्वम्** = व्यग्रता (चंचलता) रहित रहना चाहिये। **अनिर्वेदः** = धृणादिभाव से रहित होकर जप करना चाहिये। **जपसम्पत्तिहेतवः** = उपर्युक्त कहे गये जप सम्पदा प्राप्त करने के हेतु हैं। (नारद)

भूशय्या = जापक अनुष्ठानी को पृथिवी पर कम्बलादि के आसन बिछा कर सोना चाहिये। **ब्रह्मचारित्वम्** = जापक जपानुष्ठान काल में ब्रह्मचर्य का पालन करे। **मौनम्** = मौन धारण करे, **च** = और, **अनसूयता अपि** = इर्ष्या रहित रहे। **त्रिषवशास्नानम्** = तीनों काल (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) में स्नान करना चाहिये। **क्षुद्रकर्मविवर्जनम्** = धृणित-त्याज्य कर्म का त्याग करना चाहिये। **नित्यपूजा** = वह जापक नित्य मन्त्रार्थ देवतादि का पूजा करे। **नित्यदानम्** = नित्यदान करे। **देवतास्तुतिकीर्तनम्** = देवता का स्तुति द्वारा कीर्तन-भजन नित्य करें। **नैमित्तिकार्चनम्** = जिस निमित्त जप किया जा रहा हो तत्सम्बन्धी अर्चन-पूजन करे अथवा स्वनैमित्तिक कर्म नित्य करे अथवा दोनों करे। **च एव** = और इसी प्रकार **गुरुदेवयोः** = गुरु और देवता में, **विश्वासः** = दृढ़ विश्वास भी रहे यह प्रयत्न करना चाहिये। **एते** = इतने, **द्वादशधर्माः** = ऊपर कहे गये बारह प्रकार के धर्म, **जपनिष्ठा** = जप में निष्ठ जापक के निष्ठा का विषय, **स्युः** = हैं, **सर्वसिद्धिदाः** = जो सभी प्रकार के सिद्धियों को प्रदान करनेवाले हैं। (मन्त्रार्णव)

व्याख्या—दम्भदोषौ = दम्भ और दोषों की भावना से, **उत्सादः** = अत्सादन (विचलन) कर्म,

---

1. भावनायां अशक्तिः = भावनाशक्तिः

नैमित्तिकार्चनं चैव, विश्वासो गुरुदेवयोः ॥
जपनिष्ठा द्वादशैते, धर्माः स्युर्मन्त्रसिद्धिदाः ।
ष्टदम्भद्वेषौ तथोत्साद, उच्चाटो भ्रममारणो
व्याधिश्च ....। (श्री विधार्णव तन्त्र १६)
उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो, मुक्तकेशो मलावृतः ।
अपवित्रकरोऽशुद्धः, प्रलपन्न जपेत् क्वचित् ॥ (वायवीय सं.)
अनास्थाजपमत्यन्त; मश्रद्धाजपकर्मणि ।
आलस्यं भावनाशक्तिः, सिद्धिनाशाय निश्चितम् ॥
जपे होमे तथा दाने, स्वाध्याये पितृतर्पणे ।
अशून्यं तु करं कुर्यात्, सुवर्णरजतैः कुशैः ॥ (वायवीय सं.)
अनामिकायां तद्धार्यं, दक्षिणस्य करस्य तु । (पारस्करः)

उच्चाटनम् = उच्चाटनकर्म, **भ्रममारणः** = विभ्रमकारी और मारककर्म, **तथा व्याधिः** = शत्रु को व्याधि उत्पन्न करने के लिए जपानुष्ठान नहीं करना चाहिये। (श्रीविद्यार्ण तन्त्र १६)

उष्णीषी = शिरःत्राण (टोपी-पगड़ी), **कञ्चुकी** = आँगी (कुर्ता) पहनकर, **नग्नः** = नग्नशरीर से, **मुक्तकेशः** = बालखोलकर, **मलावृतः** = शरीर में मैल लगे रहने पर, **अपवित्रकरः** = गन्दे हाथों से, **अशुद्धः** = और अशुद्ध शरीर रहने पर, **प्रलपन्** = बातचीत करते हुए, **क्वचित्** = कदापि, **न** = नहीं, **जपेत्** = जप करना चाहिये। (वायवीय संहिता)

व्याख्या–अनास्थाजपमत्यन्तम् = अगर जपने में आस्था (लगन) न हो, **अश्रद्धाजपकर्मणि** = और जप कर्म में श्रद्धा न हो, **आलस्यम्** = जपकर्म में आलस्य हो, **भावनाशक्तिः** = भावना की शक्ति से रहित हो तो, **निश्चितम्** = निश्चित ही, **सिद्धिनाशाय** = सिद्धि को नाश कर देता है।

(वायवीय संहिता)

व्याख्या–जपे = जप कर्म में, **होमे** = होमकर्म में, **दाने** = तथा दानकर्म में, **स्वाध्याये** = स्वाध्याय (वेदाध्यन) कर्म में, **पितृतर्पणे** = एवं पितृतर्पणादिककर्म (श्राद्ध) में, **तु** = आवश्यकरूप से, **सुवर्णरजतैः** = सुवर्ण (सोना) अथवा रजत, **कुशैः** = और कुशाओं से, **करम्** = हाथ को, **अशून्यम्** = युक्त, **कुर्यात्** = कर लेना चाहिये अर्थात् पहन लेना चाहिये। **दक्षिणस्य** = दक्षिण (दाहिने), **करस्य** = हाथ के, **अनामिकायाम्** = अनामिका (मध्यमा कनिष्ठिका के बीच की) अङ्गुली में, **तत्** = सुवर्ण-रजत की अगूंठी अथवा कुश अथवा तीनों को, **धार्यम्** = धारण कर लेना चाहिये। (पारस्कर)

गुरोर्लब्धस्य मन्त्रस्य, शश्वदावर्तनं हि यत्।
अन्तङ्गाक्षराणां च, न्यासपूर्वो जपः स्मृतः ।।

(श्रीविद्यार्णव तन्त्र १६)

आसनम्—

कुशाजिनाम्बरैर्युक्तं, चतुरङ्गुलमूर्ध्वतः ।
चतुहस्तं द्विहस्तं वा, सुदृढं मृदु निर्मलम् ।। (नारदः)
नादीक्षितो विशेज्जातु, कृष्णसाराजिने गृही ।
विशेद्यतिवनस्थश्च, ब्रह्मचारी च स्नातकः ।। (सारसंग्रहे)
कर्तव्यस्य समस्तस्य, नियमग्रहणं व्रतम् ।
चरुमूलफलक्षीर, दधिभिक्षान्नसक्तवः ।
एतत्सप्तविधं प्रोक्तं, पवित्रं व्रतभोजनम् ।। (कुम्भजः)

यत् = जब जप प्रारम्भ करना हो तो, **गुरोर्लब्धस्य** = गुरु से प्राप्त, **मन्त्रस्य** = मन्त्र का, **अन्तरङ्गाक्षराणाम्** = और अन्तरङ्गअक्षरों का, **शश्वत्** = निरन्तर, **आवर्तनम्** = आर्वतन करते हुए, **न्यासपूर्वः** = न्यास पूर्वक, **जपः** = जप करना, **हि** = ही, **स्मृतः** = जप कहा जाता है।

(श्रीविद्यार्णवतन्त्र १६)

अब आसन विधि के सम्बन्ध में कहा जा रहा है—**कुशाजिनाम्बरैः** = कुशा, मृगचर्म और वस्त्र से, **युक्तम्** = युक्त आसन, **चतुरङ्गुलमूर्ध्वतः** = चार अंगुल ऊँचा, **चतुर्हस्तम्** = चार हाथ का, **द्विहस्तंम् वा** = अथवा दो हाथ लम्बाई का होना चाहिये, **सुदृढम्** = और जो मजबूत हो, **मृदुः** = कोमल हो, **निर्मलम्** = एवं स्वच्छ हो वही आसन जपादि कर्म में मान्य है। (नारद)

अदीक्षितः = अदीक्षित, **गृही** = गृहस्थ व्यक्ति, **कृष्णसाराजिने** = कृष्णसारमृग के चर्म पर, **न जातु** = कदापि न, **विशेत्** = बैठे, **यतिः** = यदि सन्यासी, **वनस्थः** **च** = और वानप्रस्थ, **ब्रह्मचारी** = ब्रह्मचारी, **च** = तथा, **स्नातकः** = स्नातक (गुरुकुल की दीक्षापूर्ण करने के बाद अभिषिक्त) हो तो वह, **विशेत्** = कृष्णसार मृग के चर्म के आसन पर बैठने का अधिकारी है, अतः वे बैठ सकते हैं। (सारसंग्रह)

व्याख्या–कर्तव्यस्य = शास्त्र विहित कर्तव्य का, **नियमग्रहणम्** = नियम स्वीकार कर अर्थात् उसकी विधि स्वीकार्यता, **व्रतम्** = को ही व्रत कहा जाता है। (कुम्भज)

हविष्यान्नम्—

हैमन्तिकं सितास्विन्नं, शालिमुद्गास्तिलायवाः ।
कलायकङ्गुनीवारा, वास्तुकं हिलमोचिका ।।
षष्ठिका कालशाकं च, मूलकं केमुकेतरम् ।
कन्दं सैन्धवसामुद्रं, गव्ये च दधिसर्पिषी ।।
पयोऽनुधृतसारं च, पनसाम्रे हरीतिकी ।
पिप्पली जीरकं चैव, नागरङ्गक तिन्तिणी ।।
कदली लवली धात्री, फलान्यगुडमैक्षवम् ।
अतैलपक्वं मुनयो, हविष्यान्नं प्रचक्षते ।।
(शातातपः)

निश्चयोत्साहधैर्याच्च, तत्त्वज्ञानस्य दर्शनम् ।
अल्पाशनादसङ्गाच्च, षड्भि र्मन्त्रः प्रसिध्यति ॥

व्याख्या—अब हविष्यान्न (अनुष्ठान-यज्ञ आदि में ग्राह्य अन्न) के सम्बन्ध में कहा जा रहा है—**हैमन्तिकम्** = मार्षशीर्ष और पौष मासों में होनेवाला, **सितास्विन्नम्** = सफेद अरबा चावल, **शालिः** = धान विशेष जो सावन भादो में होता है, **मुद्गाः** = मूंग (दलहन विशेष), **तिलाः** = तिल, **यवाः** = जौ (यव), **कलायः** = केराव (देशी छोटावाला मटर), **कङ्गुः** = कौनी, **नीवाराः** = निवार (नेवार) जो विना जोते बोये अपने आप जलाशयों में होता है और जिसके चावल को तिन्नी का चावल कहा जाता है, **वास्तूकम्** = बथुआ साक, **हिलमोचिका** = एक प्रकार का साक (सरहोंची), **षष्ठिका** = साठी धान का चावल, **च** = और, **कालशाकम्** = कालिकाशाक (करमी-करमा), **मूलकम्** = स्थूल शिफारूप शतावरी आदि, **केमुकेतरम्** = केमुक (केऊआं), अर्थात् कन्द से भिन्न कन्द आरु-खम्हारु, **कन्दम्** = कन्दा, **सैन्धवसामुद्रम्** = समुद्री नमक, **च** = तथा, **गव्ये** = गाय के दूध से तैयार, **दधि** = दही, **सर्पिषी** = धृत, **पयोऽनुधृतसारम्** = वह गाय का दूध जिससे धृतादि नहीं निकाला गया हो, **च** = एवं, **पनसाम्रे** = कटहल और आम्र फल, **हरीतकी** = हर्रोड़, **पिप्पली** = पीपर, **जीरकम्** = जीरा, **चैवम्** = इसीप्रकार, **नागरङ्गक** = नारंगी या शुण्डी, **तिन्तिणी** = इमली, **कदली** = केला, **लवली** = हरफा, **धात्री** = आँवला, **फलानि** = इतने फल, **अगुडमैक्षवम्** = इक्षु (ऊरव) से उत्पन्न परन्तु गुड़ भिन्न अर्थात् सिता-शर्करा आदि। **अतैलपक्वम्** = घृतादि से पका हुआ, **मुनयः** = हे मुनिगणों !, **हविष्यान्नम्** = हविष्यान्न, **प्रचक्षते** = कहे जाते हैं। (शातातप)

व्याख्या—**षड्भिः** = इन छः के आचरण करने से, **मन्त्रः** = मन्त्र, **प्रसिद्ध्यति** = ठीक से सिद्ध होता है। **निश्चयोत्साहधैर्यात् च** = जो मन्त्र जापक हैं उन्हें निश्चय, उत्साह और धैर्य के बल से,

प्रयासाद्बहुभक्ष्याच्च, प्रजल्पान्नियमाग्रहात् ।
नीचसङ्गाच्च लौल्याच्च, षड्भिर्मन्त्रो न सिद्ध्यति ।। (ब्रह्मयामले)

स्वप्नमाणवमन्त्रः—पिङ्गलामते ।

ॐ हिलि-हिलि शूलपाणये ठःठः स्वाहा ।।

शुम्भुना परिकीर्तितः ।।

नमोऽजाय त्रिनेत्राय, पिङ्गलाय महात्मने ।
वामाय विश्वरूपाय, स्वप्नाधिपतये नमः ।।

तत्त्वज्ञानस्य = तत्त्वज्ञान का, **दर्शनम्** = मन्त्र में (तत्त्व ज्ञान का) दर्शन करने से, **अल्पाशनात्** = और संयमित भोजन करने से, **असंगात् च** = तथा विषयों के प्रति वर्जना आदि, मन्त्र सिद्धि के कारक हैं।

षड्भिः = इन छः प्रकार के आचरण से, **मन्त्रः** = मन्त्र, **न** = नहीं, **सिद्ध्यति** = सिद्ध नहीं होता है, **प्रयासात्** = अनर्गल प्रयास से, **बहुभक्ष्यात् च** = और बहुत भोजन करने से, **प्रजल्पात्** = अनर्गल प्रलाप से, **नियमाग्रहात्** = नियमों में अत्यधिक आसक्त रहने से, **नीचसङ्गात् च** = एवं बीच व्यक्ति के साथ संग करने से, **लौल्यात् च** = और चंचल स्वभाव से। (ब्रह्मयामल)

व्याख्या—अब पिङ्गला के मत से स्वप्नमाणवमन्त्र को कहते हैं—साधक सोने से पूर्व पिङ्गल स्वरूप भगवान् शिव की प्रार्थना इस भावना से करें कि मुझे आप स्वप्न में मन्त्र का उपदेश करने की कृपा करें। प्रार्थना का मूल श्लोक ऊपर दिया गया है; यहाँ उसकी हिन्दी भाषा में व्याख्या दी जा रही है—**अजाय** = जो अजन्मा, **महात्मने** = परमात्मा, **पिङ्गलाय** = पिङ्गल, **वामाय** = और वाम, **तथा विश्वरूपाय** = विश्वरूप हैं, **स्वप्नाधिपतये** = तथा जो स्वप्न के अधिपति है, **त्रिनेत्राय** = तथा तीन नेत्रों को धारण करते हैं उन्हें हम, **नमः** = बार-बार प्रणाम करते हैं। इस प्रकार बार-बार प्रार्थना करके सो जाने पर परमात्मा पिङ्गल स्वरूप भगवान् शिव स्वप्न में मन्त्र की दीक्षा देते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—"ॐ हिलि हिलि शूलपाणये ठःठः स्वाहा" अथवा ध्यान के बाद इस मन्त्र के जप कर सो जाने पर वे पिङ्गल स्वरूप भगवान् शिव किसी मन्त्र की दीक्षा स्वप्न में प्रदान करते हैं। **शम्भुना** = इस मन्त्र को भगवान् शंकर ने, **परिकीर्तितः** = स्वयं प्रशंसा की है। यहाँ विशेष कथन यह है कि—दीक्षा की कई विधियों में एक स्वप्नदीक्षा का शास्त्रों में उल्लेख मिलता है। यहाँ साधकों के लिए उसी स्वप्नदीक्षा को प्राप्त करने के विधि कही गयी है। (पिङ्गलामत)

मन्त्र-तन्त्रप्रकाशे–

ॐ हृत्सकललोकाय, विष्णवे प्रभविष्णवे।
विश्वाय विश्वरूपाय, स्वप्नाधिपतये नमः॥
सिद्धेस्तु त्रीणि चिह्नानि, दाता भोक्ता अयाचकः।
(बौधायन, प्रपञ्चसारे १०/४३)

२. प्रकारः–पुरश्चरणम्–

ग्रहणेऽर्कस्य चेन्दोर्वा, शुचि पूर्वमुपोषितः।
नद्यां समुद्रगामिन्यां, नाभिमात्रे जले स्थितः॥
स्पर्शाद्विमुक्तिपर्यन्तं, जपेन्मन्त्रं समाहितः।
ततो होमादिकं चरेत्॥ (कुलप्रकाशतः)

अब इस सम्बन्ध में मन्त्र-तन्त्र प्रकाशान्तर्गत कहे गये प्रकारन्तर को कहते हैं—मूल ध्यान श्लोक ऊपर है व्याख्या इस प्रकार है—**हृत्सकललोकाय** = सम्पूर्ण लोक के हृदय (आत्मा) स्वरूप, **विष्णवे** = व्यापक स्वरूप भगवान् विष्णु, **प्रभविष्णवे** = प्रभविष्णु, **विश्वाय** = विश्वस्वरूप, **विश्वरूपाय** = विश्वरूप, **स्वप्नाधिपतये** = जो स्वप्न के अधिपति कहे जाते हैं, उनके लिए, **नमः** = मैं नमस्कार करता हूँ, यह प्रार्थना करके सो जाने पर स्वप्न में भगवान् विष्णु उन्हें मन्त्रदीक्षा प्रदान करते हैं। (मन्त्रतन्त्रप्रकाश)

व्याख्या–सिद्धेः = सिद्ध पुरुष के, **तु** = तो, **त्रीणि** = तीन, **चिह्नानि** = निर्धारित चिह्न होते हैं, **दाता** = वह सिद्ध सदा दाता होता है, **भोक्ता** = सम्पूर्ण उत्तमभोग का भोक्ता होता है, **अयाचकः** = तथा कभी याचक नहीं होता। (बोधायन, प्रपञ्चसारः १०/४३)

व्याख्या–पूर्व में पुरश्चरण विधि कहा जा चुका है; अब पुरश्चरण की प्रकारान्तर से द्वितीय और तृतीय विधि को कहते हैं। पुरश्चरण की द्वितीय विधि की व्याख्या इस प्रकार है—

अर्कस्य = सूर्य का, **इन्दोःवा** = अथवा चन्द्र का, **ग्रहणे** = जब ग्रहण लगे तब उस ग्रहणकाल में, **पूर्वमुपोषितः** = पूर्व से ही उपवास करके अर्थात् सूर्य ग्रहण के बारह घण्टा पूर्व और चन्द्रग्रहण के नौ घण्टा पूर्व से उपवास (अन्नाहार रहित) करके, **शुचिः** = बाह्य आभ्यन्तर से शुद्ध होकर, **समुद्रगामिन्याम्** = जो नदी अपने उद्भवस्थान से समुद्र में गिरती (यथा-गंगा) हो, **नद्याम्** = उस नदी में, **नाभिमात्रे** = नाभिपर्यन्त, **जले** = जल में, **स्थितः** = प्रवेश कर–खड़े होकर, **स्पर्शात्** = ग्रहण के स्पर्शकाल से, **विमुक्तिपर्यन्तम्** = मोक्षकाल पर्यन्त, **समाहितः** = समाहित मन से, **मन्त्रम्** = मन्त्र का, **जपेत्** = जप करना चाहिये। **ततः** = उसके बाद, **होमादिकम्** = होम, तर्पण, मार्जन, ब्राह्मण भोजन आदि दशांश अनुष्ठानाङ्ग कर्म को, **चरेत्** = करना चाहिये। यह पुरश्चरण की द्वितीय विधि है। (कुलप्रकाशसे)

३. प्रकारः—पुरश्चरणम्—

मन्त्री तु प्रजपेन्मन्त्रं, मातकाक्षरसम्पुटम्।
अनुलोमविलोमेन, मन्त्रसिद्धिः प्रजायते ।। (कुम्भसम्भवः)

मनोरथानामक्लेशः सिद्धेरूत्तमलक्षणम्। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १६)

यस्य { देवे / मन्त्रे / गुरौ } भक्तिर्निश्चला तस्य सिद्धिः।

रहस्यपुरश्चरणम्—

अष्टम्यां वा चतुर्दश्यां, पक्षयोरुभयोरपि।
सूर्योदयं समारभ्य, यावत्सूर्योदयान्तरम्।।
तावज्जप्त्वा निरातङ्कः, सर्वसिद्धिश्वरो भवेत्। (श्री विद्यार्णव त. १७)

पुरश्चरण की तृतीय प्रकार की विधि इस प्रकार है—**मन्त्री** = मन्त्र जप करनेवाला जापक, **मातृकाक्षर सम्पुटम्** = मातृकाक्षर से सम्पुटित, **मन्त्रम्** = मन्त्र का, **अनुलोमविलोमेन** = अनुलोम-विलोम विधि से, **प्रजपेत्** = जप करे, **मन्त्रसिद्धिः** = इस विधि से जप करने पर मन्त्र की सिद्धि, **प्रजायते** = हो जाती है अर्थात् उसका मन्त्र सिद्ध हो जाता है। (कुम्भसम्भव)

व्याख्या—सिद्धपुरुष के लक्षण पूर्व में कहा गया है, अब उसके दूसरे लक्षण को कहते हैं—**मनोरथानामक्लेशः** = मनोरथों (वासना) के दुःख से जो रहित है अर्थात् जिसकी सारी वासना नष्ट हो गयी है और कोई भी मनोरथ उसे नहीं रह गया है; अतः उसके क्लेश से जो रहित पुरुष है, ऐसा पुरुष सिद्ध पुरुष है। **सिद्धेः** = सिद्धि का, **उत्तमलक्षणम्** = यही उत्तम लक्षण है जानना चाहिये। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १६)

सिद्धों के अन्य भी लक्षण है—**यस्य** = जिसके, **देवे** = देवता में, **मन्त्रे** = मन्त्र में, **गुरौ** = और गुरु में, **निश्चला** = निश्चल (दृढ़), **भक्तिः** = भक्ति है, **तस्य** = उस पुरुष की, **सिद्धिः** = उसे करामलकवत् सिद्धि है। अर्थात् उसे अनायास सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

अब रहस्यपुरश्चरण के सम्बन्ध में कहते हैं—**उभयोः** = दोनों, पक्षयो: अपि = पक्षों अर्थात् शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की, **अष्टम्याम्** = अष्टमी, **चतुर्दश्याम् वा** = अथवा चतुर्दशी तिथि में, **सूर्योदयम्** = सूर्योदय से, **समारभ्य** = प्रारम्भ करके, **यावत्** = जब तक, **सूर्योदयान्तरम्** = दूसरे दिन का सूर्योदय नहीं हो जाता, **तावत्** = तब तक, **निरातङ्कः** = निर्भयतापूर्वक, **जप्त्वा** = जप करने से, **सर्वसिद्धिश्वरः** = सभी प्रकार की सिद्धियों के अधिपति, **भवेत्** = हो जाता है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १७)

ब्राह्मणो मदिरां दत्त्वा, ब्राह्मण्यादेव हीयते ।
स्वगात्ररुधिरं दत्त्वा, स्वात्महत्यामवाप्नुयात् ।। (भैरवी तन्त्रे)
सात्त्विकेनैव भावेन, ब्राह्मणस्तर्पयेच्छिवाम् । (श्रीचक्रसंहिता)

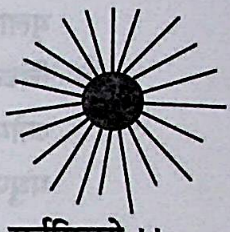
प्रणवो व्याहृति र्गायत्रीम्–
योऽधीतेऽहन्यहन्येतान्, त्रीणिवर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति, वायुभूतः खमूर्तिमान् ।। (मनुस्मृ. २/८२)
कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमात् लघुतूलसमापत्तेश्च आकाशगमनम् ।
(योग द. ३/४२)

व्याख्या–अब ब्राह्मणों के लिए मदिरा आदि का निषेध कहा जा रहा है—**ब्राह्मणः** = ब्राह्मण, **मदिराम्** = देवता के लिए मदिरा अर्पण करके, **ब्राह्मण्यात्** = ब्राह्मणत्व से, **एव** = ही, **हीयते** = पतन कर जाता है। **स्वगात्ररुधिरम्** = और अपने शरीर के रक्त को, **दत्त्वा** = देवता के लिए अर्पण करने पर, **स्वात्महत्याम्** = अपनी आत्मा की हत्या करने से जो पाप होता है उस पाप को, **आप्नुयात्** = प्राप्त करता है। (भैरवीतन्त्र)

ब्राह्मणः = ब्राह्मण, **सात्त्विकेन भावेन** = भाव से, **एव** = ही, **शिवाम्** = महाकाली को, **तर्पयेत्** = तर्पण कर प्रसन्न करें। (श्रीचक्र संहिता)

व्याख्या–प्रणवव्याहृति गायत्री की जो उपासना करता है अब उसका फल कहते हैं—**यः** = जो उपासक व्यक्ति, **त्रीणि** = तीन, **वर्षाणि** = वर्ष तक, **अतन्द्रितः** = संयमित और निरत होकर, **अहन्यहनि** = प्रत्येक दिन (सदा), **एतान्** = इन प्रणव व्याहृति गायत्री मन्त्र की, **अधीते** = उपासना करता है, **सः** = वह साधक व्यक्ति, **वायुभूतः** = सूक्ष्म, **खमूर्तिमान्** = आकाशवत् स्वरूपवाला अर्थात् व्यापक, **परमब्रह्म** = परं ब्रह्म के स्वरूप को, **अभ्येति** = प्राप्त करता है। (मनु स्मृ. २/८२)

अब योग विद्या से सम्बन्धित कुछ बातें कहते हैं—**कायाकाशयोः** = शरीर और आकाश के, **सम्बन्धसंयमात्** = जो सम्बन्ध हैं, उसमें संयम (अभ्यास) करने से, **लघुतूलसमापत्तेः च** = और हलके (भार रहित) रुई आदि में समापत्ति करने से, **आकाशगमनम्** = आकाशादि में गमन करने की सिद्धि प्राप्ति होती है। जहाँ-जहाँ शरीर होता है वहाँ-वहाँ अवकाशप्रद आकाश भी होता ही है। इस प्रकार इन दोनों में आधार-आधेय, व्याप्य-व्यापकभाव का सम्बन्ध बनता है। इस सम्बन्ध में जब साधक संयम करता है अर्थात् रुई के समान हल्की वस्तु में समापत्ति (तदाकाराकारित चित्तवृत्ति) से योगी का शरीर हल्का (लघुता को) प्राप्त होता है। इसलिए वह जल के ऊपर पाँव रखकर चलने में समर्थ हो जाता है, मकड़ी के जाले जैसे सूक्ष्मतम तन्तु पर चलने का वह सामर्थ्य प्राप्त कर लेता हैं। इस तरह क्रमशः संयम की दृढ़ता की समापत्ति से आगे चलकर आकाश में गमन करने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। (योगदर्शन ३/४२)



अन्तरोपासना–

स्वयं हि त्रिपुरा देवी, लौहित्यं तद्विमर्शनम् ।
पाशाङ्कुशौ रागद्वेषौ, मनस्तस्या भवेद्धनुः ।।
शब्दस्पर्शादयो वाणाः,
कर्मधीन्द्रियचक्रस्थां, देवीं संवित्स्वरूपिणीम् पूजयेत् सर्वसिद्धये ।।

(श्री विद्यार्णव तन्त्र १७)

वीरसाधनम्–

महाबलो महाबुद्धिः, महासाहसिकः शुचिः ।
महास्वच्छो दयावांश्च, सर्वभूतहितेरतः ।
तेषां कृते महादेवि, कथितं वीरसाधनम् ।। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १७)

व्याख्या–अब आन्तर-उपासना के सम्बन्ध में लिखते है—**स्वयं हि** = साधक स्वयं में ही, **त्रिपुरा देवी** = मैं त्रिपुरा देवी हूँ इस प्रकार ध्यान-चिन्तन करे। **तत्** = उस त्रिपुरा देवी का, **लोहित्यम्** = लाल रंग का स्वरूप है और यह शरीर भी रक्तमांसादिक से सनी हुई मूर्ति है, इसलिये मैं त्रिपुरा देवी ही हूँ, इस प्रकार की भावना करे। **विमर्शनम्** = इस प्रकार ध्यान-चिन्तन कर विमर्श करे कि–, **रागद्वेषौ** = शरीर में जो राग-द्वेष है, **पाशाङ्कुशौ** = वही त्रिपुरा देवी का आयुध पाश एवं अङ्कुश है।

तस्याः = तथा उस देवी का, **धनुः** = धनुष, **मनः** = यह मन है। इस प्रकार जिस शरीर में 'अहम्' अहंकार के कारण मैं अलग कुछ हूँ ऐसा जान रहा था वह असत् था। अब जाना कि मैं स्वयं त्रिपुरा अर्थात् तीनों लोकों में अथवा तीनों पुरियों (शरीरों) में व्याप्त त्रिपुरा देवी ही हूँ, ऐसी भावना ही आन्तर साधना है। **शब्दस्पर्शादयः** = इतना ही नहीं शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध ये जो अन्तःकरण का विषय हैं, **वाणाः** = वे उनके वाण हैं, **कर्मधीन्द्रियचक्रस्थाम्** = कर्म नियोक्त्री जो ज्ञानेन्द्रियचक्र (समूह) है उस पर वह विराजमान हैं, **संवित्स्वरूपिणीम्** = ऐसी ज्ञानस्वरूपा, **देवीम्** = देवी का, **सर्वसिद्धये** = सभी प्रकार की सिद्धि के लिए, **पूजयेत्** = उक्त प्रकार से ध्यान करके उपासना करे। (श्रीविद्यार्णव तन्त्र १७)

व्याख्या–अब वीरसाधन की व्याख्या लिखते हैं—**महादेवि** = भगवान् शंकर जी कहते हैं—हे महादेवि !, **महाबलः** = जो महाबलवान् होगा, **महासाहसिकः** = तथा महासाहसी होगा, **शुचिः** = और जो शरीरादि से पवित्र होगा, **महास्वच्छः** = एवं जो आभ्यन्तर से भी स्वच्छ होगा, **च** = और, **दयावान्** = दयालु होगा, **तेषाम्** = उसके, **कृते** = लिए ही मैंने, **वीरसाधनम्** = वीरसाधन की विधि, **कथितम्** = बललायी है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १७)

मूलाधारं समागत्य, ब्रह्मरन्ध्रं पुनःपुनः ।
चिच्चन्द्रमण्डले शक्तिः, सामरस्य सुखोदयः ।।
व्योमपङ्कजनिःस्यन्दः सुधापानरतो नरः ।
मधुपो मद्यसंभोक्ता, त्वितरे मद्यपायिनः ।।
पुण्यापुण्यपशुं हत्वा, ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे शिवे लयेच्चित्तं, पलाशीति निगद्यते ।।
मनसा चेन्द्रियगणं, नियम्यात्मनि योजयेत् ।
मत्स्याक्षी स महादेवि !,
पराशक्त्यात्ममिथुनं, मैथुनं मोदवर्धनम् ।

(श्री विद्यार्णव तन्त्र १७)

व्याख्या–मूलाधारम् = साधक योग क्रिया विधि द्वारा मूलधारचक्र में प्रविष्ट होकर, **पुनः** = फिर वहाँ से, **ब्रह्मरन्ध्रम्** = ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करें, **पुनः** = फिर, **चित्** = चिद्स्वरूप, **चन्द्रमण्डले शक्तिः** = चन्द्रमण्डल में जो पराशक्ति का स्थान है, **सामरस्यम्** = उसमें सामरस्यता (अभेद) प्राप्त करे, **सुखोदयः** = जहाँ पर पहुँचकर आनन्द का उदय होता है, **व्योमपङ्कजनिस्यन्दसुधापानरतः** = वहाँ सहस्रदल कमल के सुधारूप निस्यन्द (किञ्जल्क-पराग) के पान करने में संसक्त, **नरः** = साधक नर ही, **मधुपः** = मधुपायी कहा गया है, **इतरे तु** = उससे भिन्न तो, **मद्यपायिनः** = मध (शराब) को पीनेवाला कहा जाता है।

योगवित् = योग को जाननेवाला योगी वहाँ (पूवोक्तदशा में) पर, **ज्ञानखड्गेन** = ज्ञानरूपी खड्ग (तलवार) से, **पुण्यापुण्यपशुम्** = पुण्य और पापरूप पशु को मारकर, **परे** = साधक के परम, **शिवे** = शिव में, **लये** = लय प्राप्त कर लेने पर, **पलाशी** = जो अवस्था होती है उसे पलाशी, **इति** = इस नाम से, **निगद्यते** = जाना जाता है। **मनसा च** = और वहाँ पर मन के द्वारा, **इन्द्रियगणम्** = इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) के समूह को, **आत्मनि** = परमात्मा में, **नियम्य** = संयमित कर, **योजयेत्** = लय कर दे, **देवि** = हे देवि !, **मत्स्याक्षी** = मत्स्याक्षी, **सा** = वही है ऐसा मेरा (भगवान् शिव) विचार है। **पराशक्त्या** = पराशक्ति के साथ, **आत्मामिथुनम्** = आत्मा का जो रहना होता है, **मोदवर्धनम्** = वह आत्मानन्द को प्रदान करनेवाला है, **मैथुनम्** = जिसे तन्त्रशास्त्र के साधक मैथुन कहते है। (विद्यार्णव तन्त्र १७)

संभोगवासनां धृत्वा, यः कुर्याच्छक्तिपूजनम् ।
स दारिद्र्यमवाप्नोति, नारकी च भवेत् ध्रुवम् ॥ (देवीयामले)

मन्त्रादि देवताबुद्ध्या, पूज्या सर्वोपचारकैः ।
परमानन्दरूपेण, देहभावविवर्जितः ॥ (देवीयामले)

"ॐ हूँ के क्षः" } विष शत्रु प्रमर्दकः ॥
प्रयोगः
"ॐ क्षे छे" } कालदष्टस्य जीवने । (अग्नि पु. 316)

मनुवर्णः–

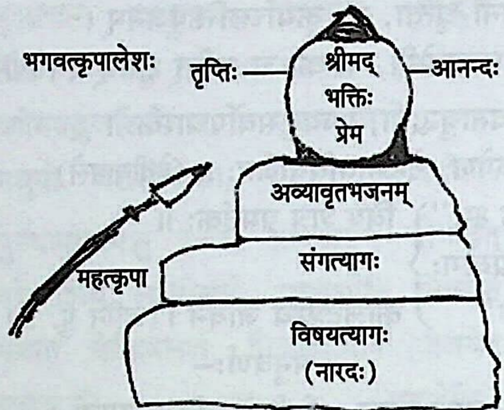
मायाबीजं ब्रह्मणःस्यात्, श्रीबीजं क्षत्रियः स्मृतः ।
कामबीजं भवेद्वैश्यो, वाग्भवं शूद्र ईरितः ॥
चतुर्बीज परित्यक्तो, मन्त्रः पौरस्त्य संज्ञकः । (सौत्रमणी तन्त्रे)

व्याख्या–ऊपर से पञ्च मकार के सम्बन्ध में कहता आ रहा हूँ। पहले पलाशी मुद्रा (मांस से सम्बन्धी) मुद्रा और मत्स्याक्षी (मत्स्य सम्बन्धी) मुद्रा तत्पश्चात् मद्य और अब मैथुन के सम्बन्ध में कहकर पुनः वासनासक्त मैथुन के फल को कहते हैं—**संभोगवासनाम्** = संभोग की वासना को धारण करके, **यः** = जो व्यक्ति, **शक्तिपूजनम्** = परस्त्री को पूजन में शामिल करके शक्ति की पूजा, **कुर्यात्** = करता है, **सः** = वह, **दारिद्रयम्** = धन-जन और साधना से, दरिद्रता को, **अवाप्नोति** = प्राप्त करता है, **च** = और वह, **नारकी** = नरकगामी भी, **ध्रुवम्** = निश्चित, **भवेत्** = होता है । (देवी यामल)

देहभावविवर्जितः = देहभाव से रहित होकर, **मन्त्रादिदेवताबुद्ध्या** = मन्त्र आदि में देवता की बुद्धि से, **परमानन्दरूपेण** = परमानन्द का अनुभव करते हुए, **सर्वोपचारकैः** = सभी प्रकार की सामग्रियों से, **पूज्याः** = देवी (शक्ति) की पूजा करनी चाहिये । (देवीयामल)

यदि किसी को सर्प काटा हो तो "ॐ हूँ के क्षः" इस मन्त्र से झाड़ा (विषतरना) लगाना चाहिये । यह मन्त्र विषरूपी शत्रु का विमर्दक (नाशक) है । कालदष्ट (सर्प के काटे हुए) व्यक्ति की जीवन रक्षा हेतु "ॐ क्षे छे" इस मन्त्र को पढ़कर विष उतारना चाहिये । ये दोनों ही मन्त्र विष नाशक हैं ।
(अग्निपुराण ३१६)

व्याख्या–अब मनु वर्ण (मन्त्र के अक्षर) के सम्बन्ध में लिखते हैं—**मायाबीजम्** = मायाबीज, **ब्राह्मणः** = ब्राह्मण वर्ण (जाति) का, **स्यात्** = है, **श्रीबीजम्** = श्रीबीज, क्षत्रिय वर्ण का, **स्मृतः** = होता है, **कामबीजम्** = कामबीज, **वैश्यः** = वैश्य वर्ण का, **भवेत्** = होता है, **वाग्भवम्** = और वाग्बीज, **शुद्रः** = शुद्र वर्ण का, ईरित–कहा जाता है । **चतुर्बीजपरित्यक्तः** = चारों बीजों से रहित, **मन्त्रः** = मन्त्र, **पौरस्त्यः** = पौरस्त्य, **संज्ञकः** = संज्ञक कहलाता है । (सौत्रामणीतन्त्र)



व्याख्या—उपर्युक्त प्रतीकाङ्कन इस अभिप्राय से दिया गया है कि साधक प्रेमाभक्ति के गूढ़तत्त्व को सुविधा पूर्वक समझ सके। प्रेमाभक्ति की स्थिति को प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम साधक को सांसारिक विषयों का त्याग करना चाहिये क्योंकि—

सुखमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवं दया शौचं सत्यं पियूषवत् पिव॥

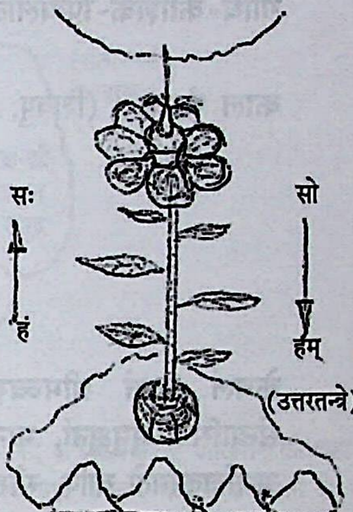
कहा जा रहा है—हे आदरणीय मानव ! यदि सुख चाहते हो तो सांसारिक विषयों में बनी हुई आसक्ति का त्याग कर दो, क्योंकि वह विष के समान है। और क्षमा, आर्जव, दया, शौच एवं सत्यरूपी अमृत का पान करो। ये सांसारिक विषय विषपरिणामी है। इसलिए ये दुःख को ही अन्ततः जन्म देता है और क्षमा, आर्जव, दया शौच (बाह्याभ्यन्तर की पवित्रता) ये पीयूष (अमृत) परिणामी है। इसलिए अन्ततः यह सुख को ही जन्म देता है। अतः विषयों को त्याग करना भक्ति मार्ग के साधक का प्रथम सोपान है।

भक्तिमार्गीय साधक का द्वितीय सोपन है संग का सर्वथा त्याग कर देना। स्त्री, पुत्र, कलत्र, धन-दौलत जो भी सांसारिक वस्तुएँ है और उससे जो मेरा-तेरा का सम्बन्ध बना हुआ है, उसका त्याग ही संग त्याग है। जो भक्तिमार्ग का बाधक है।

तृतीय सोपान की प्राप्ति के लिए भक्त साधक को अव्यावृत (अनन्य भावसे) भजन करना चाहिये। वह अपने इष्ट देव मात्र में अपनी सेवा को अर्पित करते हुए नामकीर्तन-स्तोत्रपाठ आदि जो भक्ति के लक्षण कहे गये हैं, उसका अनुसरण करते हुए अपने जीवन को इष्ट आराध्य के चरणों में समर्पित कर देना चाहिये। यह तृतीय सोपान भक्तिमार्ग के लिये कहा गया है।

अनन्यता प्राप्ति उत्तरकाल में भगवत्कृपा की प्राप्ति होती है, जिसे चित्र में शूल प्रतीक द्वारा दर्शाया गया है। शूल प्रतीक के कई अर्थपक्ष हैं—(क) वह भगवत्कृपा शूलसंसार के प्रति भक्ति का

धर्मकन्दसमुद्भूतं, ज्ञाननालं सुशोभनम्।
ऐश्वर्याष्टदलं चैव, परं वैराग्यकर्णिकम्॥
स्वीय हृत्कमलं ध्यायेत्, प्रणवेन प्रकाशितम्।
कृत्वा तत्कर्णिकासंस्थं, प्रदीपकलिकानिभम्॥
सुषुम्नावर्तत्मनात्मानं, परमात्मनि योजयेत्।
योगयुक्तेन विधिना, सोहं मन्त्रेण साधकः॥
तत्रैव सर्वतत्त्वानि, विलीनानि विचिन्तयेत्।
(उत्तरतन्त्रे)



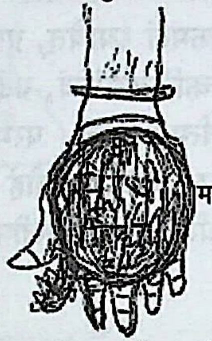
(उत्तरतन्त्रे)

यदि कहीं भी राग शेष रहा होता है तो उसे विदीर्ण कर देता है। (ख) अज्ञान से आवृत बुद्धि का आवरण नष्ट कर देता है और उसे परमात्मा ईश्वर के सत्य स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन (अनुभव) होने लगता है। (ग) सांसारिक स्थूल शत्रु तथा आध्यात्मिकशत्रु-काम, क्रोध, मोह, लोभ, मात्सर्यादि जो असुर स्वरूप होते है इन सबका विनाश करने के लिए भगवत्कृपा की आवश्यकता भक्तों को होती है और उसका उच्छेद भगवान् की कृपा ही कर सकती है। इसलिए उसे शूल प्रतीक द्वारा कहा गया है। इसके बाद भक्त साधक को भगवत्कृपालेश मात्र से ही तृप्ति अर्थात् पूर्णकाम की स्थिति प्राप्त होकर परमानन्द स्वरूप उस परमात्मा का आस्वादन (अभेदान्वय) प्राप्त होता है। जिसे प्रेमा भक्ति के नाम से भक्तिमार्गी साधक पुकारते हैं। यह साधना उत्तरोत्तर भावप्रयत्न-से संभव हो पाती है।

व्याख्या—धर्मकन्दसमुद्भूतम् = मूलकन्द से उत्पन्न, **सुशोभनम्** = जो सुन्दर, **ज्ञाननालम्** = ज्ञानदण्ड, **च** = और, **ऐश्वर्याष्टदलम्** = जिसके ऊपर सभी प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न अष्टदलकमल खिले हुए है, **परंवैराग्यकर्णिकम्** = तथा जिसमें परम वैराग्यरूपी कर्णिकाएँ भी हैं, **प्रणवेन** = तथा जो प्रणवब्रह्म से उद्भासित हो रहा है, **स्वीयहृत्कमलम्** = ऐसे हृदयकमल को साधक योगी, **ध्यायेत्** = ध्यान करे। **प्रदीपकलिकानिभम्** = उस हृत्कमल में प्रज्वलित दीपक की शिखा के सदृश शोभायमान, **तत्कर्णिकासंस्थम्** = परम वैराग्य कर्णिका में स्थित, **कृत्वा** = करके, **आत्मानम्** = स्वात्मा को, **सुषुम्नावर्त्मना** = सुषुम्ना मार्ग होकर, **परमात्मनि** = परमात्मा में, **योजयेत्** = लीन करे। **योगयुक्तेन** = इस प्रकार योगयुक्त, **विधिना** = विधि से, **साधकः** = साधक, **सोऽहम्** = वह मैं ही हूँ, **मन्त्रेण** = इसका जो मन्त्र "सोऽहम्" है उसको जपता (मनन) करता हुआ, **तत्र एव** = वहीं परमात्मा में ही, **सर्वतत्त्वानि** = प्रकृति के सभी तत्त्वों को, **विलीनानि** = मैं विलीन कर दिया, **चिन्तयेत्** = इस प्रकार चिन्तन करे। (उत्तरतन्त्रे)

गाधि-कौशिक-पिप्पलादेति, मुनित्रयस्मरणे शनिपीडा विनश्यति ।
(शि.पु. शतरु. सं. २५)

काल भैरवः । (शिवपु. श.रु.सं. ८)



मनोरथी विद्या

केवलं सततं श्रीमच्चरणाम्भोजभागिनाम् ।
संन्यासिनां मुमुक्षूनां, मानसः कथितःक्रमः ।। (श्रीविद्यार्णव तन्त्रे)
अर्थादाकामतो वापि, सौख्यादपि च यो नरः ।
लिङ्गयोनिरतो मन्त्री, रौरवं नरकं ब्रजेत् ।। (कुमारी तन्त्रे)

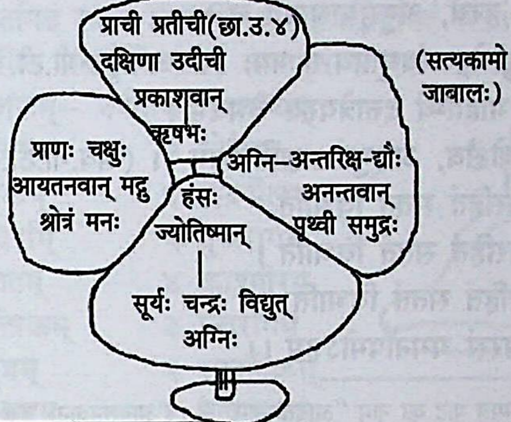
संकेतांकन किये गये प्रतीक चित्र में पार्श्ववर्ती श्लोकगत धर्मकन्द, ज्ञाननाल, अष्टदलकमल, प्रज्वलित प्रदीप, प्रणव मन्त्र से प्रकाशन आदि रूपक को मूलश्लोक की व्याख्या के साथ मिलान करने से प्रतीक चित्र का अर्थ स्वयं सुस्पष्ट हो जा रहा है। इसलिये इसकी व्याख्या अलग से नहीं लिखा जा रहा है। यह प्रतीक चित्र मूलश्लोक के भाव को समझने मात्र के लिये दिया गया है। (उत्तरतन्त्र)

व्याख्या–सततम् = सदा, **केवलम्** = केवलीभाव (पराम्बाभगवती के साथ अभेदभाव) को जो प्राप्त है, **श्रीमच्चरणाम्भोजभागिगनाम्** = और श्रीमत् चरणाविन्द के जो अधिकारी (योगी) है, **मुमुक्षूनाम्** = तथा मोक्ष की इच्छा रखनेवाले हैं, **संन्यासिनाम्** = ऐसे संन्यासियों के मार्ग दर्शन के लिए, **मानसः** = मानस, **क्रमः** = आराधना का क्रम, **कथितः** = कहा गया है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १८)

अर्थात् = अर्थ (धन-सम्पत्ति) के उद्देश्य से, **अपि वा** = अथवा, **कामतः** = काम की इच्छा से, **अपि-सौख्यात्** = अथवा ऐश्वर्य की इच्छा से, **यः** = जो, **नरः** = साधक, **मन्त्री** = चिन्तक, **लिङ्गयोनिरतः** = लिङ्ग और योनि के संयोग करने में आसक्त है वह, **रौरवम्** = रौरवनामक, **नरकम्** = नरक को, **ब्रजेत्** = प्राप्त करता है और वहाँ के दण्ड से दुःख भोगता है। (कुमारी तन्त्र)

व्याख्या–गाधिकौशिकपिप्पलाद = गाधि, कौशिक और पिप्पलाद, **इति** = इन, **मुनित्रयस्मरणे** = तीनों मुनियों के नाम स्मरण करने पर, **शनिपीड़ा** = शनिग्रहजनित पीडा, **विनश्यति** = नष्ट हो जाती है। (शि.पु.श.रु.सं. २५)

कालभैरव की मनोरथी विद्या का प्रतीक चित्र यहाँ दिया गया है। यह विद्या सिद्ध हो जाने पर सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं। (शि.पु.श.रु.सं. ८)



व्याख्या—उपर्युक्त प्रतीक चित्रांकन द्वारा छान्दोग्य उपनिषद् के एक विशिष्ट आख्यान को कहा जा रहा है। षोडशकला सम्पन्न ब्रह्म के चार पाद हैं और प्रत्येक पाद के चार-चार कलाएँ होने से कुल सोलह कलाएँ होती हैं। आख्यायिका संक्षेपतः इस प्रकार है—सत्यकाम जाबाल (जबाल ऋषि और जावाला ऋषिपत्नी से उत्पन्न) गौतम ऋषि के आश्रम में ब्रह्मविद्या का उपदेश ग्रहण करने के उद्देश्य से जाता है और महात्मा गौतम चार सौ कृश और दुर्बल गायें देकर उसे जंगल भेजते हैं। कुमार जाबाल गायों को लेकर दूर के वन प्रदेश में इस प्रतिज्ञा के साथ जाता है कि जब तक ये चार सौ गायें एक हजार नहीं हो जायेंगी तब तक गुरुकुल वापस नहीं आएगा। उनकी तपस्या-श्रद्धा और निष्ठा से प्रसन्न होकर दिगसम्बन्धिनी वायु देवता ऋषभ (साँड़) भाव को प्राप्त होकर उपदेश देता है—पूर्व-पश्चिम-उत्तर और दक्षिण, ये चार दिशाएँ ब्रह्म की प्रथम पाद की चार कलाएँ हैं। ये कलाएँ ब्रह्म के 'प्रकाशवान्' नामक चार कलाएँ हैं और जो इस चतुष्कलपाद (चार कालाओं से युक्त) की 'प्रकाशवान्' इस गुण से युक्त ब्रह्म की उपासना करता है वह इस लोक में प्रकाशवान् होता है और प्रकाशवान् लोकों को जीत लेता है। अब द्वितीय पाद का उपदेश तुम्हें अग्नि से प्राप्त होगा।

अग्नि ने कहा—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र ये ब्रह्म के द्वितीय पाद की चार कलाएँ हैं, जिसे ब्रह्म का चतुष्कलपाद "अनन्तवान्" नामवाला कहा जाता है। जो ब्रह्म के इन चार कलाओं के गुण से युक्त 'अनन्तवान्' की उपासना करता है, वह इसलोक में अनन्तवान् होकर अनन्तवान् लोकों को जीत लेता है। अब ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश तुम्हें हंस से प्राप्त होगा।

हंस ने कहा—सौम्य सत्यकाम! अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् ये चतुष्कलपाद ब्रह्मके "ज्योतिष्मान्" नामवाला है। इन गुणों (कलाओं) से युक्त 'ज्योतिष्मान्' नामवाला पाद की जो उपासना करता है वह इसलोक में ज्योतिष्मान् होकर ज्योतिष्मान् लोकों को जीत लेता है। अब तुम्हें ब्रह्म के चौथे पाद का उपदेश मद्‌गु (जलपक्षी) से प्राप्त होगा।

मद्‌गु ने कहा—सौम्य सत्यकाम! ब्रह्म के चतुर्थ पाद के प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये चार कलाएँ

अत्रेः पुत्राय हरये, अनुसूयासुताय च ।
दत्तात्रेयाय गुरवे, अवधूताय ते नमः ।। (अवधूत गी.टी. मंगलाचरणे)
गोरक्षकस्य माहात्म्यं दत्तात्रेयस्य वैभवम् ।
सम्बाद उभयोश्चैव, अद्भुतं ब्रह्मनिर्णयम् ।। (अव.गी.टी.मं.)
निर्जीव जीवरहितं सततं विभाति,
निर्बीज बीजरहितं सततं विभाति ।
निर्वाणबन्धरहितं सततं विभाति,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ।।

हैं और इन कलाओं से सम्पन्न पाद का नाम "आयतनवान्" है। "आयतनवान्" इस गुण से युक्त ब्रह्म के **चतुष्कल** = पाद की उपासना करनेवाला इसलोक में आयतनवान् (आश्रयवाला) होकर आयतनवान् लोकों को जीत लेता है।

इस प्रकार ब्रह्म के प्रथम पाद के पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार कलाऐं, द्वितीय पाद के– पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र चार कलाएँ, तृतीय पाद के–अग्नि, सूर्य-चन्द्रमा, और विद्युत् चार कलाएँ और चतुर्थ पाद के–प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये चार कलाएँ हैं। कुल कलाओं की संख्या सोलह हैं, इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म चतुश्चतुष्कल हैं। (छान्दोग्य उपनिषद् ४/४–८)

व्याख्या–अत्रेः = अत्रिके, **पुत्राय** = पुत्र, **अनुसूयासुताय** = अनुसूया के सुत, **हरये च** = एवं जो जगत् के दुःख को हरण करने के कारण साक्षात् हरि (नारायण) रूप हैं, **अवधूताय** = ऐसे अवधूत अवस्था को प्राप्त, **दत्तात्रेयाय** = दत्तात्रेय, **गुरुवे** = गुरु को, **नमः** = प्रणाम करते हैं।

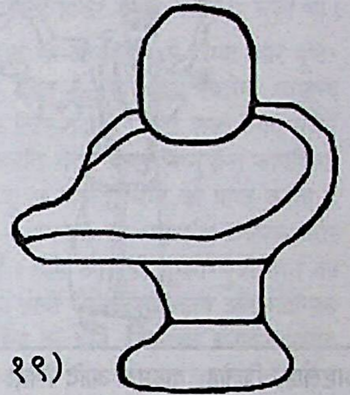
(अवधूत गी.टी. मंगलचरण)

गोरक्षकस्य = इन्द्रियों को अधीन रखनेवाले श्री गोरक्षनाथ के, **माहात्म्यम्** = माहात्म्य का, **दत्तात्रेयस्य** = भगवान् की दत्तात्रेय जी के, **वैभवम्** = वैभव का, **सम्बाद उभयोः** = और दोनों महात्माओं का जो सम्बाद (परमात्म विषयक वार्ता) है, **ब्रह्मनिर्णयम्** = वह ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करता है, **अद्भुतम् एव** = सो वह अद्भुत ही है। (अव.गी.टी.मं.)

निर्जीवः = जो परमात्मा जीव नहीं है, ब्रह्म है, **जीवरहितम्** = उस जीवभाव से रहित भाव को प्राप्त जो साधक है वह, **सततम्** = सदा, **विभाति** = शोभित-प्रकाशति होता है। **निर्बीजः** = जो सभी प्राणियों के बीज (मूल-उत्पत्ति स्थान) है, **बीजरहितम्** = परन्तु जो स्वतः में किसी का बीज नहीं है ऐसे ब्रह्म को प्राप्त पुरुष, **सततम्** = नित्य, **विभाति** = शोभायमान होता है। **निर्वाणबन्ध-रहितम्** = मोक्ष और बन्ध उभयभाव से रहित जो ब्रह्मभाव है वह, **सततम्** = सदा, **विभाति** = शोभा पाता है। **ज्ञानामृतम्** = ब्रह्मभाव ज्ञानामृत, **समसरम्** = समरसता को प्राप्त अर्थात् सबको ब्रह्मदृष्टि से ही देखनेवाला, **गगनोपमम्** = ऐसे आकाश के समान व्यापक ब्रह्म, **अहम्** = मैं ही हूँ ।।३१।।

सम्भूतिवर्जितमिदं सततं विभाति, संसारवर्जितमिदं सततं विभाति।
संहारवर्जितमिदं सततं विभाति, ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ।।३२।।

१६ वाणजम्– नर्मदाजलमध्यस्थम्
१५ पारदम् **७ गोमेदम्**
१४ हीरकम् **६ इन्द्रनीलम्**
१३ सौवर्णम् **५ पुष्परागम्**
१२ राजतम् **४ काश्मीरम्**
११ मौक्तिकम् **३ पद्मरागम्**
१० वैद्रुमम् **२ स्फाटिकम्**
९ माणिक्यम् **१ पाषाणजम्**
८ गारुत्मतम् (श्री विद्यार्णव तन्त्रे १९)



सम्भूतिविवर्जितम् = जन्म-मरण अथवा अविद्या से रहित, **इदम्** = यह आत्मरूप जगत्, **सततम्** = सदा, **विभाति** = शोभा प्राप्त करता है, **संसारवर्जितम्** = संसारभाव से रहित अर्थात् जन्मादि से रहित, **सततम्** = नित्य, **विभाति** = शोभा पाता है, **इदम्** = यह जगत्, **संहारवर्जितम्** = संहार से रहित अर्थात् अमरभाव (मोक्षभाव) को प्राप्त होने पर, **सततं** = सदा, **विभाति** = शोभा को प्राप्त करता है, **ज्ञानामृतम्** = क्योंकि उस ज्ञानामृत को पान करके, **समरसम्** = समरसता को प्राप्त, **गगनोपमम्** = आकाश के उपमावाला व्यापक ब्रह्म, **अहम्** = मैं ही हूँ ॥३२॥ (अव.गी. अ. ३२)

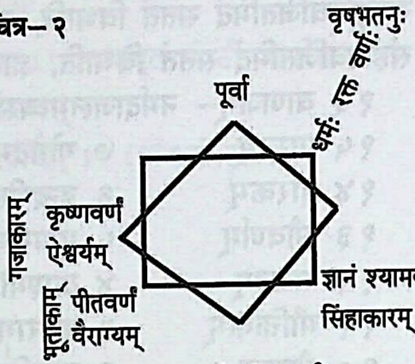
व्याख्या–यहाँ श्रीविद्यार्णवतन्त्र के अनुसार सोलह प्रकार के लिङ्गों का उल्लेख किया गया है। लिङ्गार्चन का व्यवहार सनातनधर्मावलम्बियों के तान्त्रिक, यौगिक, वैदिक, स्मार्त, भाक्त आदि परम्परा में भूरिशः रहा है। लिङ्ग वस्तुतस्तु अव्यक्त-प्रकाश-ज्ञान-मोक्ष एवं आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही है। व्यक्त लिङ्ग प्रकृति से सम्बद्ध, स्थूल स्वरूप एवं कर्मकाण्डियों के आराध्य है। यद्यपि स्थूलबुद्धि के आराधक भी कर्मकाण्ड विज्ञान के माध्यम से उस सूक्ष्म परमात्मतत्त्व, सत्य, ज्ञान, अनन्त, अपरिमेय, व्यापक ब्रह्म को ही स्मरण-चिन्तन-आराधन करता है, क्योंकि स्थूलग्राहिनी बुद्धि प्रकृति सम्बद्ध लिङ्ग को ही ग्रहण करने (प्रथमावस्था) में अर्ह होती है और आराधना के द्वारा बुद्धि का सूक्ष्मग्रहण सामर्थ्य के उदय होने पर उस सूक्ष्म निरञ्जन-निराकार शिव तत्त्व को ग्रहण कर पाने में वह (बुद्धि) सक्षम होती है। इसलिये प्रत्येक सम्प्रदाय (परम्परा) में प्रथमावस्था के साधक (अर्चक) प्रकृति सम्बद्ध लिङ्ग का अर्चन-उपासना करते हैं। परन्तु सभी प्रकार की अर्चना-साधना की प्राप्ति परमात्मा ब्रह्म ही है और वह शिव (कल्याण) स्वरूप है—"नृणामेकोगम्यः त्वमसि पयसामर्णवमिव" "सर्वेषां शास्त्राणां परमात्मनि एव तात्पर्यः" इस प्रकार शास्त्रों में प्रभूतरूप से कहा गया है।

प्रकृत में विद्यार्णव तन्त्र में सोलह प्रकार के लिङ्गों की चर्चा है, परन्तु अन्य जगहों में— ताम्रलिङ्ग, रसमय लिङ्ग, रैत्यलिङ्ग, रक्तचन्दन लिङ्ग, शंख, कांस्य, आयस, पार्थिव, पित्तल, रङ्ग,

चित्र–१



चित्र–२



(श्री विद्यार्णव तन्त्र १९)

अष्टलोह, त्रिलोह, दारुमय आदि लिङ्गों का उल्लेख और उसके माहात्म्य, आराधना विधि, अधिकारी को दर्शाकर उस-उस लिङ्गार्चन के फल भी कहे गये है। कुछ लिङ्गों की अर्चना को कलियुग में निषिद्ध भी किया गया है—

ताम्रलिङ्गं कलौ नार्चेत्, रैत्यस्य सीसकस्य च।
रक्तचन्दनलिङ्गं च, शंखकस्यायसं तथा।। (मत्स्य सूक्ते)

पाषाणजम् = पाषाण (पत्थर) के बने लिङ्ग, **स्फाटिकम्** = स्फटिकशिला से निर्मित, **पद्मरागम्** = पद्मरागमणि से निर्मित, **काश्मीरम्** = केशर से बने लिङ्ग, **पुष्परागम्** = पुष्परागमणिनिर्मित, **इन्द्रनीलम्** = इन्द्रनीलमणि का लिङ्ग, **गोमेदम्** = गोमेद पत्थर का लिङ्ग, **गारुत्मतम्** = गरुत्मत् से निर्मित लिङ्ग, **माणिक्यम्** = माणिक निर्मित लिङ्ग, **वैद्रुमम्** = विद्रुम मणि से निर्मित लिङ्ग, **मौक्तिकम्** = मुक्ता से तैयार लिङ्ग, **राजतम्** = रजत (चाँदी) निर्मित लिङ्ग, **सौवर्णम्** = सुवर्ण (सोना) से निर्मित लिङ्ग, **हीरकम्** = हीरे से निर्मित लिङ्ग, **पारदम्** = पारद (पारा) से बने लिङ्ग और **वाणजम्** = नर्मदा नदी से प्राप्तवाणलिङ्ग ये सोलह लिङ्ग उत्कृष्ट कोटि के हैं, जिसके अर्चन-पूजन और आराधन से भुक्ति-मुक्ति उभय फल प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—प्रतीक चित्र प्रथम और द्वितीय अंकित करने का अभिप्राय अभिकथन को सुस्पष्ट करने के लिए है। यह चित्र परमेश्वर भगवान् विष्णु का है जो मूलतः जगत्पालक हैं। उनकी अनुकल्पा से जगत् का पालन-पोषण-संवर्धन होता है। प्रथम चित्र में भगवान् विष्णु के चार भुजाएँ हैं और चारों भुजाओं में मोटाई-लम्बाई का अन्तर भी है तथा चारों में क्रमशः शंख-चक्र-गदा और पद्म धारण किये हैं, जिसका तात्पर्य द्वितीय चित्रांकन से अभिव्यक्त किया गया है। वाहों की विषमता का और आयुधों का विशेष सूक्ष्म तात्पर्य है जिसकी व्याख्या इस प्रकार है—भगवान् के बाँयी भुजा उनके धर्म स्वरूप का बोधक है। धर्म का शरीर वृषभाकार (साँड़ शरीर) है। धर्म का वर्ण रक्तवर्ण है जो रजोगुण का भी वाचक और ब्रह्मा का बोधक है। ब्रह्मा शब्द "बृह् अभिवृद्धौ" धातु से बना है जिसका अर्थ अभिवृंहण-अभिवर्धन करना है, जिससे संसार का पालन सुनिश्चित हो पाता है। इस जगत् का शान्तिपूर्ण पालन धर्म से ही सम्भव होता है। धर्म के बिना जगत् की शान्ति पूर्वक सुस्थिर स्थिति नहीं हो सकती यह

निर्विवाद है। जब-जब सृष्टि में धर्म का अभाव होता है तब-तब विप्लव देखा-सुना जाता है। वर्तमान में भी गाँधीवादी विचारक जननायक श्री अन्ना हजारे के आन्दोलन से आप इसका अनुभव किये होंगे कि— किस तरह पूरे का पूरे राष्ट्र सरकार की अधर्माचरण के विरुद्ध आन्दोलित होकर सड़क पर उतर चुका था।

भगवान् विष्णु बायें हाथ में गदा धारण किये हैं और यहाँ हाथ भी अन्य हाथ से लम्बा और पुष्ठ-दृढ़ है। गदा का अभिप्राय यह है कि—जो जीवात्मा धर्म से रहित है, येन-केन प्रकारेण सामान्य जीवात्माओं की हिंसा करने में लिप्त हैं, उसे दमन-शमन करने के लिए गदा है। गदा शब्द "गद् रुजे" धातु से बना है। इसकी व्युत्पत्ति से अर्थ निकलता है—गदति रुजति वेदनं दुःखं प्राप्नुवन्ति अधर्मिण: असुरवृत्तय अनेन इति गदा। जिससे अधर्मी-असुरवृत्तिवाले लोग दुःख अर्थात् व्यथा को प्राप्त करता है वह गदा है। वाहु विस्तार और उसकी हृष्टि-पुष्टि से तात्पर्य है—भगवान् का धर्मशरीर व्यापक और मजबूत है, वे कहीं भी रहते हुए धर्मात्माओं के रक्षण में समर्थ हैं। वाम ओर की दूसरी भुजा ज्ञान का रूपक है और वह सिंहाकार है। सिंह बहुत बड़े पशु नहीं होते परन्तु हाथी जैसे विशालकाय और मदोन्मत्त पशु के कुम्भ (मस्तक) विदीर्ण करने में सक्षम होता है; इसलिए सिंह को ज्ञान का रूपक बनाकर प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान का वर्ण श्याम है। श्यामवर्ण आकाश का द्योतक है और आकाश व्यापक होता है। इसका फलितार्थ यह है कि—भगवान् विष्णु का चक्रयुत् यह हाथ ज्ञानस्वरूप है और अविद्या जैसे विशाल और सबल पशु को नाश करने में सक्षम है। चक्रशब्द की व्युत्पत्ति है "चंक्रमति निष्पिषति शत्रून इति चक्रम्" जिसके द्वारा शत्रुओं के शरीर का भेदन किया जाय, अर्थात् जीवात्मा का जो सबसे नजदीक और प्रबल शत्रु है वह अविद्या (अज्ञान) ही है और उस अविद्या के व्यापक शरीर का भेदन करनेवाला ज्ञान है, जिसे चक्र का रूपक दिया गया है। अत: ज्ञान को चक्ररूप से प्रतीकांकित किया जाता है।

भगवान् हरि (विष्णु) के ऊपरवाले दाहिने हाथ में शंख का आयुध है जिसका अभिप्राय भी सूक्ष्म ही है। दाहिनी भुजा गजाकार कृष्णवर्ण और ऐश्वर्य स्वरूप है। लौकिक ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति प्राय: हाथी जैसे उन्मत्त होकर अहंकारवश औरों से भिन्न अपने को विशाल समझते है। ऐसे लोगों के दमन के लिये वे शंख आयुध धारण करते हैं। शंख शब्द की व्युत्पत्ति "शं सुखं खनति ददाति स्वनेन धार्मिकान् इति शंखः" अथवा 'खनु' अवदारणे धातु से बना मानने पर अर्थ होगा—"शं सुखं खनति अवदारयति शत्रूनिति शंखः" अथवा शम् धातु से बना शंख शब्द मानने पर (शयो खः) "शाम्यति अलक्ष्मीम् इति शंखः" अर्थ होगा। जो शत्रुओं (धर्म-ज्ञान-शील रहितों) के सुख का नाश करे और भक्तों-ज्ञानियों को अपनी ध्वनि से सुख प्रदान करे और उसकी दारिद्रय को दूर करे उसे शंख कहते हैं। भगवान् असुरों अधर्मियों-पापियों जो अपने असुरवृत्तियों, अधर्मों, पापों के ऐश्वर्य के कारण सज्जनों, धार्मिकों, सत्यवादियों, सदाचारियों, साधु-सन्तों, अनाथों, असहायों पर उन्मत्त हो उन्हें दमित करने में लगे हुए रहते हैं, भगवान् उसे उपशमित करते, दण्ड देते, दुःख प्रदान करते हैं इसलिए वे शंख को प्रतीक रूप में धारण करते हैं।

भगवान् हरि के नीचे की वायी भुजा में कमल पुष्प है और वह भूताकार (जगत् स्वरूप) है। वर्ण पीत है और गुण वैराग्य है। इसका तात्पर्य है कि—वैश्यवर्ण (जाति) का रंग पीत होता है और वह कृषि आदि व्यापार कर धनार्जन करता है। किसी भी प्रकार के निमित्त धनादिक का अर्जन करनेवाला गुणत: वैश्य है; इसलिये अर्जित धन के साथ उसे आसक्ति न रहे वह सम्पूर्ण भूताकार अपने को समझे, मैं सबके लिये धन अर्जित किया हूँ और सब ईश्वर के ही स्वरूप हैं वैसा मैं भी हूँ, की भावना से सम्पदा

रसलिङ्गनिर्माण विधिः–

निष्कत्रयं हेमपत्रं रसेन्द्रं नवनिष्ककम्।
अम्लेन मर्दयेद्यामं, तेन लिङ्गं तु कारयेत्।।
दोलायन्त्रे सारनाले, जम्बीरस्थं दिनं पचेत्।
तल्लिङ्गं पूजयेन्नित्यं, सुशुभैरूपचारकैः।।
लिङ्गकोटिसहस्रस्य, यत्फलं सम्यगर्चनात्।
तत्फलात्कोटिगुणितं, रसलिङ्गार्चनाद्भवेत्।।

(विद्यार्णव तन्त्र १९)

में अनासक्त रहता हुआ सबका भरण-पोषण करे। यदि वह उसमें आसक्त होता है तो उसके लिए भगवान् कमल पुष्प धारण करते हैं। कमल शब्द का अर्थ यहाँ यह है—कम् सुखं अलति वृश्चिकवद्दंशति इति कमलम्'' अर्थात् जो व्यक्ति भूताकार जगत् की संचित धन से अर्चना नहीं करता उसे भगवान् वृश्चिक के समान (पुष्प में प्रविष्ट रहकर ही) दर्शन करते हैं। यह याद रखना चाहिये कि ''भोगे रोगभयम्'' जो भोग में आसक्त है उसे उसी भोग में रोग प्राप्त हो जाता है और वह दुःख भोगता है। यही भगवान् की दंशन क्रिया है। इसलिए वस्तुओं के रूप सौन्दर्य में आसक्तजन को सावधान रहना चाहिये। कमल पुष्प इसी का प्रतीक है। अस्तु। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १८)

व्याख्या–निष्कत्रयम् = तीननिष्क मात्रा, **हेमपत्रम्** = धत्तूरे का पत्ता, **नवनिष्ककम्** = नौ निष्क मात्रा, **रसेन्द्रम्** = पारा, **अम्लेन** = आँवला के साथ, **यामम्** = तीन घण्टा, **मर्दयेत्** = मर्दन करे, **तेन** = और उससे, **लिङ्गम् तु** = लिङ्ग पिण्ड, **कारयेत्** = बना ले। यह पारे के लिङ्ग बनाने की विधि है। रस पारा को भी कहते हैं यथा—

रसेन्द्रः पारदः सूतो, सूतराजो तु सूतकः। शिवतेजो रसः सप्त, नामान्येवं रसस्य तु।।
रसनात् सर्वधातूनां, रस इत्यभिधीयते। जरारुङ्मृत्युनाशाय, रस्यते वा रसो मतः।।
रसोपरसराजत्वात्, रसेन्द्र इति कीर्तितः। देहलोहमयीं सिद्धिं, सूते सूतस्ततः स्मृतः।।

(रसेन्द्रसार संग्रह)

अतः रस पारद है और रसलिङ्ग पारद (पारा) से बने लिङ्ग को ही कहते हैं। अब द्वितीय प्रकारक रस लिङ्ग निर्माण विधि और उसके पूजन के फल माहात्म्य को उधृत करते हैं—

दोलयन्त्रे = पारा को दोलक यन्त्र (जिसमें आलोडन कर मिलाया जाता है) में रखकर, **सारनाले** = उसमें तिलका कल्क डाले, **जम्बीरस्थम्** = पुनः उसमें जम्बीर नीबू को डाल कर, **दिनम्** = एक दिन तक रखकर, **पचेत्** = पुनः आलोडन करे। **तल्लिङ्गम्** = उससे पिण्डीकार लिङ्ग बना कर उस लिङ्ग की, **सुशुभैः** = सुन्दर, **उपचारकैः** = दिव्य सामग्रियों से, **नित्यम्** = प्रतिदिन, **पूजयेत्** = पूजा करे। **लिङ्गकोटिसहस्रस्य** = कोटि (एक करोड़) लिङ्ग के, **सम्यगर्चनात्** = समाहित मन से पूजन करने से, **यत्** = जो, **फलम्** = फल मिलता है, **तत्** = उसके, **फलात्** = फल से भी, **कोटिगुणितम्** = करोड़गुणा फल, **रसलिङ्गार्चनात्** = रस लिङ्ग के अर्चन से, **भवेत्** = प्राप्त होता है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १९)

ब्रह्महत्या सहस्राणि, गोहत्या नियुतानि च।
तत्क्षणात् विलयं यान्ति, रसलिङ्गस्य दर्शनात्॥
स्पर्शनात्प्राप्यते मुक्तिः, इति सत्यं शिवोदितम्।
वाङ्माया श्रीरघौरेण, मन्त्रराजेन चार्चयेत्॥
अष्टादशभुजं शुभ्रं, पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम्।
प्रेत्तारुढं नीलकण्ठं, रसलिङ्गं विचिन्तयेत्॥
तस्योत्संगे महादेवीं, एकवक्त्रां चतुर्भुजाम्।
अक्षमाङ्कुशौ दक्षे, वामे पाशाभये शुभे॥

व्याख्या—इससे पूर्व से ही रसमयलिङ्गार्चन एवं उसके माहात्म्य का प्रसंग चल रहा है। अब उसके विस्तृत पूजन विधि और माहात्म्य को कह रहे हैं—**रसलिङ्गस्य** = पारदलिङ्ग के, **दर्शनात्** = दर्शन मात्र से, **ब्रह्महत्यासहस्राणि** = हजारों ब्रह्म हत्या, **गोहत्यानियुतानि च** = और दस लाख गोहत्या के पाप, **तत्क्षणात्** = उसी क्षण (दर्शन के समय में) ही **विलयम्** = नाश, **यान्ति** = हो जाते हैं। **स्पर्शनात्** = पारद लिङ्ग के स्पर्श मात्र से, **मुक्तिः** = मोक्ष, **प्राप्यते** = प्राप्त हो जाता है। **इति** = यह, **शिवोदितम्** = भगवान् शिव के स्वयं का कथन है कि, **सत्यम्** = यह सत्य है। **वाङ्मायाश्रीरघौरेण** = वाङ्बीज (ऐं), मायाबीज 'ह्रीं' और श्री अघोरमन्त्र, **मन्त्रराजेन च** = और जो मन्त्रों के राजा कहा गया है, उस 'ऐं ह्रीं अघोराय नम:'' इस मन्त्र से **अर्चयेत्** = पारद शिवलिङ्ग की पूजा करनी चाहिये। **अष्टादशभुजम्** = अठारह भुजा, **पञ्चावक्त्रम्** = पाँच वक्त्र (पाँच मुँह) वाले, **त्रिलोचनम्** = और तीन आखोंवाले, **प्रेतारुढम्** = प्रेत पर सवार, **नीलकण्ठम्** = नीले रंग के कण्ठ है जिसके, ऐसे भगवान् शिव के, **रसलिङ्गम्** = पारदलिङ्ग का, **विचिन्तयेत्** = ध्यान करना चाहिये। **तस्योत्सङ्गे** = उन भगवान् शिव के वामपार्श्व अर्थात् गोद में, **एकवक्त्राम्** = एकमुखी, **चतुर्भुजाम्** = चारभुजी, **दक्षे** = दाहिना ओर की भुजाओं में, **अक्षमाङ्कुशौ** = अक्षमाला (रुद्राक्ष) और अंकुश, **वामे** = वायीं ओर की भुजाओं में, **पाशाभये** = पाश (अस्त्र) और अभय मुद्रा, **दधतीम्** = धारण की हुई, **पीतवस्त्राम्** = पीले रंग की साटिका और चोलिका पहनी हुई, **तप्तहेमाभाम्** = तप हुए सुवर्ण के समान शरीर की आभावाली, **महादेवीम्** = विराजमान महागौरी का, **विभावयेत्** = ध्यान करना चाहिये।

वाङ्मायाश्रीकामराजशक्तिबीजरसाङ्कुशायै = ॐ ऐं ह्रीं श्रीकामराजशक्तिबीजरसाङ्कुशायै, इस प्रकार, **द्वाददार्णैः** = द्वादश अक्षर वाले मन्त्र से, **नमः** = नमस्कार करना चाहिये। **एषा** = यह, **रसांकुशी** = रसांकुशी, **विद्या** = विद्या है। **अनया** = इस रसांकुशा विद्या (मन्त्र) के द्वारा, **देवीम्** = देवी गौरी की, **गन्धपुष्पादिभिः** = चन्दन, अक्षत एवं पुष्पादिकों से, **पूजयेत्** = पूजा करनी चाहिये। **प्राणवादिनमोन्तकैः** = प्रणव (ॐ) है आदि में है जिसके ऐसे नम: अन्तवाले, **नाममन्त्रैः** = नाम मन्त्र से, **नन्दिभृङ्गि महाकालान्** = नन्दी, भृंगी और महाकाल, **कुमारान्** = तथा कुमार आदि गणों की,

दधतीं तप्तहेमाभां, पीतवस्त्रां विभावयेत् ।
वाङ्मायाश्रीकामराज, शक्तिबीजरसांकुशा ।
यै नमो द्वादशार्णैषा, जया विद्या रसांकुशी ।
अनया पूजयेद्देवीं, गन्धापूष्पाक्षतादिभिः ॥
नन्दिभृङ्गिमहाकालान्, कुमारान् सर्वदिक्क्रमात् ।
पूजयेन्नाममन्त्रैस्तु, प्रणवादि नमोन्तकैः ॥
पराप्रासाद दीक्षा च, पारदेश्वर पूजनम् ।
महिम्नः स्तुतिपाठश्च, नाल्पस्य तपसः फलम् ॥
पराप्रासादमन्त्रेण, रसलिङ्गं समर्चयेत् ।
षण्मासाभ्यन्तरेणैव, सर्वसिद्धिश्वरोभवेत् ॥

(श्रीविद्यार्णव तन्त्र १९)

शालिग्रामः—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं, मूलं दूर्वाक्षताः सुत !
जायते मेरुणा तुल्यं, शालिग्रामशिलार्चितम् ॥ (स्कान्दे)

सर्वदिक्क्रमात् = सभी दिशाओं में क्रम से, **पूजयेत्** = पूजा करनी चाहिये । **पारदेश्वरपूजनम् च** = इस पारदेश्वर शिव की पूजा से, **पराप्रासाददीक्षा** = पराप्रासाददीक्षा की प्राप्ति होती है । **महिम्नः** = उनकी महिमा की, **स्तुतिपाठश्च** = स्तुति पाठ से, **अल्पस्य तपसः** = अल्पतपस्याका, **फलम्** = फल, **न** = नहीं मिलता प्रत्युत् जो फल कठिन तप से प्राप्त होता है वह फल मिलता है । **पराप्रासादमन्त्रेण** = इसलिए साधक को उपर्युक्त पराप्रासाददीक्षा मन्त्र से, **रसलिङ्गम्** = पारदलिंग की, **समर्चयेत्** = अर्चन-पूजन करना चाहिये । **षण्मासाभ्यन्तरेण** = इस पूजन से छः मास के अन्दर, **एव** = ही, **सर्वसिद्धिश्वरः** = सभी प्रकार के सिद्धियों के अधिपति पद की, **भवेत्** = प्राप्ति हो जाती है । (श्री विद्यार्णव तन्त्र १९)

व्याख्या—प्रसंग शालिग्राम शिला पूजन के माहात्म्य और पूजन में शिला की संख्या क्या हो इससे सम्बद्ध है । शालिग्राम शिला पूजन विधि में उसकी संख्या के निर्माण के लिये शास्त्रों में प्रसंगवशात् यथा स्थान निर्देश प्राप्त होता है—

गृहे लिङ्गद्वयं नार्च्यः, शालग्राम द्वयं तथा ।
द्वौ शङ्खौ नार्चयेच्चैव, भग्नां च प्रतिमां तथा ।
नार्चयेच्च तथा मत्स्यं, कूर्मादि प्रतिमां तथा ।।
गृहेऽग्निदग्धा भग्नाश्च, नार्च्याः पूज्या वसुन्धरे ।

एतासां पूजनान्नित्यं, उद्वेगं प्राप्नुयाद् गृही ।।

शालिग्रामा युगाः पूज्याः, युगेषु द्वितीयं न हि ।
अयुग्मा नैव पूज्यन्ते, अयुग्मेष्वेक एव हि ।।
स्थूला निहन्ति चैवायुः, निष्कला तु अलाञ्छिता ।। (वृहन्नारदीये)

आवाहनम्—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य, सुषुम्नावर्त्मना सुधीः ।
आनीय तेजः स्वस्थाना न्नासिकारन्ध्र निवातम् ।।
करस्थमातृकाम्भोजे, चैतन्यं पुष्पसंचये ।
संयोज्य ब्रह्मरन्ध्रेण, मूर्तावावाहयेत्सुधीः ।। (शारदा तिलके)

शालग्रामाः समाः पूज्याः समेषु द्वितयं न हि ।
विषमा चैव न पूज्याः, विषमेष्वेक एव हि ।।
शालग्रामशिलाभग्ना, पूजनीया सचक्रका ।
खण्डिता स्फुटिता वापि, शालग्रामशिला शुभा ।।

(इति वाराहपाद्मयोः)

अब इसी प्रसंग में वृहन्नारदीय वचन के श्लोक की व्याख्या लिखते हैं—**हे सुत** = हे पुत्र, **पुष्पम्** = पुष्प, **फलम्** = फल, **तोयम्** = जल, **मूलम्** = मूल (कन्द), **दुर्वाक्षताः** = दुर्वा और अक्षत से, **शालिग्राम-शिलार्चितम्** = शालिग्राम शिलास्वरूप भगवान् नारायण की जो पूजा करता है तो वे चढ़ायी गयी सामग्रियाँ, **मेरुणा** = सुमेरु (स्वर्ण) पर्वत के दान के, **तुल्यम्** = समान फल को देनेवाला, **जायते** = हो जाता है । **शालिग्रामा युगाः** = शालिग्राम शिला यदि घर में दो हो तो उसमें युग्म संस्था की, **पूज्याः** = पूजा करनी चाहिये; **समेषु** = युग्म (जोड़ा) संख्या में से, **द्वितयम्** = असम संख्या की पूजा, **न हि** = नहीं करनी चाहिये । **अयुग्मेषु** = अयुग्म संख्या में बहुत शिलाएँ हो तो, **एकः** = किसी एक की, **हि** = ही पूजा करनी चाहिये । **स्थूला** = स्थूल शिला के पूजन करने से, **आयुः** = आयुष्यका, **एव** = ही, **निहन्ति** = क्षय होता है अर्थात् अधिक स्थूल (विशाल) शिला का पूजन नहीं करनी चाहिये । **निष्कला** = कलाओं से रहित, **अलाञ्छिता** = लाञ्छन (दाग-धब्बा) रहित शालिग्राम शिला ही पूज्य है। परन्तु चक्रांकित, स्फुटित (फूटी हुई) भी शिला पूजा में ग्राह्य है । (वृहन्नारदीय पुराण)

व्याख्या—सुधीः = साधक, **मूलमन्त्रं** = देवता के आवाहन काल में मूलमन्त्र का, **समुच्चार्य** = सम्यग् उच्चारण करके, **स्वस्थानात्** = मूलाधार स्थान से, **निवातम्** = श्वास को उत्थान करते हुए, **सुषुम्नावर्त्मना** = सुषुम्ना मार्ग के द्वारा, **तेजः** = आत्मतेज को, **आनीय** = ले आकर, **करस्थम्** = कर (हाथ) में स्थित, **पुष्पसंचये** = संचित पुष्प, **मातृकाम्भोजे** = जिसे मातृकाम्भोज कहा जाता है उसमें, **चैतन्यम्** = आत्मा को, **ब्रह्मरन्ध्रेण** = ब्रह्मरन्ध्र मार्ग द्वारा, **संयोज्य** = संयोजित करके **मूर्तौ** = मूर्ति में, **आवाहयेत्** = आवाहन करे । (शरदा तिलक)

पूजा–

तान्त्रिकी विप्र भक्तस्य, शूद्रस्यापि प्रकीर्तिता । (पाद्मे)
वेदच्युतानां विप्रत्वं, देवत्वं चापि दुर्लभम् ।
कलिना प्रेरिता विप्रा; स्तत्तन्त्रपथगामिनः ।।
कामलोभादिभि र्ग्रस्ता, ब्राह्मण्येन विदारिताः ।
म्लेच्छास्ते ते भविष्यन्ति, क्षीणपुण्याश्च रोरवे ।।
पतीष्यन्तीति विज्ञाय, न वै वैदिकमुत्सृजेत् ।।
(श्री विद्यार्णव तन्त्र १९)



सुप्रतिष्ठिशंखस्य, तीर्थैः पञ्चामृतैरपि ।
अभिषिच्य महादेवं, रुद्रसूक्तैः समाहितः ।। (स्कान्दे)

व्याख्या–अब पूजा के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट और गूढ़ विषय कहा जा रहा है—**विप्र** = हे विप्र ! **शूद्रस्य** = शूद्र, **अपि** = भी, **भक्तस्य** = यदि भक्त हो तो, **तान्त्रिकी** = उसके लिए तान्त्रिकी पूजा, **प्रकीर्तिता** = प्रशस्त है, अर्थात् तान्त्रिकी पूजा में उसे भी अधिकार है। **वेदच्युतानाम्** = परन्तु वेदज्ञान से च्युत, **विप्रत्वम्** = विप्रता, **देवत्वं च** = और देवत्व, **अपि** = भी, **दुर्लभम्** = दुर्लभ ही है। अर्थात् जो वेदज्ञान से रहित है उसमें ब्राह्मणत्व और देवत्व का रहना संभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। **विप्राः** = ब्राह्मणगण, **कलिना** = कलि (पाप) से प्रेरित हैं, **तत्** = इसलिए वे, **तन्त्रपथगामिनः** = तन्त्रमार्ग का आश्रय लेकर उस पर अनुगमन करते हैं। **कामलोभादिभिः** = वे काम-क्रोध-लोभ-मोह-मात्सर्य आदि, **प्रेरिताः** = अनेक पाप कारक इच्छाओं से प्रेरित होकर, **ग्रस्ताः** = उससे ग्रस्त हो गये हैं, **ब्राह्मण्येन** = इसलिए वे ब्राह्मणता से, **विदारिताः** = भ्रष्ट हो गये हैं, **ते** = वे ब्राह्मण जो वेदज्ञान से रहित तन्त्रमार्ग के आश्रय लिये हैं, **ते म्लेच्छाः** = वे म्लेच्छ हो गये हैं, **तेक्षीणपुण्याः च** = इसलिये वे पुण्य से क्षीण हो जाने के कारण, **रोरवे** = रोरवे नरक में, **पतिष्यन्ति** = गिर जायेंगे, **इति** = ऐसा, **विज्ञाय** = जानकर, **वै** = निश्चितरूप से उस विज्ञानमय, **वैदिकम्** = वैंदिकमार्ग को, **न उत्सृजेत्** = नहीं त्यागना चाहिये। इस प्रकार यह शास्त्र का विनिश्चय है कि विशेष करके ब्राह्मणों को तो तन्त्र मार्ग का आश्रय नहीं ही लेना चाहिये; अन्य के लिए भी यह मार्ग पापजनक है। अत: आत्मोन्नति के लिए वेद विहित मार्ग मात्र कल्याणकारी है। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १९)

शंख अगर खरीदें या अन्य प्रकार से प्राप्त करें तो उसकी प्राणप्रतिष्ठा विधि से प्रतिष्ठा करके ही पूजनादि में प्रयोग शास्त्रोक्त है, अन्य प्रकार से नहीं। अब उक्त के सम्बन्ध में कहते हैं—**तीर्थैः-पञ्चामृतैः** = तीर्थ के जल और पञ्चामृत से, **अभिषिच्य** = प्रक्षालन करके, **समाहितैः** = समाहित चित्त से, **महादेवं** = महोदव शिव की, **रुद्रसूक्तैः** = रुद्र सूक्त (रुद्री) से, **अभिषेचयेत्** = उस शंख से अभिषेक करना चाहिये। (स्कन्द पुराण)

आवाहनम्—

मूलमन्त्रं .... सुधीः ।।



प्रशस्तं पुष्पदशकम्—

शुक्ल कृष्णा च तुलसी, शुक्लं रक्तं च पङ्कजम् ।

केतकी युगलं जाती, द्वयं द्वन्द्व हयारिजम् ।। (श्री विद्यार्णव तन्त्र १९)

मोहरूपः तमः △ रजः प्रकृतिरूपवान्

प्रसादो मनुः हौम्

वामदेवः, पङ्क्तिः सदाशिवः । (मन्त्ररत्नमञ्जूषा)

एकाक्षरचिन्तामणिः = क्षौम्

कश्यपः, अनुष्टुप, अर्धनारीश्वरः । (शारदा तिलक)

व्याख्या—पूजा प्रसंग में प्रशस्त दस प्रकार के पुष्पों के सम्बन्ध में प्रमाण उद्धृत किया जा रहा है—**सुधीः** = सुधी साधक, **मूलमन्त्रम्** = मूलमन्त्र से देवता का आवाहन करे, **शुक्ला** = और सफेद, **कृष्णा** = कृष्ण (काली) दोनों प्रकार की मंजरी सहित, **तुलसी** = तुलसी, **युगलम्** = दोनों प्रकार के, **शुक्लम्** = तथा सफेद, **रक्तम्** = एवं लाल, **पङ्कजम्** = कमल, **द्वयम्** = दोनों प्रकार के जाती पुष्प, **केतकी** = केतकी पुष्प, **द्वद्वम्** = दोनों प्रकार के, **हयारिजम्** = कनेरपुष्प, ये प्रकार (रंग आदि) भेद से दस प्रकार के पुष्प पूजा में प्रसिद्ध हैं; परन्तु सभी प्रकार के पुष्प सब देवता को प्रिय नहीं हैं—

शिरीषोन्मत्तगिरिजामल्लिकाशाल्मलीभवैः ।
अर्कजैः कर्णिकारैश्च विष्णुर्नार्च्यस्तथाऽक्षतैः ।।
जपाकुन्दशिरीषैश्च, यूथिकामालतीभवैः ।
केतकीभवपुष्पैश्च, नैवार्च्यः शङ्करस्तथा ।।
गणेशं तुलसीपत्रैर्दुर्गां नैव च दुर्वया ।
मुनिपुष्पैस्तथा सूर्यं लक्ष्मीकामो न चार्चयेत् ।।

(पद्म पु. ९२/२५-२७)

शिरीष, धत्तूर, मातुलुंगी, मालती, सेंमर, मदार एवं कनेर के फूलों तथा अक्षत (चावल) से लक्ष्मी (सम्पत्ति) की इच्छा रखनेवाले भक्त भगवान् विष्णु की पूजा न करे। जपा (अड़हुल) कुन्द, शिरीष, जूही, मालती, एवं केतकी (केवड़ा) के पुष्पों से भगवान् शंकर की पूजा न करे। इसी प्रकार तुलसी

गणेश को, मुनिपुष्प (अगस्त्य का फूल) सूर्य को प्रिय नहीं होता है, इसलिए इन्हें अर्पण करना निषिद्ध है। इसी तरह पत्र-पुष्प के अर्पण की भी विधि है—**नार्पयेत्कुसुमं पत्रं, फलं देवे अधोमुखम्। विप्र यथोत्पन्नं तथार्पयेत्॥** (नारद पु.पू.) पुष्प, पत्र, फल इन वस्तुओं को अधोमुख (उलटा मुँह) देवता पर नहीं चढ़ाना चाहिये। इस प्रकार—

स्नानं कृत्वा तु ये केचित्, पुष्पं चिन्वन्ति मानवाः।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति, भस्मी भवति दारुवत्॥ (हारीत स्मृ.)

स्नान करके जो पुष्प चुनता (तोड़ता) है उसे देवता ग्रहण नहीं करते। वे चढ़ाये गये पुष्प जिस तरह अग्नि द्वारा दारु (लकड़ी) जला दी जाती उसी प्रकार देवता के कोप से वह जल जाता है।

अस्नात्वा तुलसीं छित्त्वा, देवतापितृकर्मणि।
तत्सर्वं निष्फलं याति, पञ्चगव्येन शुद्ध्यति॥ (रुद्रधर)

विना स्नान किये देवता और पितृकार्य के निमित्त तुलसी पत्र को जो चुनता है तो वह फल देनेवाला (देवमोदक) नहीं होता। वह पुनः पंचगव्य से शुद्ध होता है। और—

अमारिक्तासु संक्रान्त्या; मष्टम्यामिन्दुवासरे।
विल्वपत्रं न च छिन्द्यात्, छिन्द्याच्चेन्नरकं व्रजेत्॥ (लिंग पु.)

अमावास्या (तिथि), रिक्ता (दोनों पक्ष की चतुर्थी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी), संक्रान्तिकाल और सोमवार को विल्वपत्र नहीं तोड़ना चाहिये। तथा—

वैधृतौ च व्यतिपाते, भौमभार्गवभानुषु।
पर्वद्वये च संक्रान्तौ, द्वादश्याम् सूतके द्वयोः॥ (निर्णय सिन्धु, स्मृतिसारे)

वृधृति एवं व्यतिपात योग, मंगल, शुक्र और रविवार, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, द्वादशी, मृतक अशौच और जननाशौच के दिनों में तुलसी दल को नहीं तोड़ना चाहिये। इसी प्रकार—

निषिद्धे दिवसे प्राप्ते, गृहणीयात् गलितं दलम्।
तेनैव पूजां कुर्वीत, न पूजा तुलसीं विना॥ (वाराह पुराणे)

जिस दिन तुलसी चयन (तोड़ना) निषिद्ध हो उस दिन तुलसी पौधा के नीचे अपने आप गिरे हुए पत्तों से ही भगवान् विष्णु की पूजा करे, क्योंकि तुलसी के विना भगवान् विष्णु की पूजा नहीं होती है।

कुपात्रान्तरसंस्थानि, कुत्सितस्थानजानि च।
वह्निकीटापविद्धानि, विशोभान्यशुभानि वै॥
एवं विधानि पुष्पाणि, त्याज्यान्येव विचक्षणैः॥
न विकीर्णदलैः स्पृष्टैः, नाशुभैरविकासिभिः।
पूतिगन्ध्यान्यगन्धा; न्यम्लगन्धीनि वर्जयेत्॥ (विष्णुधर्मोत्तरपुराणे)

अपवित्र पात्र में रखा गया, अपवित्रस्थान के वृक्ष से उत्पन्न, अग्नि से झुलसा, कीट-पतङ्ग से काटे गये, सुन्दर न हो, जिसकी पंखुड़ी अधिक विखड़ी हो, पृथ्वी पर गिरा हुआ, गन्धरहित, उग्र गन्धवाला, पूर्ण रूप से खिला न हो, जिसमें खट्टागन्ध एवं सड़ाध हो, ऐसे पुष्प को देवता पर चढ़ाना निषिद्ध है।

करानीतं पटानीत; मानीतं चार्कपत्रके।
एरण्डपत्रकेऽप्यानीतं, तत्पुष्पं सकलं त्यजेत्।। (वीरमित्रोदये)

बायें हाथ से लाया हुआ, अधोवस्त्र में लाया हुआ, अर्कपत्र (मदार) और रेंड़ के पत्र में लाया हुआ पुष्प त्याज्य है। उसे देवता ग्रहण नहीं करते हैं।

मुकुलैनार्चयेत् देवं, पङ्कजैर्जलजैर्विना। (स्मृतिसारावल्याम्)

पुष्प की कलियों को चढ़ाना त्याज्य है, परन्तु कमल के पुष्प की कली त्याज्य नहीं है।

दूर्वा स्वामिमुखाग्रा स्यु, र्विल्वपत्रमधोमुखम्। (तृचभास्करे)
तुलस्यादिपत्रम् आत्माभिमुखं न्युब्जमेव समर्पणीयम्। (प्रतिष्ठासारदीपिकायां)

तुलसी, दूर्वा, विल्वपत्र आदि को आत्माभिमुख (अपनी ओर मुख) करके न्युब्ज (उत्तान करतल मध्यमा, अनामिका एवं अङ्गुष्ठ) मुद्रा से चढ़ाना चाहिये।

जलं पर्युषितं त्याज्यम्। (शिवरहस्ये)
गंगावारि न दुष्यति। (शिवरहस्ये)

बासी जल नहीं चढ़ाना चाहिये, परन्तु गंगाजल दूषित (वासी) नहीं होता है।

उद्धरिण्या जलं ग्राह्यं, जले शंखं न मज्जयेत्।
शंखस्य पृष्ठसंलग्नं, जलं पापकरं ध्रुवम्।।
यः शंखं भुवि संस्थाप्य, पूजयेत् पुरुषोत्तमम्।
तस्य पूजां न गृह्णन्ति, तस्मात् पीठं प्रकल्पयेत्।। (पूजप्रकाशे)

शंख में जलपात्र आदि से जल भरना चाहिये। शंख को किसी पात्र में रखे जलमें डुबोकर जल ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि शंख के पृष्ठभाग को जल में डुबोने से वह जल अशुद्ध हो जाता है। जो शंख को धरती पर रख कर भगवान् की पूजा करता है, उसकी पूजा भगवान् ग्रहण नहीं करते। इसलिये उसे रखने के लिए पीठ (त्रिपदी) आदि रख कर उस पर शंख को रखना चाहिये। इस वचन से पूजक के लिए यह भी सन्देश है कि भगवान् के पार्षद (शंख, घण्टी, शृङ्गी आदि) के लिए आसन (पीठ) होना ही चाहिये। क्योंकि भगवान् के पार्षद् भगवान् के ही तुल्य पूजनीय हैं।

घण्टां वामदिशि स्थिताम्। (गोतम आ.सू.)
वामतस्तु तथा धूपमग्रे नापि न दक्षिणे। (यामले)

घृतदीपो दक्षिणतस्तैलदीपस्तुवामतः । (महोदधि)
शंखमद्भिः पूरयित्वा प्रणवेन च दक्षिणे ।

घण्टी को वामभाग में, धूप को अग्रभाग में, घृपदीप दक्षिणभाग में तथा तैल दीप को वामभाग में रखना चाहिये। शंख को प्रवण मन्त्र से जलपूर्ण कर दक्षिण भाग में रखना चाहिये।

ब्रह्मविष्णुशिवाः पत्रे वृतञ्च शक्तिरूपकम् ।
वृन्तमूले तु वज्रं स्यात् पत्रे ब्रह्मपदं पिये ।
सवज्रे म्रियते नूनं वज्रघातेन पार्वति ।
तस्माच्च साधकेन्द्रेण वज्रहीनं प्रदीयते ।। (मातृका तन्त्रे ५५ पटले)

पत्र में ब्रह्मा, विष्णु और भगवान् शिव का वास है तथा पत्र के वृन्त (डण्ठल) भगवती शक्ति स्वरूप है। विल्वपत्र के वृन्त (डण्ठल) के मूल में वज्र का वास है और पत्र ब्रह्म का स्थान है। इसलिए वृन्तमूल को तोड़ कर ही विल्वपत्र को चढ़ाना चाहिये। परन्तु देश विशेष में ही वज्र चढ़ाने का निषेध है यथा—

विल्वपत्रं महायन्त्रं त्रिपत्रं महेश्वरि ।
अतएव महेशानि वज्रहीनं न दापयेत् ।।
वज्रहीने प्रदातव्ये शिवहत्या प्रजायते ।
येन केन प्रकारेण सवज्रञ्च दापयेत् ।। (शक्तिसंगम तन्त्रे)

विष्णुक्रान्ता प्रदेश में विल्वपत्र के वृन्तमूल (वज्र) को नहीं तोड़ना चाहिये। वहाँ सवज्र विल्वपत्र ही चढ़ाना चाहिये अन्यथा शिव हत्या का पाप लगता है। भगवान् शिव का कथन है—हे महेश्वरि ! तीन पत्ते का विल्वपत्र महायन्त्र है; इसलिए वज्र सहित ही चढ़ाना चाहिये। जो वज्र से रहित विल्वपत्र ही शिव पर चढ़ाना चाहिये। अब विष्णुक्रान्ता देश में वज्र सहित विल्वपात्र चढ़ाने के विधान को स्पष्ट करते हैं—

विन्ध्यपर्वतमारभ्य यावच्चटल देशतः ।
विष्णुक्रान्तेति विख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।।
विन्ध्यपर्वतमारभ्य महाचीनावधि प्रिये ।
रथक्रान्तेति विख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।।
विन्ध्य पर्वतमारभ्य यावदेव महोदधिः ।
अश्वक्रान्तेति विख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।। (शक्तिसंगमतन्त्रे)

विन्ध्यपर्वत से चट्टलदेशपर्यन्त विष्णुक्रान्ता प्रदेश है और विन्ध्यपर्वत से महाचीन देश यावत् रथक्रान्ता

1. यहाँ भाग (दिशा) से देवता के भाग (दिशा) को ग्रहण किया जाता है।

प्रदेश है, एवं विन्ध्यपर्वत से मदोदधि (सागर) पर्यन्त अश्वक्रान्ता प्रदेश है। विष्णुकान्ता में विल्वपत्र के मूल में स्थित वज्र को नहीं निकालना चाहिये। उससे भिन्न प्रदेश अर्थात् रथक्रान्ता और अश्वक्रान्ता प्रदेश में यह नियम लागू है—

इन्द्रस्यास्त्रमिदं वजं, वृन्तमूले च पार्वति।
प्राणान्तेऽपि न दातव्यं, सवज्रं मच्छिरोपरि ।। (लिङ्गार्चनतन्त्रे)

विल्वपत्र के वृन्तमूल में स्थित इन्द्र का अस्त्र–वज्र है। इसलिये इसे शिवलिङ्ग पर कदापि न चढ़ावे।

मदासनं विल्वपत्रं न कुर्वीत कदाचन।
यदि मोहात् प्रकुवीत, शिवहा व्रतमाचेत् ।। (शिवार्चनतन्त्रे)

भगवान् शिव के लिङ्ग के आसन में विल्वपत्र कभी भी नहीं रखना चाहिये अन्यथा शिवहा (शिवघ्न) दोष लगता है।

केशकङ्करकीटादिस्थिते दुःखं यतो भवेत्।
तद्दोषोपशान्त्यर्थं मालूरे स्थापयेच्छिवम् ।। (रुद्रयामल)

पार्थिव लिंग के लिये विल्वपत्र का आसन निषिद्ध नहीं है केशकीटादि दुःख निवारण हेतु यहाँ रुद्रयामल तन्त्र में विल्वपत्र का आसन पार्थिवलिङ्ग में प्रशस्त किया गया है।

बाणलिङ्गे स्वयम्भूते, चन्द्रकान्ते हृदि स्थिते।
चान्द्रायनसमं ज्ञेयं, शम्भोर्नैवेद्यभक्षणम् ।।

वाणलिङ्ग (नर्मदेश्वर) के लिए अर्पित प्रसाद भक्षण में दोष नहीं है। बाणलिङ्ग को जानने के लिए वचन उधृत किया जा रहा है—

बाणलिङ्गं तथा ज्ञेयं, मुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।
उत्पत्तिं बाणलिङ्गानां, लक्षणं लेशतः शृणु ।।
नर्मदादेऽविकयोश्च, गंगायमुनयोस्तथा।
सन्ति पुण्यनदीनां च, बाणलिङ्गानि षण्मुख! ।। (कालोत्तरे)

नर्मदा, देविका, गंगा, यमुना एवं पुण्य नदियों में पाये जाने वाले लिङ्ग बाणलिङ्ग है। ज्योतिलिङ्ग के नैवेद्य भक्ष्य है—

ज्योतिर्लिङ्गविना लिङ्गं, यः पूजयति सत्तमः।
तस्य नैवेद्यनिर्माल्य भक्षणात् तप्तकृच्छ्रकम् ।। (भविष्य पुराणे)

यहाँ ज्योतिर्लिङ्ग से इतर के प्रसाद भक्षण में प्रत्यवाय (पाप) निर्देशन से इस लिङ्ग के प्रसाद भक्षण में दोष निवृत्ति ध्वनितार्थ है।

अग्राह्यं शिवनैवेद्यं पत्रं पुष्पं फलम् जलम् ।
शालग्रामशिलासङ्गात् सर्वं याति पवित्रताम् ।। (शिव पु.वि. २२/१९)
अग्राह्यं शिवनिर्माल्यं पत्रं पुष्प फलं जलम् ।
शालग्रामशिलास्पर्शात् सर्वं याति पवित्रताम् ।। (नारद पु.पू. ६७/१२३-२४)
अभक्ष्यं शिवनिर्माल्यं पत्रं पुत्रं फलं जलम् ।
शालग्रामशिलायोगात् पावनं तद्भवेत् सदा ।। (वाराह पु. १८६/५२-५३)

शिव पूजन में शिव को अर्पित पत्र-पुष्प-फल और जल आदि गृहस्थ के लिए भक्ष्य नहीं होता; परन्तु शालग्राम शिला को स्पर्श कराकर वह प्रसाद ग्रहण योग्य है। लिङ्ग भेद से ज्योतिर्लिङ्ग और बाणलिङ्ग (नर्मदेश्वर लिङ्ग आदि) का प्रसाद ग्राह है यह पूर्व में ही कहा जा चुका है।

गृहेऽग्निदग्धाभग्ना वा नैव पूज्या वसुन्धरे ।
आसान्तु पूजनाद्देहे उद्वेगं प्राप्नुयात् गृही ।। (वाराह पु. १८६/४३)
अङ्गुष्ठपर्वादारम्य वितस्तिर्यावदेव तु ।
गृहेषु प्रतिमा कार्या नाधिका शस्यते बुधैः ।। (मत्स्य पु. २५८/२२)
अङ्गुष्ठादिवित्यस्ततमाना स्वर्णादिधातुभिः ।
निर्मिता शुभदा गेहे, पूजनाय दिने-दिने ।।
वक्रां दग्धां खण्डितां च, भिन्नमूर्द्धदृशं पुनः ।
स्पृष्टां वाप्यन्त्यजाद्यैश्च, प्रतिमां नैव पूजयेत् ।। (नारद पु.पू. ६७/३२-३३)

गृह में अग्नि से जली, टूटी-फूटी प्रतिमा नहीं रखनी चाहिये। ऐसी प्रतिमा रखने से गृही (घर में रहनेवाले) को उद्वेग होता है। घर में अंगूठे के पर्व (गांठ) से लेकर एक बित्ता परिमाण की ही प्रतिमा रखनी चाहिये। टेढ़ी, दग्ध, खण्डित, मस्तक वा आँख फूटी, चाण्डाल आदि अस्पृश्य द्वारा स्पर्श की हुई प्रतिमा की पूजा नहीं करनी चाहिये। घर में स्वर्ण, रजत आदि निर्मित प्रतिमा कल्याणदायी होती है।

विल्वपत्रस्यप्लवनं, वृन्तं हित्वा च प्लावयेत् ।
वृन्तसंप्लवनादेव, फलं हरति राक्षसः ।। (भविष्य पु.)
फलशून्यवृक्षादौ विल्वपत्रैर्न चार्चयेत् । (वरदातन्त्रे)
खण्डितैश्च शिवः पूज्यः, पत्रैरन्यैरखण्डितैः ।
पण्मासानन्तरं विल्व-, पत्रं पर्युषितं भवेत् ।।

विल्वपत्र को धोते समय उसके वृन्त न धुले यह सावधानी रखनी चाहिये। वृन्त (डण्ठल) के धुल जाने पर उस पूजन का फल राक्षस ले लेता है। फलवान् वृक्ष का ही विल्वपत्र देवता को चढ़ाना चाहिये। यदि विल्वपत्र का अभाव हो तो खण्डित (चूर्ण) विल्पपत्र भी पूजन में ग्राह्य है और वह छः महीने तक वासी नहीं होता है।

नैवेद्यं दक्षिणे वामे, पुरतो न च पृष्ठतः ।
दीपं दक्षिणतो दद्यात्, पुरतो न च वामतः ।।
वामतस्तु तथा धूप; मग्रे वा न दक्षिणे ।
निवेदयेत् पुरोभागे, गन्धं पुष्पं च भूषणम् ।।
न भूमौ वितरेत् धूपं, नासने न घटे तथा ।
यथा तथाऽऽधारगतं, कृत्वा तं विनिवेदयेत् ।। (कालिका पुराणे)

देवता के लिये आगे पीछे नैवेद्य न देकर दक्षिण (दाहिनी) या वायीं ओर देना चाहिये । घृत दीप दाहिनी ओर, धूप वायीं ओर या आगे में, तथा गन्ध पुष्प एवं भूषणादि सम्मुख देना चाहिये ।

''अयं दिक्क्रमस्तु पूजकाभिमुखस्थदेवस्येति ज्ञेयम्''

(इति कृत्यसार समुच्चये आह्निके
देवपूजन विचार प्रकरणे उक्तमस्ति)

कृत्यसार समुच्चय के अनुसार यह उपर्युक्त दिशाक्रम पूजक के अभिमुख देवता के अनुसार होना चाहिये ।

शिवागारे झल्लकं च, सूर्यागारे च शंखकम् ।
दुर्गागारे वंशवाद्यं, माधुरीं न च वादयेत् ।। (योगिनी तन्त्रे)

शिव मंदिर में झाल, सूर्य मंदिर में शंख, दुर्गा मंदिर में वासुरी तथा माधुरी वाद्य का बजाना निषिद्ध है ।

उपर्युक्त पूजा के व्यवहार में आनेवाले इन नियमों का पालन करने से पूजा सफल होती है। आजकल हम अपने शास्त्रीय व्यवहार और ज्ञान से दूर होते जा रहे हैं। शास्त्रों के निरन्तर अध्ययन और सत्संग से विरत रहने से भारतीय समाज अपने कर्तव्याकर्त्तव्य के बोध को विस्मृत करते जा रहे हैं। अतः उन्हें सामान्यतया स्मरण कराने के उद्देश्य से ही मैंने प्रसंगवश इसे लिख कर भगवान् शिव के कैंकर्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया है ।

(श्री विद्यार्णव तन्त्र १९)

सत्त्वगुण विधिरूप है । विधि में प्रवृत्ति से शरीरात्मशुद्धि पूर्वक वह मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करता है । रजोगुण प्रकृति के रूपवाला होने से सांसारिक वस्तुओं के प्रति रागोत्पादक होता है । अतः यह मध्यम है और यह संसार प्राप्त करने के हेतु है । तमो गुण मोहरूप होने से यह अज्ञान-आलस्य आदि का जनक होता है । अतः यह अधम है तथा नरक का कारक है ।

प्रसाद मन्त्र "हौम्" है । इसके ऋषि वामदेव, छन्द पंक्ति और भगवान् सदाशिव इसके देवता हैं ।

(मन्त्र रत्न मञ्जूषा)

एकाक्षर चिन्तामणि मन्त्र "क्षौम्" है । इसके ऋषि कश्यप, छन्द अनुष्टुम् तथा भगवान् अर्धनारीश्वर (शिव) देवता हैं । (शारदा तिलक)

चिन्तामणिः—सरस्वत्याः ।

ॐ ह्रीं हस्त्रैं ह्रीं ॐ सरस्वत्यै नमः ।

कण्वः, त्रिष्टुप्, चिन्तामणि सरस्वती ।

ध्यानम्—

हंसारुढ़ा मौक्तिकाभां, मन्दहास्येन्दुशेखराम् ।
वीणामृतघण्टाक्षस्त्रग्र, दीप्त; हस्तां पंकजस्थिताम् ।। (मेरुतन्त्रे)

एकाक्षरो मन्त्रः 'ऐम्'

जपेत् द्वादशलक्षं तु, मुग्धोपि वाक्पतिर्भवेत् । (मन्त्रमहार्णवे)

न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता,
मायात्मवादे असकृदात्मवादिभिः ।
न यद्विवादो विविधः तदाश्रयः,
मनश्च संकल्पविकल्पवृत्ति यत् ।। (भागवत १२/६/३०)

व्याख्या—सरस्वती का चिन्तामणि मन्त्र "ॐ ह्रीं हस्त्रैं ह्रीं ॐ सरस्वत्यै नमः" है। इस मन्त्र के ऋषि कण्व, छन्द अनुष्टुप् और देवता चिन्तामणि सरस्वती जी हैं। चिन्तामणि सरस्वती ध्यान मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—

हंसारुढ़ाम् = वे भगवती सरस्वती जी हंस की सवारी करती हैं, **मौक्तिकाभाम्** = उनके शरीर की कान्ति मौतिक के वर्ण की है, **मन्दहास्येन्दुशेखराम्** = वे मन्द-मन्द मुस्कुरा रही हैं और वे मस्तक पर चन्द्रमा धारण की हुई हैं, **वीणामृतघटाक्षस्त्रगृहस्ताम्** = उनके कान्तिमय हाथों में अमृतकलश, अक्षमाला, सुशोभित हो रहा है, **पंकजस्थिताम्** = और कमलपुष्प के आसन पर वे विराजती है।

(मेरुतन्त्र)

एकाक्षर सरस्वती चिन्तामणि मन्त्र "ऐम्" है। बारह लाख इस मन्त्र का जप करने से पुरश्चरण होता है और जड़ व्यक्ति भी वृहस्पति के समान विद्वान् वक्ता हो जाता है। (मन्त्रमहार्णव)

व्याख्या—यत्र = जहाँ, **मायात्मवादे** = शरीर को आत्मा मानने वाले नास्तिक, **अभया** = निर्भय पूर्वक, **न** = नहीं, **विराजिता** = शोभा पाते हैं अर्थात् उत्कर्ष को प्राप्त नहीं प्राप्त होते हैं, **यत्** = जहाँ, **असकृदात्मवादिभिः** = अनेक आत्मवादियों में, **विवादः** = विवाद, **न** = नहीं होते हैं, **यत्** = जहाँ, **संकल्पविकल्पवृत्तिः** = संकल्प और विकल्पवृत्ति रूप, **मनः** = मन की गति नहीं है, **तद्** = ऐसा वह ब्रह्म, **विविधः** = अनन्त भूतों का, **आश्रयः** = आश्रय वाला अर्थात् एकमात्र अद्वैत-अखण्ड स्वरूप है। (श्रीमद्भाग. पु. १२/६/३०)

भद्रकाली मनुः–
क्रीं भद्रकालि क्रीं स्वाहा।
(सोडलतन्त्रे ३प.)
ब्रह्मरन्ध्रे हं
शतदलं क्षं  **लं गुरुचक्रम्**
तालु मूले–
६४ द.  **ललना चक्रम्**
अहं तत्त्वम्

तिरुमला-तिरुपति



भद्रकाली का मन्त्र यह है—"क्रीं भद्रकालि क्रीं स्वाहा" है।

(साडलतन्त्र ३ प.)

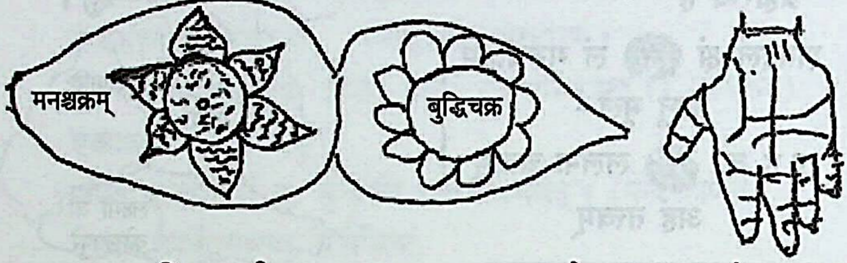
तालुमूल में ललना चक्र है जहाँ सूक्ष्म चौंसठ दलकमल चक्र है वहीं पर अहं तत्त्व का स्थान है। उस अहंतत्त्व चौंसठ दलकमल ललना चक्र में प्रतिबिम्बित आत्मा की प्रतिच्छाया को जीवात्मा अहंत्वेन ग्रहण करता है और असत् अभिमानी हो जीवभाव को प्राप्त होता है। उसके ऊपर शतदल कमल में 'क्ष' वर्ण से ल वर्ष तक की वर्णमालिका शक्ति है जिसे गुरुचक्र कहा जाता है। उसी शतदलकमल के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में 'हं' वर्ण वाच्य ब्रह्म स्थान है। उसी परमात्मा ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को अविद्या के वशीभूत जीव 'मैं' हूँ इस रूप में आलम्बन करके मिथ्याभिमानी होता हुआ दुस्तर संसार सागर में अनन्त उन्मज्जन निमज्जन करता रहता है।

(मन्त्र महार्णव)

व्याख्या—दक्षिण भारत के तिरुमला जिसे तिरुपति का स्थान कहते हैं, में सर्पखरवोडर पर्वत शिखर पर ब्रह्मा और शिव हैं। ब्रह्मा गाय रूप में और शिव वृषभ रूप से विराजते है। यह खखोडर पर्वत श्रृङ्ग शेषाद्रि पर्वत के शिरोभूत है। खखोडर वहाँ के स्थानीय भाषा है। भारत की सभी प्रकार की भाषाएँ संस्कृत भाषा के तत्सम या तद्भव रूप ही हैं। मेरा भाषामुमान है कि खखोडर 'खखदरः' संस्कृत शब्द से उद्धृत है। 'ख' वर्ण का अर्थ ब्रह्म परमात्मा शिव है और दूसरे 'ख' का अर्थ ब्रह्मा है और दर का अर्थ पर्वत की गुफा है। शिव और ब्रह्मा शेषाद्रिपर्वत के श्रृङ्ग (चोटी) पर गुफा में विराजित हैं इसलिए इसका नाम खखोडर पड़ा होगा। पर्वत मध्य में चिंचा देवता हैं। चिंचा संस्कृत शब्द है जिसका हिन्दी में अर्थ इमली का फल या पेड़ होता है। चिंचा देवता इमली के रक्षक होने के कारण इस नाम से पूज्य हों ऐसा हो सकता है। दक्षिण भारत में इमली एक महत्त्वपूर्ण खाद्य में माना जाता है। समुद्री पार्श्वभाग के जलीय अंश में लवणांश का प्रभाव वातावरण में अधिक होता है और उस

विद्युत् एक कम्पने, विद्युत् दीप्तौ १।। कोटिवाल्टाः ।

बेंकटाचलः/गोपी ल चोलराजा
गोल्लवंशः
कुवेरा ६४००३००० ऋणम्



मनसः त्रिशतखर्व कम्पनम् मनस एक कम्पने ४।। शतशंख वाल्टाः ।

(स्वरविज्ञाने–स्वा. शारस्वताने सर.)

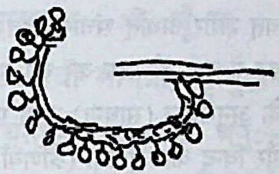
लवणांश के आधिक्य को संतुलित रखने के लिये इमली का भोजनादि व्यवहार में प्रधानता स्वाभाविक है। इस पर्वत मूल (तराई) में कोल्हापुर है जहाँ जगज्जननी लक्ष्मी जी का प्रसिद्ध मंदिर है। प्रतीक के माध्यम से इस भौगोलिक-ऐतिहासिक और पुरातात्त्विक विषय को उद्धृत किया गया है। शेषाद्रि के पार्श्व में वेंकटाचल पर्वत है जिसपर भगवान् वेंकटेश विराजते है। वेंकटेश मंदिर को चोलवंश के गोपी नामक राजा ने बनाया था, ऐसा कहा जाता है। गोल्लवंश के राजाओं ने भी इस मंदिर की सुरक्षा व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। कुबेर पर्वत से निर्गत स्वर्णरिखा नदी चौसठ कोटि की लम्बाई को तय कर यहाँ स्थित है।

व्याख्या–विद्युत् के एक वार के कम्पन (छिटकने) से उसके प्रकाश में डेढ़ करोड़ वॉल्ट पावर होता है। मन का तीस खरब कम्पन होता है और प्रत्येक कम्पन में चाढ़े चार सौ शंख वाल्ट पावर होता है। मनश्चक्र से बुद्धिचक्र का सम्बन्ध होता है। अन्तः करण का ही एकभाग मन है और दूसरा भाग बुद्धि है। मनःचक्र के कम्पन से बुद्धिचक्र में गति होती है और वह अपना स्वाभाविक कार्य में प्रवृत्त हो जाती हैं। इसलिए मन ही प्रमुख है—

बन्धाय विषयासक्तं, मुक्तये निर्विषयं मनः ।
मन एव मनुष्यानां, कारण बन्धनमोक्षयोः ।।

मन का जब विषय के साथ सम्बन्ध होता है तब जीवात्मा बन्ध अवस्था में होता है तथा मन जब विषय के प्रति अनासक्त हो जाता है तब वह मोक्ष का हेतु बन जाता है। इसलिए मन ही बन्ध और मोक्ष का हेतु है। (स्वरविज्ञान स्वा. शास्वताने सर.)

सम्पत् सरस्वती मनुः–
क्लीं ऐं सौः सौः ऐं क्लीम् ।।
कृष्णः गायत्री, सम्पत्सरस्वती, सम्पत्त्यर्थः–१००००० जपः ।
पायसेन होमः । (शक्तिसङ्गमतन्त्रे २०)



जननि निजपद नूपुरकिंकिणिं कुरु माम् ।
यदा यास्यसि शिवं प्रति, तदा सिञ्जन जनको यथा स्याम् । (राम कृ.प.हं.)

व्याख्या–धन-सम्पत्ति के लिये सरस्वती उपासक को यह मन्त्र जपना चाहिये—"क्लीं ऐं सौः सौः ऐं क्लीम्" ।। इस मन्त्र के श्री कृष्ण ऋषि, गायत्री छन्द और सम्पत्सरस्वती देवता एवं समत्ति प्राप्तत्यर्थ इस मन्त्र का विनियोग है। इस मन्त्र का एकलक्ष जप करने से पुरश्चरण होता है तथा पुरश्चरणान्त दसांश पायस से होम का विधान है। (शक्तिसंगम तन्त्र २०)

व्याख्या–यहाँ महात्मा श्री रामकृष्ण जी जगदम्बा से प्रार्थना करते हैं—हे मातः ! तुम अपने पद में पहनी जानेवाली नूपुर की क्षुद्रघण्टी मुझे बना लो, जिससे कि मैं उस समय अपनी मधुर ध्वनि की झंकार से अपने को उपकृत हो सकूँ, जब तुम अपने पति भगवान् शिव से मिलने जाओ। अभिप्राय गूढ़ है। जगदम्बा प्रकृति स्वरूपा हैं और वह भगवान् शिव (ब्रह्म) के साथ नित्य सम्बन्ध रखती है। ब्रह्म का प्रकृति के साथ नित्य विलास सोपाधिक ब्रह्मोपासक के लिए सदा उपासना का विषय है। योगावस्था में जब परमात्मा से मिलन के काल में विभिन्न ध्वनियाँ होना योग मार्ग में प्रसिद्ध है—

गगनं पवने प्राप्ते, ध्वनिरूत्पद्यते महान् ।
घंटादीनां प्रवाद्यानां, नादसिद्धिरुदीरिता ।। (योग चू.उ.नि. ११५)
मृतवत्तिष्ठते योगी, स मुक्तो नात्र संशयः ।
शंखदुन्दुभिनादं च, न शृणोति कदाचन ।।५२।। (नादविन्दूपनिषद्)
सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे, निशब्दं परमं पदम् ।
सदा नादानुसंधानात्, संक्षीणा वासना भवेत् ।।४९।। (ना.वि.उ.)
नादकोटि सहस्राणि, विन्दुकोटिशतानि च ।।५०।। (ना.वि.उ.)

वाग्लज्जाकामबीजानि, चामुण्डायै पदं वदेत्।
विच्चे नवार्णमन्त्रोऽयं, शक्तिमन्त्रोत्तमोत्तमः ॥ (पुरश्चर्यार्णव तृ. खण्ड)

जब योगी का प्राणवायु दोनों भौंह के बीज गगन बिन्दु स्थानीय चक्र में प्रविष्ट करता है तो घण्टा दुन्दुभि, शंख आदि वाद्यों के विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होती है और उसकी सूक्ष्मता में योगी प्रवेश कर सिद्धि को प्राप्त करते है। उस समय वह योगी मृतवत् शरीर अर्थात् संचार रहित हो जाता है। उस स्थूल नाद के क्षीण होने पर अर्थात् उपास्य निर्गुण पद में नाद को लय कर देने पर निशब्द (शान्त) स्वरूप परम ब्रह्म पद को प्राप्त कर जाता है। नाद के अनुसंधान (साधना) करने पर और सिद्ध होने पर सम्पूर्ण वासना क्षीण (नष्ट) हो जाती है। नाद और विन्दु की कोटियाँ (श्रेणियाँ) अनन्त है। नाद मंत्र से बढ़कर कोई सिद्धि नहीं है—

नास्ति नादात् परो मन्त्रो, न देवः स्वात्मनः परः।
नानुसन्धेः परापूजा, न हि तृप्तेः परं सुखम्।।

नाद उत्थान का क्रम इस प्रकार है—

आदौ मत्तालिमालागलपथविगलत्तार झंकारकारी।
नादोऽ सौ वंशिकांस्याऽनिलभरितलसद्वंशनिस्वानतुल्यः।।
घण्टानादानुकारी तदनु जलनिधिध्वानधीरो गभीरः।
गर्जत्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्याः।।

जब ब्रह्मनाड़ी में साधक अपने प्राणवायु को संहत करके प्रविष्ट होता है तो गलपथ (कठ) स्थान से उत्थित हजारों मत्त भौंरों के गुंजन के झंकार से शरीर झंकृत हो जाता है। कभी वंशी की मधुर ध्वनि से उन्मत्त होता है; कभी घण्टानाद, कभी समुद्र में उत्थित गंभीर जल के कल्लोल का श्रवण करता है, तो कभी मेघ के गम्भीर घोष का श्रवण करता है।

उपर्युक्त साधकों की स्थिति का सम्बन्ध महायोगी-भक्त, जगदम्बा के उपासक श्री रामकृष्ण परमहंस के पराम्बा से याचना से सम्बन्ध रखता है और वे इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये ही जगदम्बा के पैरों के नूपुर किंकिणि बनाने की माँ काली से याचना करते हैं। विषय चिन्तन और साधना का होने से सूक्ष्म है। अतः भक्त-साधक, योगी और भागवत्-उपासक इसका स्वयं चिन्तन-मनन अवश्य करेंगे और उस भाव स्थान को प्राप्त करके परमानन्द की प्राप्ति कर सकेंगे यह मेरा विश्वास है।

व्याख्या—वाग्लज्जाकामबीजानि = वाग् बीज 'ऐं' लज्जाबीज 'ह्रीं' और कामबीज 'क्लीं' इन

दशाक्षरो मृत्युञ्जयो मन्त्रः—

ॐ जूँ सः मां पालय सः जूँ ॐ ।।

वामदेवः, पंक्तिः, मृत्युञ्जयो महारुद्रो देवता,

मृत्युनिवारणे वि. ।। (श.सं.त. २०)

त्र्यक्षरमृत्युञ्जयः—ॐ जूँ सः ।

कहोलः, दैवी गायत्री, मृत्युञ्जय महादेवः । (मन्त्ररत्नमंजूजा)

ओकारयुतश्चामुण्डाशाप. मनुः—

निस्त्रिंशः साधकं छिन्द्यान्निस्त्रिंशेन न संशयः ।

(पुरश्चर्यार्णव प्रथम खण्ड मंत्रशाप प्रकरण)

तीनों बीज को कहकर, **चमुण्डयै** = चमुण्डायै इस, **पदम्** = पद को, **वदेत्** = कहे अर्थात् जापक उच्चारण करे तदनन्तर, **विच्चे** = विच्चे इस पद का उच्चारण करे, **अयम्** = इसक्रम से उच्चारण करने पर यह, **नवार्णमन्त्रः** = नवार्ण मन्त्र बन जाता है । **शक्तिमन्त्रोत्तमोत्तमः** = यह नवार्ण मन्त्र शक्ति का उत्तमोत्तम अर्थात् सबसे उत्तम-उत्कृष्ट मन्त्र है ।

(पुरश्चर्यार्णव तृतीय अध्याय)

व्याख्या—अब दशान्क्षर मृत्युञ्जय मन्त्र विधि लिखते है—मृत्युञ्जय का दशाक्षर मन्त्र "ॐ जूँ सः मां पालय सः जूँ ॐ" है । इस मन्त्र के वामदेव ऋषि, पंक्ति छन्द और मृत्युञ्जय महारुद्र देवता हैं तथा मृत्यु निवारणार्थ इसका विनियोग है । (श.सं.त. २०) इसी प्रकार मृत्युञ्जय त्र्यक्षरमन्त्र "ॐ जूँ सः" का कहोल ऋषि, दैवी गायत्री छन्द और मृत्युञ्जय महादेव देवता तथा मृत्यु निवारण में इसका विनयोग है ।

(मन्त्ररत्नमञ्जूषा)

व्याख्या—ऊँकार युक्त चामुमुण्डा शाप विमोचमन्त्र यह है—"निस्त्रिंशः साधकं छिन्द्यान्निस्त्रिंशेन न संशयः ।"

(मन्त्रमहार्णव प्रथम खण्ड मन्त्रशाप प्रकरण)

क्र.सं.	दिनानि	कालः	
१.	सूर्यः	२२	
२.	शुक्रः	२३	
३.	बुधः	२४	
४.	सूर्यः	१	ऐं–इन्दुः
५.	शुक्रः	२	
६.	बुधः	३	ह्रीं–सूर्यः
७.	चन्द्रः	४	
८.	शनिः	५	क्लीं–अग्निः
९.	गुरुः	६	
१०.	भौमः	७	चा–जाम्बूनदः
११.	सूर्यः	८	
१२.	शुक्रः	९	मु–रक्ततरम्
१३.	बुधः	१०	
१४.	चन्द्रः	११	ण्डा–सुनीलम्
१५.	शनिः	१२	
१६.	गुरुः	१३	यै–कृष्णतरम्
१७.	मंगलः	१४	
१८.	सूर्यः	१५	वि–पाण्डुरम्
१९.	शुक्रः	१६	
२०.	बुधः	१७	च्चे–धूम्रम्
२१.	चन्द्रः	१८	
२२.	शनिः	१९	
२३.	गुरुः	२०	
२४.	मंगल	२१	(मन्त्र महार्णवे)

व्याख्या–यहाँ पर साधना प्रारम्भ करने के लिए शास्त्रीय स्वर विचार का चिन्तन दिया गया है। साधना कब-किस दिन, किस पक्ष और किस तिथि में प्रारम्भ करनी चाहिये, इसका सम्यक् विचार दिया गया है। चूँकि प्रकृत प्रसंग में माया–दुर्गा के बीज मन्त्र "ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे" का जप साधना प्रसंग है; अत: अभ्यास के आरम्भ में स्वर विज्ञान का चिन्तन मनन आवश्यक है। क्योंकि—**शिव उवाच—स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गान्धर्वमुत्तमम्। स्वरे च सर्वत्रैलोक्यं, स्वरमात्मस्वरूपकम्।। स्वरहीनश्च दैवज्ञो नाथहीनं यथा गृहम्। शास्त्रहीनं यथा वक्त्रं, शिरोहीनं च यद्वपुः ॥१६-१७॥ ब्रह्माण्डखण्डपिण्डाद्याः, स्वरेणैव हि निर्मिताः। सृष्टि संहारकर्ता च, स्वरः साक्षान्महेश्वरः ॥२०॥ स्वरज्ञानात्परं गुह्यं स्वरज्ञानात्परं धनम्। स्वरज्ञानात् परं ज्ञानं न वा दृष्टं न वा श्रुतम् ॥२१॥**

(इति शिवस्वरोदये)

यहाँ भगवान् शिव पार्वती देवी से उपदेश करते हैं—हे देवि! स्वर में वेद-शास्त्र-उत्तम गान्धर्वविद्या (संगीत विद्या) के साथ ही सम्पूर्ण त्रैलोक्य का ज्ञान विज्ञान सन्निहित है। क्योंकि स्वर सबों की आत्मा स्वरूप है। यथा–स्वर के बिना दैवज्ञ (भविष्यवक्ता), नाथ के बिना गृह, शास्त्रज्ञान के बिना मुख और मस्तक के बिना शरीर की स्थिति शोभित नहीं होते उसी प्रकार साधक स्वरज्ञान के विना शोभा नहीं पाता। इसलिए स्वर ही ब्रह्माण्ड और उसके अवान्तर सृष्टि के कर्ता-पालयिता और संहर्ता साक्षात्महेश्वर हैं। अत एव स्वर विज्ञान के माहात्म्य को जानकर उसकी अनुकूलता के अनुसार साधक को जप-होम-यज्ञ-योग आदि को प्रारम्भ करना चाहिये—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करो हि सितेतरे।
प्रतिपत्तौ दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणिकृतोदये।।६२।। (शिवस्वरोदये)

प्रत्येक मास के आरम्भ (शुक्लपक्ष) में तीन दिन तक प्रथम (पहले) चन्द्रस्वर (इडा) अर्थात् नाक के बायें छिद्र से वायु प्रवेश (स्वशन) होता है, जिसे वामस्वर कहते हैं। इसी प्रकार तीन दिन के बाद चौथे दिन से दाहिना स्वर (पिङ्गला) चलता है, जिसे सूर्य स्वर कहते हैं, का उदय होता है। इसके विपरीत कृष्णपक्ष में प्रथम तीन दिन सूर्यश्वर (पिङ्गला) का उदय पश्चात् चौथे दिन से चन्द्रस्वर (इडा) का उदय होता है। उदय से तात्पर्य श्वास संचालन से है। इस प्रकार वह आगे की तिथियों में तीन-तीन दिन के हिसाब से उदित होते रहता है और पाँच आवृत्ति में पक्ष को पूर्ण करता है।

इसको सुस्पष्ट करने के लिए नीचे ज्ञापक (कोष्ठक चक्र) दिया जा रहा है—

तिथि के अनुसार स्वरज्ञान–

शुक्ल पक्षः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः
तिथिः	१,२,३	४,५,६	७,८,९	१०,११,१२	१३,१४,१५
कृष्णपक्ष	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः

सार्द्धद्विघटिके ज्ञेयः, शुक्ले कृष्णे शशी रविः ।
वहत्येकदिनेनैव, यथा षष्टिघटीः क्रमात् ।।६३।। (इति शिवस्वरोदये)

शुक्लपक्ष में सूर्योदय काल से ढ़ाई घटी तक चन्द्र स्वर पुनः ढ़ाई घटी सूर्यस्वर का उदय, क्रम से होते रहता है, जो चौबीस घण्टे में साठ घटी को पूरा करता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष में सूर्योदयकाल से ढ़ाई घटी सूर्य स्वर, पुनः ढ़ाई घटी चन्द्रस्वर का क्रमगत उदय होता है और इसी प्रकार इस पक्ष में भी चौबीस घण्टे में साठ घटी को पूरा करता है। इसी को सुस्पष्ट समझने हेतु ज्ञापक (कोष्ठक) चक्र नीचे दिया जा रहा है—

पक्ष के अनुसार स्वरज्ञान–

शुक्ल पक्षः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः
घटी	२.३०	५.००	७.३०	१०.००	१२.३०	१५.००	१७.३०	२०.००	२२.३०	२५.००	२७.३०	३०.००
कृष्ण पक्षः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः

शुक्ल पक्षः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः
घटी	३२.३०	३५.००	३७.३०	४०.००	४२.३०	४५.००	४७.३०	५०.००	५२.३०	५५.००	५७.३०	६०.००
कृष्ण पक्षः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः	सूर्यः	चन्द्रः

साधक अभ्यास काल में शुभ स्वर को ज्ञात कर ही अभ्यास प्रारम्भ करे यह भगवान् शिवोक्त शास्त्र वचन है—

शुक्लपक्षे भवेत् वामा, कृष्णपक्षे च दक्षिणा ।
जानीयात्प्रतिपत्पूर्वं, योगी यद्यतमानसः ।।६५।। (शिवस्वरोदये)

शुक्लपक्ष प्रतिपदा से वायीं नाड़ी और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से दाहिनी नाड़ी (स्वर) प्रवाह को एकाग्रचित्त साधक जाने अर्थात् समय-समय पर साधक-अभ्यासी चन्द्रस्वर और सूर्यस्वर का ध्यान रखे ताकि शुभस्वरानुसरण का आश्रयण बना रहे।

शशाङ्कं वारयेद्रात्रौ, दिवा वारय भास्करम् ।
इत्याभ्यासरतो नित्यं, स योगी नात्र संशयः ।।६६।। (शिव स्वरोदये)

योगी रात्रि के समय में चन्द्रस्वर (इडानाड़ी) और दिन में सूर्यस्वर (पिङ्गलानाड़ी) को त्याग कर ही अभ्यास करते है। जो निरन्तर इस प्रकार स्वर को ध्यान में रखकर अभ्यास करते हैं वे साधक योगभ्यास में कुशल होते हैं।

अब वार (दिन) के अनुसार भी स्वर पर विचार कर लेना चाहिये—

गुरुशुक्रबुधेन्दूनां, वासरे वामनाडिका।
सिद्धिदा सर्वकार्येषु, शुक्लपक्षे विशेषतः ।।६९।।

अर्काङ्गारकसौरीणां, वासरे दक्षनाडिका।
स्मर्त्तव्या चरकार्येषु, कृष्णपक्षे विशेषतः ।।७०।। (शिवस्वरोदये)

वृहस्पति-शुक्र-बुध एवं सोमवार को यदि वामनाड़ी अर्थात् चन्द्रस्वर (इडा) प्रवाहित हो तो साधक के द्वारा की गई साधना से सभी शुभेष्टकार्य सिद्ध होते हैं तथा सूर्य (रवि) मंगल एवं शनिवार को दाहिनी नाड़ी अर्थात् सूर्यस्वर (पिङ्गला) प्रवाहित हो तो साधक के अभ्यास से उस काल में सभी चरकार्य (क्रूरादि) में सिद्धि प्राप्त होती है।

अब तत्त्वानुसार भी विचार किया जा रहा है—

प्रथमं वहते वायुर्द्वितीये च तथानलः।
तृतीयं वहते भूमिश्चतुर्थी वारुणी वहेत् ।।७१।। (शिवस्वरोदये)

सूर्योदयकाल के प्रथम नाड़ी प्रवाह क्रम में वायुतत्त्व का प्रवाह, द्वितीय में अग्नितत्त्व का प्रवाह, तृतीयक्रम में भूतत्व का प्रवाह, चतुर्थक्रम में जलतत्त्वप्रवाह और पञ्चमक्रम में आकाशतत्त्व का प्रवाह (स्वर) चलता है।

सार्द्धद्वयघटिके पञ्च क्रमेणैवोदयन्ति च ।।७२।। (शिवस्वरोदये)

उपर्युक्त पाँचों तत्त्वों का उदय (स्वरप्रवाह) क्रमशः ढ़ाई-ढ़ाई घटियों (घड़ियों) की होती है।

इडायां सिद्धिदः प्रोक्तं योगाभ्यासादि कर्म च।
तत्रापि वर्जयेत् वायुं तेजः आकाशमेव च ।।११२।। (शिवस्वरोदये)

अगर इडा (चन्द्रस्वर) में पृथिवी और जलतत्त्व का प्रवाह हो, तो योगाभ्यास-जप-यज्ञादि कार्य सिद्ध होते हैं; परन्तु इड़ानाड़ी के उदयकाल में वायु-अग्नि और आकाशतत्त्व का प्रवाह हो तो साधना-अनुष्ठान सिद्ध नहीं होते।

अब पराम्बा दुर्गा जी के नवार्ण-मन्त्र जप का स्वर प्रवाह के साथ संगति बैठाकर अनुष्ठान (साधना) विचार करते हैं—

विष्णुर्माया[1] चेतना[2] च बुद्धि[3]र्निद्रा[4] क्षुधा[5] तथा।
छाया[6] शक्तिः[7] परा[8] तृष्णा[9] क्षान्ति[10]र्जाति[11]श्च लज्जया[12] ।।
शान्तिः[13] श्रद्धा[14] कीर्ति[15] लक्ष्म्यौ[16] धृति[17]र्वृत्तिः[18] श्रुतिः[19] स्मृतिः।
[21]दया [22]तुष्टिस्ततः [23]पुष्टिस्तथा [24]भ्रान्तिरितिक्रमात् ।।

(मन्त्रमहोदधौ म.ख.२६ त. तरङ्ग २ टिप्पण्याम्)

उपर्युक्त चौबीस देवियाँ दुर्गोपासक के लिए निर्दिष्ट हैं। एक अहोरात्र में चौबीस घण्टा और चौबीस घण्टे में साठ घटी होते हैं। ढ़ाई-ढ़ाई घटी की उपासना क्रम से चौबीस देवियों की उपासना करनी चाहिये। इसी प्रकार उपर्युक्त भूमि-जल-अग्नि आदि पाँच तत्त्वों का जो प्रवाह कहा गया है उससे भी संगति करके साधना-अनुष्ठानादि अभ्यास करना चाहिये।

अब भगवती दुर्गा (चण्डी) के नवार्णमन्त्र के स्वरूप और उसके अर्थ पर विचार किया जा रहा है। नवार्ण मन्त्र में नौ अर्ण (वर्ण) हैं—जैसे 'ऐं' वर्ण का स्वरूपवर्ण इन्दु (चन्द्रमा) के समान है अथवा चन्द्र इसके देवता हैं। 'ह्रीं' का स्वरूपवर्ण सूर्य सदृश प्रकाशमानवर्ण है, इसी तरह 'क्लीं' का अग्निवर्ण, 'चा' का जाम्बूनदवर्ण, 'मु' का रक्ततरवर्ण, 'ण्डा' का सुनीलवर्ण, 'यै' का कृष्णतरवर्ण, 'वि' का पाण्डुरवर्ण, 'च्चे' का धूम्रवर्ण स्वरूप है। प्रमाणस्वरूप यहाँ श्लोक उधृत किया जा रहा है—

बीजमादीन्दुसमानदीप्तिं ह्रीं सूर्यतेजोद्युतिमद्वितीयम्।
क्लीं मूर्तिवैश्वानरतुल्यरूपं तृतीयमानन्त्यसुखाय चिन्त्यम्।।
विशुद्धजाम्बूनदकान्ति तुर्यं मुं पञ्चमः रक्ततरं प्रकल्प्य।
डा षष्ठमुग्रार्तिहरं सुनीलं यै सप्तमं कृष्णतरं रिपुघ्नम्।
वि पाण्डुरं चाष्टममादिसिद्धिं च्चे धूम्रवर्णं नवमं विशालम्।
एतानि बीजानि नवात्मकस्य जप्तुः प्रदधुः सकलार्थ सिद्धिम्।।

(इतिमन्त्रोद्धारः)

(इतिमन्त्रमहोदधौ म.ख. २दु.त. तरङ्ग २ टिपण्याम्)

अब "ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे" नवार्णमन्त्र का मन्त्रार्थ उधृत करते हैं—उपर्युक्त मन्त्र में क्रम से "ऐं ह्रीं क्ली" बीज महासरस्वती-महालक्ष्मी और महाकाली का वाचक है। विच्चे का पदच्छेद 'वित् च' करके 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इस पदत्रय का अर्थ-चित्-सत्-आनन्द का वाचक है और उपर्युक्त बीजगत "ऐं ह्रीं क्लीं" पदत्रय का जो सम्बोधनान्त "चामुण्डायै" पद है वह विशेषणपद 'तादर्थ्ये चतुर्थी' के अनुसार ब्रह्मविद्या वाचक है। 'अनुसन्दध्महे-ध्यायामः' यह वाक्य शेष है। इस प्रकार इस नवार्णमन्त्र का फलितार्थ हुआ-हे चिद्रूपिणि महासरस्वति! हे सद्रूपिणि महालक्ष्मि! हे आनन्दरूपिणि महाकालि! त्वां (तुमको) चामुण्डायै ब्रह्मविद्याप्राप्त्यर्थं (ब्रह्मविद्याप्राप्त करने के लिए) अनुसन्दध्महे (हम ध्यान करते हैं)। (मन्त्रमहार्णव)

---

१. देवो दानात्, दीपनात्, द्योतनात्-द्युस्थानात् वा। (निरुक्ते ७/१५, यास्काचार्यः)
(क) वायुपर्जन्यादीनां वृष्ट्यादि दानात् राजश्रेष्ठादीनां अर्थादि दानात् च। (ख) अश्वगजादीनां ग्रावादीनां दीपनात्। (ग) अग्निचन्द्रसूर्यादीनां विदुषां च द्योतनात्। (घ) ग्रहतारकनक्षत्रादीनां द्युस्थानात् वा देवता।

वेदं[४] वेदाब्धिं[४] रामाश्चं[३] रामं[३] रामं[३] द्विं[२] कैकंकम्[१] ।
द्वौ[२] द्वौ[२] पृथग्भिर्मन्त्रैः तु नमकाः चमकाः स्मृताः ।।
वाजश्च[१] सत्यं[२]मूर्क्[३]चाश्मां[४] चाग्निं[५] रंशुष्[६] तथाग्निकः[७] ।
एकां[८] चैव चतस्र[९]श्च त्र्यविं[१०] वाजौ[११] इतिक्रमः ।।

(रुद्रयामलतन्त्रे रुद्रचण्डी त्रै.म.क.)

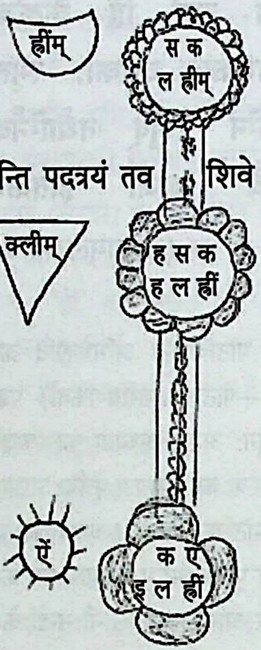
व्याख्या–यहाँ रुद्राष्टाध्याय के नमक-चमक पाठविधिना अभिषेकादि क्रम कहा गया है— नमक–चमक पाठ पारायण की विधि यह है कि—पाठक (पारायणकर्ता) पञ्चम अध्याय 'नमस्ते रुद्रमन्यव:' इत्यादि छासठ मन्त्र का वाचन करके पुनः अष्टम् अध्याय का 'वाजश्च मे' चार मन्त्र का वाचन करे, तत्पश्चात् पुनः पञ्चम अध्याय के छासठ मन्त्रों का पारायण पूर्वक अष्टम् अध्याय का 'सत्यञ्च मे' का वाचन करे। इसी क्रम से पञ्चम अध्याय का पाठ कर अष्टम अध्याय का चार मन्त्रों का पारायण करे। इसी प्रकार प्रत्येकवार पञ्चम अध्याय का वाचन पूर्वक अष्टम् अध्याय का क्रमशः तीन-तीन मन्त्रों का पारायण तीनवार करने से पूर्व के बारह मन्त्र और आगे अष्टम् के नौ मन्त्रों के पारायण से इक्कीस मन्त्र तक पारायण सम्पन्न हो जाता है। पुनश्च पञ्चम अध्याय के छासठ और अष्टम् अध्याय के दो, पञ्चम अध्याय के छासठ और अष्टम् अध्याय के एक, पञ्चम अध्याय के छासठ और अष्टम अध्याय के दो तथा पुनः पञ्चम अध्याय के छासठ पारायण के पश्चात् अष्टम अध्याय के दो मन्त्रों के वाचन करने पर पञ्चम अध्याय के छासठ मन्त्र के ग्यारह आवृत्ति पूर्वक अष्टम अध्याय के उनतीस मन्त्रों का क्रमबद्ध पारायण सम्पन्न होते हैं। जिसे वैदिक विद्वान् नमक-चमक पारायण विधि कहते है।

इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है—

(६६ मन्त्र) नमक से नमकाध्याय अर्थात् पञ्चम अध्याय और चमक से रुद्राष्टाध्याय का अष्टम अध्याय (२९ मन्त्र) अभिप्रेत है। प्रत्येक नमकाध्याय वाचन के अनन्तर चमकाध्याय के क्रमशः ४,४,४,३, ३,३,२,१,२ एवं २ मन्त्रों का वाचन करने से कुल उनतीस मन्त्रों का पारायण पूर्ण होता है जिसे नमक-चमक कहा जाता है।

"ॐ ऐं ह्रीं ॐ क्रीं ह्रीं क्लीं ह्रीं ह्रीम्" यह नवाक्षर मन्त्र देवी का है, जो साधकों के सभी प्रकार की अभिलाषा को पूर्ण करता है। यह सभी प्रकार की विपत्तियों से रक्षा करनेवाला मन्त्र है और साक्षात् ब्रह्म स्वरूप है इसमें कोई संशय नहीं है।

(रुद्रयामलतन्त्रे रुद्रचण्डी त्रै.म.क.)



विष्णु ब्रह्म पदस्थ शक्ति कलितं,
सोमप्रभा भासुरम् ।
ये ध्यायन्ति पदत्रयं तव शिवे ! ते यान्ति सौख्यं पदम् ।।
बीजं मन्मथमिन्द्रगो सदृशं,
हृत्पङ्कजे संस्थितम् ।
आधारे तरुणार्कविम्बरुचिरं,
हेमप्रभं वाग्भवम् ।

व्याख्या–चतुर्दशकमलमध्य आधारचक्र (गुढ़ा से ऊपर और लिङ्ग के नीचे का स्थान) में उदयकालीन सूर्य विम्ब के समान रम्य हेमप्रभा वाले वाग्भवबीजमन्त्र 'ऐं' का ध्यान करना चाहिये। यह पूरक प्राणयाम विधि से भी सम्बन्ध रखता है तथा यहाँ क, ए, ई, ल, ह्रीं बीजाक्षरमय या तद्बीजाक्षरस्थानीय चक्र है।

द्वितीय द्वादशदलकमलचक्रमध्य त्रिकोणात्मक "ह, स, क, ह, ल, ह्रीं" हृदय स्थानीय है। इसका बीज "क्ली" मन्मथ इन्द्र गो सदृश (त्रिकोणात्मक) है। यह कुम्भक प्राणायाम से सम्बद्ध है और यहाँ जपनीय बीज "क्लीम्" है।

तृतीय सहस्रदलकमलचक्र में 'स, क, ल, ह्रीं" वर्णात्मक विष्णु-ब्रह्म में संकलित शक्तिमय सोम (चन्द्र) की प्रभा (प्रकाश) के समान भासुर (शोभायमान) है। प्रतीक चित्र क अधः चक्र के पार्श्ववर्ती 'ऐं' बीज को सूर्य का प्रतीक और उर्ध्व चक्र के पार्श्ववर्ती 'ह्रीम्' बीज को चन्द्र का प्रतीक दर्शाया गया है। इसके अर्थ का सम्बन्ध इस प्रकार है—जब साधक के दोनों भौंह के मध्य वामभागस्थ सोम (चन्द्र) से अमृत स्राव होता है, तब सूर्य (नाभि चक्रस्थ) उसे पान करता है। व्यतिक्रम क्रिया द्वारा जब साधक के सूर्य से अमृत स्राव होता है, तब चन्द्र उसे पान करता है। इस क्रिया से साधक सर्वव्याधि से विनिर्मुक्त होकर मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् दीर्घायु हो जाता है—

त्रिवेणीमाधवं सोमं, भारद्वाजं च वासुकिम् ।
वन्दे अक्षैवटं शेषं, प्रयागं तीर्थनायकम् ॥

चन्द्रं पिवति सूर्यश्च, सूर्यं पिवति चन्द्रमाः ।
अन्योन्यकालभावेन, जीवेदाचन्द्रतारकम् ।।

(शिवस्वरोदय–३८०)

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्त्रवति यः सारः, सा स्यादमरवारुणी ।।

(हठयोग प्रदीपिका ३/४९)

चन्द्रात् सारः स्त्रवति, वपुस्तेन मृत्युर्नराणां,
तद् बध्नीयात् सुकरणमधो नान्यथा कायसिद्धिः ।।

(हठयोग प्र० ३/५२)

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः, कालं रात्रिंदिवात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य, गुह्यमेतदुदाहृतम् ।।

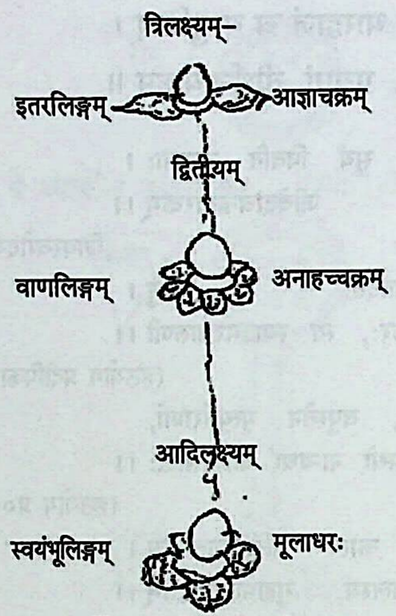
(हठयोग प्र० ४/१७)

उर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा, सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो, मृत्युं जयति योगवित् ।।

(हठयोग प्र. ३/४४)

भगवान् शिव कहते हैं—हे शिवे ! उपर्युक्त तुम्हारे तीन पदों का जो वर्णन किया गया है उस तीन पदों का जो साधक इस रूप से ध्यान करता है वह परम सौख्यप्रद (परमानन्दब्रह्म) को प्राप्त करता है। यह रेचक प्राणायाम से सम्बद्ध है और अभ्यासलभ्य है।

व्याख्या–त्रिवेणी संगम (प्रयागराज) स्थित भगवान् माधव (श्रीकृष्ण) अथवा तीन है वेणी जिसके (केसविन्यास) अर्थात् गंगा-यमुना-सरस्वती जिसकी तीन वेणियाँ हैं, अथवा "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च" ॥ (श्वेता.उ. ६/८) उस परमात्मा के तीन ज्ञान-बल और क्रिया रूप शक्ति ही वेणी है अर्थात् केसविन्यासरुपगुम्फितलट हैं अथवा "एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितम्यं हि किञ्चित्। (श्वेताश्वर उ. १/१२) उस परमात्मा ब्रह्म के भोक्ता-भोग्य और प्रेरयिता जो त्रिविधरूप विन्यास कहा है वही त्रिवेणी है। प्रथम–माधव, द्वितीय–सोम (उमया सहितः सोमः = शिवः), तृतीय–भारद्वाजमुनि, चतुर्थ–वासुकि, पञ्चम–अक्षयवटवृक्ष, षष्ठम–भगवान् शेष से सम्बलित तीर्थनायक (तीर्थराज) प्रयाग को प्रणाम करता हूँ। प्रयागतीर्थ का सेवन करनेवाले को तीर्थराज प्रयाग दर्शन-सेवन का पूर्णफल तो उपर्युक्त देवों और ऋषि के दर्शन-सेवन से ही प्राप्त होता है यह अभिप्रायसिद्ध अर्थ है।



इतरं तत्परे देवि !,

ज्योतिरूपं

सदा भज ।।

सर्वमेकमजं शान्तं अनन्तं ध्रुवमव्ययम् ।
पश्यन्भूतार्थचिन्मात्रं शान्त आस्व यथासुखम् ।।२।।
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
योगस्थः कुरु कर्माणि नीरसो वाथ मा कुरु ।।३।।

व्याख्या–भगवान् शिव पार्वती देवी से उपदेश करते हैं—हे देवि ! तीन जो लक्ष्य कहे गये हैं, उनमें चतुदलकमल स्थित मूलाधार मध्य आदिलक्ष्य (सर्वप्रथमलक्ष्य) स्वयम्भूलिङ्ग तथा षड्दलकमल मध्य अनाहतचक्र स्थित जो द्वितीयलक्ष्यभूतवाणलिङ्ग है, इससे पर द्विदलकमल मध्य आज्ञाचक्र में स्थित ज्योति स्वरूप इतरलिङ्ग को सदा भजो ।

व्याख्या–महात्मा साङ्कृति ऋषि को भगवान् आदित्य (सूर्य) ने कहा—हे साङ्कृते ! सांसारिक दृष्ट सभी वस्तुएँ वस्तुतस्तु एक अद्वितीय अर्थात्,अजन्मा, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय स्वरूप परमात्मा ब्रह्म से व्याप्त है । इसलिए सम्पूर्ण भूतों में चिन्मात्र ब्रह्म का दर्शन करते हुए तुम भी अपने स्वरूप को वैसा जानकर यथा सुख शान्तभाव को प्राप्त होओ । इसे तुम अवेदन (सकल स्पन्दनाभाव) योग जानो । जो योग चित्त के सर्वथा क्षय हो जाने पर स्वाभाविक स्वरूप होता है । अतः सरसभाव (श्रद्धा पूर्वक) से योगस्थ (योगारुढ़) होकर अर्थात् आत्म-परमात्मैक्य होकर फल का सङ्ग त्याग कर कर्म करो । अतः अब नीरस भाव को त्यागो । (अक्ष्युपनिषत्)

अशरीरो महानात्मा, सुखदुःखै र्न लिप्यते।
क्लेशमुक्तः प्रसन्नात्मा, मुक्त इत्युच्यते बुधैः ।।

७ निरङ्कुशातृप्तिः—कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तम्।

६ शोकमोक्षः—नित्यमुक्तत्वभानम्।

५ अपरोक्षं ज्ञानम्—अहं (सप्तावस्था चिदाभासस्थः) ब्रह्मास्मि।

४ परोक्षं ज्ञानम्—ब्रह्मास्ति।

३ विक्षेपः—कर्तृत्वादिः।

२ आवरणम्—न भाति।

१ अज्ञानम्—न जानाति।

(पञ्चदशी तृ.प्र. ७/३३)

व्याख्या—यह आत्मा सांसारिक (वैषयिक) सुख-दु:ख से लिप्त (व्याप्त) नहीं होता, क्योंकि यह अशरीरी है अत: महान् है। जो साधक-योगी-भक्त-उपासक स्वात्मा को ऐसा जानता है वह सकल क्लेश से मुक्त प्रसन्नात्मा (सदा ब्रह्मानन्द में लीन) रहता है और ऐसे उपासना से लक्ष्य को प्राप्त साधक को बुधजन (विद्वान् लोग) मुक्त पुरुष कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ जीवात्मा की सात अवस्थाएँ कही गई है। प्राथमिक अवस्था अज्ञानमय है। इसलिए वह "न जानाति" स्वात्मा को नहीं जानता है। वह अज्ञानवश आत्मा और शरीरादि के अन्योन्याध्यास के फलस्वरूप शरीरादि में ही स्वात्मा का अनुभव करता है। यह अज्ञानावस्था जीवात्मा की प्रथमावस्था है। कहा भी है—

अधिष्ठानांशसंयुक्तं, भ्रमौ शमवलम्बते।
यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते।। (पञ्च.तृ.प्र. ७/७)

जीवात्मा की द्वितीयावस्था आवरणावस्था है—इस अवस्था में यह स्थिति होती है कि—जिस प्रकार एक साथ दश व्यक्तियों के नदी के उस पारजाने पर गिनती में दश व्यक्तियों के रहते हुए भी गणक (गिनती करनेवाला) स्वयं को विस्मरणवश गिनती में न शामिल करने के कारण नव संख्या ही

गिनता है और एक का नदी में विनष्ट हो जाने की शंका से शोक-दुःख प्राप्त करता है। क्योंकि उसे "न भाति" दशम अपने का भान (ज्ञान) नहीं रहता। कहा है कि—

न भाति नास्ति दशम, इति स्वं दशमं तदा।
मत्वा व्यक्ति तदज्ञान, कृतमावरणं विदुः।। (पञ्च.तृ.प्र. ७/२४)

इसी प्रकार तृतीयावस्था को विक्षेपावस्था कहते हैं। इस अवस्था में—

न भाति नास्ति कूटस्थ, इति वक्ति प्रसङ्गतः।
कर्ता भोक्ताहमस्मीति, विक्षेपं प्रतिपद्यते।। (पञ्च.तृ.प्र. ७/३०)

वह जीवात्मा इस प्रकार अज्ञानजनित कार्यकारणभावापन्न होकर कूटस्थ असङ्ग आत्मा के असत्त्व के मानाभाव अभिधानवत् कर्तृत्व को आत्मा में आरोपित करता है। जो इस आरोप के हेतुभूत देहद्वययुत् चिदाभास मात्र होने से विक्षेप कहलाता है। इसलिए आत्मा में कर्तृत्वादि का आरोप कर शरीरादि प्रयुक्त अहंकृति के परिणामतः 'अहं कर्ता" मैं कर्ता हूँ ऐसा भ्रान्तज्ञानवश अपने को स्वीकारता है। जीवात्मा की चौथी अवस्था परोक्षज्ञानावस्था है। इसमें "अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया" अन्य द्वारा अथवा शास्त्र द्वारा बोधित होकर वह कूटस्थ-असङ्ग आत्मा के सम्बन्ध में "ब्रह्मास्ति" ब्रह्म है ऐसा जानता है। यही परोक्षज्ञानावस्था नामक चतुर्थ अवस्था है।

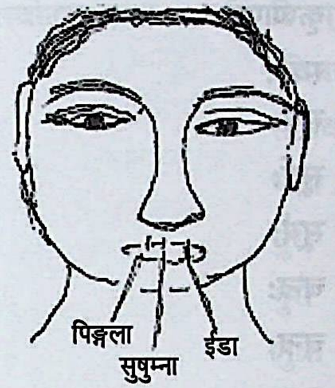
जीवात्मा की पाँचवीं अवस्था अपरोक्षज्ञानावस्था है। इसमें श्रवणादि (श्रवण-मनन-निदिध्यासन-ध्यान-धारणा-समाधि) प्रयत्न के परिपाकवशात् "कूटस्थोऽहं" इस प्रकार से सर्वसंसर्गरहित प्रसिद्ध आत्मा का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) बोध होता है—

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ, परोक्षं वेत्ति वार्तया।
पश्चात्कूटस्थ एवास्मीति, एवं वेत्ति विचारतः।। (पञ्च.तृ.प्र. ७/३१)

जीवात्मा के षष्ठावस्था में—"कर्ताभोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुञ्चति" (पञ्चदशी तृ.प्र. ७/३२) कूटस्थ आत्मा के असङ्गस्वरूप के बोधानन्तर कर्तृत्वादिजनित शोकजात समस्त कर्म में असङ्गत्वानुभव पूर्वक अहंकार को वह साधक त्याग देता है और इस त्याग से ही सम्पूर्ण शोक से मुक्ति मिलेगी ऐसा जानता है।

सप्तमावस्था निरङ्कुशातृप्ति अवस्था है। इस अवस्था में प्रापणीय औपनिषदिक निरञ्जन आत्मस्वरूप को प्राप्तकर साधक कृत्य-कृत्य हो जाता है।

(पञ्चदशी तृ.प्र. ७/३३)



सूर्यः	राहुः	चन्द्रः
उग्रः	मिश्रितः	सौम्यः
पित्तम्	वायुः	कफः
पुरुषः	नपुंसकः	स्त्री
शिवः	अर्धनारी स्वरः	शक्तिः
दिवसः	संध्या	रात्रिः
अग्निवायू	वियत्	जलावनी
चरः	द्विस्वभावः	स्थिरः
विसमः	कोणः	समः

व्याख्या–स्वर श्वास-प्रच्छ्वास के प्रवाह को कहते हैं। उस स्वर प्रवहण की तीन गति होती है। नाक के वायीं छिद्र से प्रवाहित वायु को इडा स्वर, दक्षिण छिद्र से प्रवाहित वायु को पिङ्गला और उभय छिद्र से प्रवाहित स्वर (वायु) को सुषुम्ना स्वर कहते हैं। इडा-सौम्य, पिङ्गला-उग्र और सुषुम्ना शीतोष्ण (मिश्रित) होता है। इडा-कफावह, पिङ्गला-पित्तकारी और सुषुम्ना-वायुकारक स्वर है। इडा-स्त्री, पिङ्गला-पुरुष और सुषुम्ना नपुंसक स्वर है। इडा-शक्ति, पिङ्गला-शिव और सुषुम्ना अर्धनारीश्वर स्वरूप है। इडा-रात्रि, पिङ्गला-दिवस और सुषुम्ना संध्याकाल वाचक है। इडा-दाहक, पिङ्गला-अग्निवायु और सुषुम्ना वियत् स्वरूप है। इडा-स्थिरस्वभाव, पिङ्गला-चरस्वभाव और सुषुम्ना-द्विस्वभाव का होता है। इडा-सम, पिङ्गला-विसम और सुषुम्ना-कोण गति का होता है।

स्वर विज्ञान भारतीय प्राच्य विज्ञान का एक अनुभव सिद्ध विज्ञान रहा है। जो अत्यन्त व्यावहारिक, लाभप्रद और सर्वजनीनोपयोगि होने के कारण भारतीय आर्ष जनमानस के ज्ञान-विज्ञान के जीवन का एक अविभाज्य अङ्ग रहा है। परन्तु दुर्भाग्यवश इस पवित्र आर्य संस्कृति एव विज्ञान को विस्मृत कर अपूरणीय क्षति को हम प्राप्त कर चुके हैं। आज अपने उज्ज्वल–ध्रुव विज्ञान के विस्मरण से ही हमें वैचारिक-व्यावहारिक क्रूर कर्म करने में संकोच करने नहीं दे रहा है। वर्तमान भारतवर्ष तो ज्ञान से दिवालिया जैसा प्रतीत इसलिये हो रहा है, क्योंकि इस देश में राष्ट्रिय स्तर पर राष्ट्रभाव का क्षरण है, शैक्षिक स्तर पर व्यापार है, सेवा (सरकारी सेवा) स्तर पर लूट-खसोट-जाल-फरेब-निर्दयता-नृसंशता ही अधिक दिखाई दे रहा है। जनतन्त्र का मायने बदल दिया गया है। चरित्रवानों-साधुजनों, सत्यवादियों, सदाचारियों को ये कलियुगी छद्मवेषीजन संगठित होकर मुँह बन्द करने को विवश कर दे रहे हैं। इसी का परिणाम रहा है कि भारतवासी जनता की जनलोकपाल बिल को कूटाचरण पूर्वक संसद में पास होने से रोक दिया गया। जो एक जीवन्त देश के लिए कलङ्क का विषय बना और विधिद्वारा स्थापित जनतन्त्र में पुनः जन हार गया और तन्त्र जीत गया। जन पराधीन और तन्त्र स्वाधीन हुआ प्रतीत होता है। वे इच्छाचारी तन्त्र के लोग भोले-भाले (राष्ट्र में रहनेवाले) जन को ही इसके लिये दोषी भी ठहराते हैं, क्योंकि वे ही उन्हें चुनते हैं।

स्वरोदयकालः प्रातः		शुक्लपक्षे		कृष्णपक्षे
तिथिषु	—	स्वरः	—	स्वरः
१.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः
२.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः
३.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः
४.	—	सूर्यः	—	चन्द्रः
५.	—	सूर्यः	—	चन्द्रः
६.	—	सूर्यः	—	चन्द्रः
७.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः
८.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः
९.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः
१०.	—	सूर्यः	—	चन्द्रः
११.	—	सूर्यः	—	चन्द्रः
१२.	—	सूर्यः	—	चन्द्रः
१३.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः
१४.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः
१५.	—	चन्द्रः	—	सूर्यः (३० अमावस्यायाम्)

व्याख्या—स्वर का दैनिक उदयकाल प्रातःकाल ही है। शुक्लपक्ष के प्रातः में तीन-तीन दिनों तक एक स्वर चन्द्रस्वर (इडा) का प्रथम उदय होता है। इसी तरह चतुर्थी (चौठ) तिथि से तीन दिन प्रातःकाल में सूर्य (पिङ्गला) स्वर का प्रथम उदय होता है। सप्तमी से नौमी तिथि तक प्रातःकाल प्रथम चन्द्रस्वर, दशवीं से द्वादशी तक सूर्य स्वर और त्रयोदशीं से पूर्णिमा तक चन्द्रस्वर का प्रथमतः प्रातःकाल में उदय होता है। इसके विपरीत कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से तृतीया सूर्यस्वर, चतुर्थी से षष्ठी तक चन्द्रस्वर, सप्तमी से नौमी तक सूर्यस्वर, दशमी से द्वादशी तक चन्द्रस्वर और त्रयोदयी से अमावास्या तक सूर्यस्वर का प्रथमतः प्रातःकाल में उदय होता है। स्वर उदय-प्रवाह का विशद् विचार पीछे के पृष्ठों में कहा जा चुका है। अतः शेष वहीं अवलोकन करना चाहिये।

तत्त्वोदयः प्रातः–	दिनम् –	तत्त्वम् –	वर्णः।
	रविवारे	पृथिवी	पीतम्।
	सोमवारे	जलम्	श्वेतम्।
	भौमे	अग्निः	अरुणम्।
	बुधे	भूमिः	
	गुरौ	वायुः	नीलम्।
	शुक्रे	अग्निः	
	शनौ	आकाशः	बहुरङ्गः

व्याख्या–अब वार (दिन) के अनुसार तत्त्वों के उदय का विचार करते हैं। जिस तरह तिथि के अनुसार प्रातःकाल प्रथमतः स्वरों के उदय का विचार पूर्व में किया गया है, उसी प्रकार यहाँ प्रातःकाल प्रथमतः तत्त्वोदय का विचार किया जा रहा है—रविवार के प्रातःकाल प्रथमतः पृथ्वीतत्त्व का उदय होता है और पृथ्वी तत्त्व का वर्ण (रङ्ग) पीत होता है। सोमवार को जलतत्त्व का प्रातःकाल प्रथमतः उदय होता है जिसका रङ्ग (वर्ण) श्वेत होता है। भौमवार (मंगल) को अग्नितत्त्व का उदय होता है जिसका वर्ण अरुण (लाल) होता है। बुधवार को भूमितत्त्व और गुरुवार को वायु तत्त्व का उदय होता है जिसका वर्ण नील है, शुक्रवार को अग्नितत्त्व तथा शनिवार को आकाश तत्त्व का प्रातःकाल प्रथमतः उदय होता है, जिसका वर्ण बहुरंग अर्थात् मिश्रित वर्णों वाला है। कहा है कि—

आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतो नीलजीमूत आकाशः सर्ववर्णकः॥ (शिवस्वरो. १५५)

जल का श्वेत, पृथिवी का पीत, अग्नि का लाल, वायु का मेघ सदृश नीला और आकाश का सर्ववर्णों से मिश्रित वर्ण (रङ्ग) होता है।

स्कन्धद्वये स्थितो वह्निर्नाभिमूले प्रभञ्जनः।
जानुदेशे क्षितिस्तोयं पदान्ते मस्तके नभः॥ शिवस्वरो. १५६)

मनुष्य के दोनों स्कन्धों में अग्नितत्त्व, नाभिमूल में वायुतत्त्व, जानुदेश (घुटनों) में पृथ्वीतत्त्व, पादान्तभाग में जलतत्त्व और शिरोभाग में आकाशतत्त्व की स्थिति रहती है।

माहेयं मधुरं स्वादं कषायं जलमेव च।
तीक्ष्णं तेजः समीरोऽम्लः आकाशं कटुकं तथा॥ (शिव.स्व. १५७)

पृथ्वीतत्त्व का स्वाद मधुर, जलतत्त्व का कसैला, तेज का तीक्ष्ण, वायु का अम्ल (खट्टा) और आकाश तत्त्व का स्वाद कटु होता है।

एकः स्वरः २½ घटी तत्रपूर्वं—

१.	वायुः	२० पलम्	८ अङ्गुलम् ।
२.	अग्निः	३० पलम्	४ अङ्गुलम् ।
३.	भूमिः	५० पलम्	१२ अङ्गुलम् ।
४.	जलम्	४० पलम्	१६ अङ्गुलम् ।
५.	आकाशः	१० पलम्	नासामध्ये । (मेरुतन्त्रे)

१० जयदुर्गा मनुः । (तन्त्रसारे)

ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षिणि स्वाहा ।

नारदः । विराट् । जयदुर्गा ।

ध्यानम्— मेघश्यामां ग्लौकिरीटां, त्रिनेत्रां सिंहवाहिनीम् ।
चक्रं दरं खड्गशूलौ, बाहुभिर्बिभ्रतीं भजे ।।

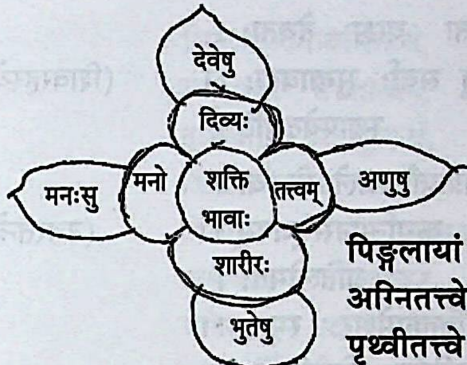
व्याख्या—दिन के प्रात:काल प्रथमत: वायुतत्त्व का उदय होता है जिसकी मात्रा बीस पल और गति आठ अङ्गुल होती है। इसका उदयकाल (प्रवहनकाल) ढ़ाई घटी का होती है। इसके अनन्तर अग्नितत्त्व का उदय होता है जिसकी मात्रा तीस पल और गति चार अङ्गुल तथा प्रवाह ढ़ाई घटी की होती है। तृतीय प्रवाह भूमितत्त्व की मात्रा पचास पल और गति बारह अङ्गुल तथा प्रवाहकाल ढ़ाई घटी की होती है। चतुर्थ जलतत्त्व के प्रवाह की मात्रा चालीस पल और गति सोलह अङ्गुल तथा प्रवाहकाल ढ़ाई घटी होती है। पञ्चम आकाशतत्त्व का प्रवाह होता है, जिसकी मात्रा दस पल तथा गति नासा मध्य मात्र होती है। कहा है कि—

अष्टाङ्गुलं वहेत् वायुरनलश्चतुराङ्गुलम् ।
द्वादशाङ्गुलि माहेयं वारुणं षोडशाङ्गुलम् ।। (शिवस्वरोदये १२८)

वायु का प्रवाह आठ अङ्गुल, अग्नि का चार अङ्गुल, पृथिवी का बारह अङ्गुल और जल का सोलह अङ्गुल होता है। (मेरुतन्त्र)

व्याख्या—जय दुर्गा मन्त्र का उल्लेख तन्त्रसार में आया है। इस मन्त्र का नारद ऋषि, विराट् छन्द और जयदुर्गा देवता हैं। मन्त्र इस प्रकार है—"ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षिणि स्वाहा" अर्थ है—हे दुर्गे ! हे दुर्गे ! तुम हमारी रक्षिणी (रक्षा करनेवाली) हो, इसलिये तुम्हारा ध्यान करता हूँ। ध्यान का अर्थ है—

वह मेघमाला के सदृश वर्णवाली श्यामवर्णा हैं। चन्द्रमा का मुकुट धारण करनेवाली और तीन नेत्रों को धारण करनेवाली तथा सिंह का सवारी करनेवाली हैं। देवी दुर्गा जी हाथों में चक्र, खड्ग, शूल और अभय मुद्रा धारण की हुई हैं। इस प्रकार के स्वरूप को धारण करनेवाली माँ दुर्गा की मैं प्रार्थना करता हूँ।



स्वरे ग्रहाः–

पिङ्गलायां	–	–	–	ईडायाम्
अग्नितत्त्वे	–	मङ्गलः	–	शुक्रः
पृथ्वीतत्त्वे	–	सूर्यः	–	बुधः
जलतत्त्वे	–	शनिः	–	चन्द्रः
वायुतत्त्वे	–	राहुः	–	गुरुः

आकाशतत्त्वे–सर्वेग्रहाः।

व्याख्या–वे दुर्गा देवी देवों में दिव्य शक्ति स्वरूपभाव से स्थित है। प्रत्येक अणुओं में तत्त्वभाव से विराजमान है। प्रत्येक प्राणियों के मन में मनोभावरूप से स्थित हैं और प्रत्येक प्राणियों में जो शरीर के प्रति अहंभाव (शरीरभाव) है वह शरीर भाव देवी की ही स्थिति है। अत: वे देवी शरीरभाव से सम्पूर्ण भूतों में स्थित हैं।

व्याख्या–अब स्वरों के तत्त्वों के साथ ग्रहों के सम्बन्ध का विचार करते हैं—

कुजो वह्निः रविः पृथिवी, सौरिरापः प्रकीर्तितः।
वायुस्थानस्थितो राहुर्वक्षरन्ध्रप्रवाहकः॥ (शिवस्वरोदये १८२)

सूर्यनाड़ी (पिङ्गलास्वर) के उदयकाल में अग्नि, पृथ्वी, जल एवं वायु तत्त्व में क्रमशः मङ्गल, सूर्य, शनि और राहु ग्रहों की स्थिति होती है। इसी क्रम में—

जलं चन्द्रो बुधः पृथ्वी, गुरुर्वातः सितोऽनलः।
वामनाड्यां स्थिताः सर्वे, सर्वकार्येषु निश्चिताः॥ (शिवस्वरोदये १८३)

इडास्वर (चन्द्रनाड़ी) के उदयकाल में जल, पृथिवी, वायु और अग्नितत्त्वों में क्रमशः चन्द्र, बुध, गुरु तथा शुक्र ग्रहों की स्थिति होती है। उक्त स्वरतत्त्वों में स्थित सभी ग्रह सभी कार्यों में सिद्धिप्रद होते हैं।

पृथिव्या बुधो जलादिन्दुः, शुक्राद्वह्नि रवेः कुजः।
वायो राहुशनी व्योमाद्, गुरोः एवं प्रकीर्तितः॥ (शिवस्वरोदये १८४)

पृथिवीतत्त्व से बुध, जलतत्त्व से चन्द्र अग्नितत्त्व से रवि एवं मङ्गल, वायुतत्त्व से शनि तथा राहु और आकाशतत्त्व से गुरु कहे गये हैं।

रश्मिरूपा महेशस्य, पूजिता याश्च देवताः ।
श्रीशिवाङ्गे विलीनास्ताः, सन्तु सर्वाः सुखावहाः ।। (शिवरहस्ये)
नत्वा तां स्थापयेद्धृदि ।
प्रवासे पथि दुर्गे च, स्थानाप्राप्तौ जलेऽपि वा ।
मनोभये समुत्पन्ने, कुर्यान्मानसपूजनम् ।। (उत्तरतन्त्रे)
अव्यक्ताहंकृतिमहदाकाराः प्रतिलोमतः ।
कामेश्वर्यादि देव्यः स्युः, संवित्कामेश्वरः स्मृतः ।।
स्वात्मैव देवता प्रोक्ता, ललिता विश्वविग्रहा ।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्या, दुपास्तिरिति भावना ।।

व्याख्या—जो देवी सभी देवताओं से पूजित हैं तथा जो शिव के आधे अङ्ग (वामभाग) में सदा विलीन रहती हैं, महेश-भगवान् शिवकी कान्तिरूपा, ऐसी स्वरूपवाली उमा (पार्वती) देवी सबों को सुखप्रदान करनेवाली हों।

इस प्रकार उमा देवी का ध्यान करके साधक अपने अन्तःहृत्कमल में उन्हें स्थापित करे।

(शिवरहस्य)

व्याख्या—प्रवासकाल में, मार्ग में, संकट की घडी में, उचित स्थान के अभाव में, जल में, मन के भयभीत होने पर मानस पूजा करनी चाहिये। (उत्तरतन्त्रे)

व्याख्या—यहाँ पर कामेश्वरी देवी का स्वरूप वर्णन और आध्यात्मिक अर्चन-पूजन-साधना का क्रम निर्देश किया गया है। जब कामेश्वरी देवी का प्रतिलोम (उदय) होता है तो वह अव्यक्त, अहंकार एवं महदाकार (बुद्धि के स्वरूप) में व्यक्त होती हैं। अव्यक्त–प्रकृति अर्थात् मूलप्रकृति को कहते हैं। अहंकृति अहंकार का नाम है और महत् बुद्धि को कहते हैं। यहाँ जगदम्बा कामेश्वरी के व्यक्ताव्यक स्वरूप का उद्‌घाटन किया गया है। संवित्–ज्ञान अर्थात् चेतन कामेश्वर शिव हैं और अव्यक्त प्रकृति जिसे महदाकारा कहा गया है वह उनकी शक्ति स्वरूपा भगवती कामेश्वरी है। इस कामेश्वरी ललिता देवी का सम्पूर्ण विश्व ही शरीर है और स्वात्मा (अपनी आत्मा) ही देवता है। लौहित्य अर्थात् लालवर्ण रक्त से उनकी सर्वव्यापकत्व की उपस्थिति का विनिश्चय होता है। साधक के सम्पूर्ण शरीर में रक्त की उपस्थिति ही उनकी उपस्थिति का विनिश्चय है यह यहाँ फलितार्थ है। साधक के उन ललिता देवी की भावना ही उपास्ति (सेवा में उपस्थिति) अथवा सेवा-पूजा-अर्चना है। सिद्धि उनकी अनन्य चित्तता तथा मुद्रा ही देवी का वैभव है। देवतात्वेन अपनी आत्मा की देहकल्पना ही उसका न्यास है। इस उपासना में भेद शून्यत्व दक्षिणा, शुश्रूषा ललिता में अभेद भावना की स्थिरता है। पराम्बा ललिता का तिथि रूप

सिद्धयस्त्वनन्यचित्तत्वं, मुद्रा वैभव भावना।
न्यासस्त्व देवतात्वेन, स्वात्मनो देहकल्पनम्।।
दक्षिणा भेदशून्यत्वं, शुश्रूषा स्थैर्यमुच्यते।
तिथिरूपेण कालेन, परिणामावलोकनम्।।
नित्या पञ्चदशैताः स्युः,
अशेषतो जगत्कृत्स्नं, हृल्लेखात्मकमीरितम्।
व्योम्ना प्रकाशमानत्वं, ग्रसमानत्वमग्निना।।
तयो र्विमर्श ईकारो, विन्दुना तन्निफालनम्।।
अपुनर्वासनोत्थाना, ल्लयो विषय विस्मृतिः।

(श्री विद्यार्णव तन्त्र २१)

कार्तवीर्यार्जुनयन्त्रं मन्त्रश्च–

ॐ फ्रों ह्रीं क्लीं कार्तवीर्यार्जुनाय नमः।

से काल का परिणाम ही अवलोकन (दर्शन) है। इस प्रकार पञ्चदश स्वरूप उनका नित्य स्वरूप है। इस सम्पूर्ण विश्व को हृल्लेखात्मक (स्वात्मा) ही कहा जाता है। अतः हृदयाकाश में प्रकाश तभी सम्भव है जब ललितात्मा के ज्ञानरूपी अग्नि से यह शरीर (स्वात्मा) ग्रसमान अर्थात् व्याप्त होगा। इसलिये कामेश्वर (शिव) और कामेश्वरी के विनिश्चय वाचक "ईकार" है और विन्दु के स्फालन (स्पन्दन) से इसका विनिश्चय होता है। साधक के वासना का पुनः उत्थान नहीं होने ही उत्थान तथा विषयों की विस्मृति ही लय है।

(श्रीविद्यार्णव तन्त्र २१)

व्याख्या–श्रीकार्तवीर्यार्जुन मन्त्र का विशेष प्रयोग वस्तु के नष्ट होने अर्थात् खो जाने या चोरी हो जाने अथवा किसी द्वारा अपहृत कर लिए जाने पर या शत्रु के पराजय आदि के निमित्त अनुष्ठान विधिना होता है। परन्तु यह एक स्थूल बुद्धया द्वैतभावना से किये जाने वाले अनुष्ठान है। वस्तुस्तु इसका सही और उत्तम प्रयोग स्वात्मरक्षण के लिए होता है। स्वात्मरक्षण से अभिप्राय यह है कि अविद्यावृत जीवत्मा सबसे उत्कृष्ट स्वात्म वस्तु को खो देता है और शरीरादि में स्वात्मा का अध्यास कर बैठता है, या यों कहें कि अभानापादक और असत्त्वापादक अथवा मूलाविद्या या तूला विद्या ने जीवात्मा के सर्वोत्कृष्ट अनर्ह स्वात्मरूप मणिको चुरा लिया–अपहृत कर लिया है। अतः स्वात्मवस्तु को प्राप्त करने के लिए श्रीकार्तवीर्याजुन यन्त्र-मन्त्र का अनुष्ठान विधिना साधना साधक को करना चाहिये। इस कार्तवीर्यार्जुन मन्त्र का दत्तात्रेय ऋषि, अनुष्टुप छन्द, श्री कार्तवीर्यार्जुन देवता, 'फ्रों' बीज, 'ह्रीं' शक्ति, 'क्लीं' कीलक

ॐ अस्य श्री कार्तवीर्यार्जुनमन्त्रस्य दत्तात्रेय ऋषि अनुष्टुप् छन्दः श्री कार्तवीर्यार्जुन देवता फ्रों बीजं ह्रीं शक्तिः क्लीं कीलकं ममाभीष्ट सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः ।

विश्वरूपिणे । (शिव.स.ना.)
विग्रहो देवदेवस्य, (प.पु.)
विश्वमेतच्चराचरम् । (पराशरोप. पु.)
चतुर्भोगाय । (शि.स.ना.)
मेधाजनने वि. (प.पु.)
ये त्रिं सप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः । वाचस्पति र्बला तेषां ऽ अद्य तन्वो दधातु मे ।।१।। (अथर्ववे.शौ. १/१)

चित्र—१



वह्निनेत्राय ते नमः ।

मदनप्लोषणम्

ब्रह्माण्डशमनम्

त्रिपुरदाहः

चित्र—२

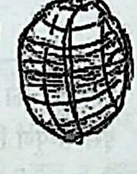


मदनक्लेषणम्

चित्र—३



चित्र—४



है और इसका विनियोग साधक अनुष्ठाता के अभिष्ट सिद्धि के लिए प्रयुक्त है। कार्तवीर्यार्जुन मन्त्र इस प्रकार है—"ॐ फ्रीं ह्रीं क्लीं कार्तवीर्यार्जुनाय नमः" इस मन्त्र से यन्त्र पूजन का विधान किया गया है। जपानुष्ठान में इसी मन्त्र का जप विहित है।

व्याख्या—शिव पुराण नारायणी संहिता में उन्हें विश्वरूपिणे (विश्वरूप) कह कर नमस्कार किया गया है। (शिवपु.स.ना.) पद्मपुराण में उन्हें शिव का विग्रह (शरीर) स्वरूप माना गया है और पराशर उपपुराण में उन्हें चराचर विश्वरूप में व्याप्त माना गया है। (पराशरोपपु.)

व्याख्या—शिवसंहिता के नारायणी सूक्त में उन्हें (शिव को) 'चतुर्भोगाय' कहकर स्तुति की गयी है। 'चतुर्भोगाय' का अर्थ—"चतुर्विधं अन्नं (भक्ष्यं-भोज्यं-चोष्यं-लेह्यानि) भुनक्ति इति चतुभुक् तस्मै' है। अर्थात् चतुर्विध अन्न-भक्ष्य-भोज्य चोष्य और लेह्यों का भोग करनेवाले को चतुर्भुक् कहते है और तस्मै (उसके लिये) नमस्कार है क्रिया का अध्याहार करणीय है।

(शि.स.ना.)

पद्मपुराण में कहा है—"मेधाजनने विष्णुः" अर्थात् जीवात्मा सात्त्विक साधक के मेधा (शुद्ध ज्ञान) जनन (उत्पन्न) करने में वे रुद्र (शिव) विष्णु स्वरूप हैं। (पद्म पु.)

अथर्ववेद शौनक संहिता में कहा है—जो सम्पूर्ण विश्व के पञ्चज्ञानेन्द्रियों एवं पञ्चकर्मेन्द्रियों को धारण करते हैं, उन्हें प्रेरित करते है अथवा प्रकाशन करते हैं। वे वाचस्पति (इन्द्रियों के पति) आज उन विश्व सृष्टि में बल प्रदान करें। (अथर्ववेदशौनक सं. १/१)

भगवान् शिव के तीन नेत्र हैं यह प्रसिद्ध ही है, परन्तु उन तीन नेत्रों में तृतीय नेत्र बह्नि (अग्नि) नेत्र की विशेषता है। इस वह्निनेत्र से ही कामदेव को भगवान् रुद्र ने भस्म कर दिया था, यह भी पुराणप्रसिद्ध कथा हैं। यह वह्नि प्रकाशस्वरूप होने के कारण ज्ञान का प्रतीक है। काम इच्छा को कहते हैं। जीवात्मा का काम ही जगत् का सृजन करता है। इच्छा (काम) के मूल में वासना होती है इसलिये वासना से काम और कामना की पूर्ति से वासना का विस्तार होता है। वासना प्रवृद्ध होते रहने से दुःखों के सृजन-वर्धन होते रहते हैं और वे दुःख ही नरक के प्रतीक हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामं क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (१७/२१)

ये काम-क्रोध-लोभ ही जीवात्मा के नाश के कारण नरक के द्वार हैं। "कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः" उन-उन कामनाओं से जीवों के ज्ञान हरा (अपहृत) जाता है, गीता में स्वयं भगवान् ने कहा है। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ (गीता ५/१५) भगवान् अर्जुन से बार-बार काम-क्रोधादि से उन्हें वर्जित करने के अभिप्राय से कहते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निभस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।। (गी. ४/३७)

प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार इन्धनों को भस्मसात् करता है उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है। इन उद्धरणों से ज्ञान का अग्नि के समान स्वभाव होना सुचिन्तित प्रसिद्ध अर्थ है। भगवान् शिव के इसी ज्ञाननेत्र (वह्निनेत्र) को महत्त्वकारी मानकर मूल में "वह्निनेत्राय ते नमः" वह्नि है नेत्र जिसके ऐसे हे शिव तुम्हें प्रणाम करते हैं कहा है। दूसरे नेत्र से त्रिपुर (त्रिपुरासुर) की दाह भी प्रसिद्ध है। त्रिपुरासुर स्थूलशरीर-सूक्ष्मशरीर और कारण शरीर है। इसे यों भी कहें कि ब्रह्मग्रन्थि-विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थियाँ ही त्रिपुर है। ये तीनों शरीर अथवा ग्रन्थियाँ जो जीवत्व का मूल है उसका उच्छेद-ब्रह्म (परमात्मा) में लय ही त्रिपुरदाह है। यही इसका आध्यात्मिक रहस्य है। इससे इतर नेत्र से शिव (भगवान् रुद्र) ब्रह्माण्ड का शमन अर्थात् नियन्त्रण करते है। वेद-शास्त्र-स्मृति एवं आगमादि ग्रन्थों में विधि-निषेध का प्रतिपादन का अभिप्राय लोक नियन्त्रण (शमन) से ही है, जिसे पूर्णरूप से समझ पाना कठिन होता है। यहाँ यह स्मरण रखना उचित होगा कि श्रुति-पुराण-स्मृति-आगमादि ग्रन्थों में त्रैविध भाषा का प्रयोग किया गया है—(१) समाधि भाषा, (२) लौकिकी भाषा और (३) परकीया भाषा।

पुन॒रेहि॒ वाचस्पते, दे॒वेन॒ मनसा स॒ह ।
वसोष्पत॒े निरमय॒, मय्ये॒वास्तु॒ मयि॒ श्रु॒तम् ।।२।।
इ॒हैवाभिवितन्मे॒, आर्त्नी इ॒व ज्यया ।
वा॒चस्पति॒ र्नियच्छतु॒ मय्ये॒वास्तु॒ मयि॒ श्रु॒तम् ।।३।।
उपहूतो वा॒चस्पति॒ रूपा॒स्मान् वा॒चस्पति ह्वताम् ।
संश्रुतेन गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन विराधिषि ।।४।।

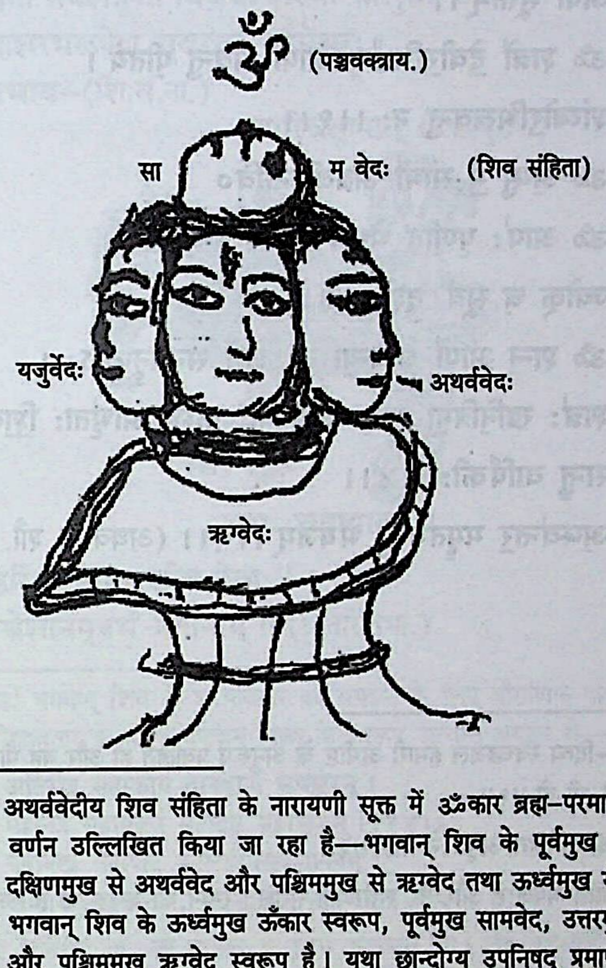
---

१. **समाधि भाषा**—वेद-पुराणादि में प्रचलित वर्णन शैलियों के अन्तर्गत वह वर्णन शैली जो समाधि से जानने योग्य विषय हैं समाधि है। यथा—आत्मा का स्वरूप, प्रकृति का स्वरूप, कर्म का स्वरूप, धर्माधर्म निर्णय इत्यादि।

२. **लौकिकी भाषा**—वेद पुराणादि में उपलब्ध वह वर्णन शैली जिसके द्वारा समाधिगम्य अध्यात्म तथा अधिदैव रहस्यों का लौकिक रीति से रूपक द्वारा वर्णन करके श्रोता की बुद्धि को जब सत्य में प्रतिष्ठित की जाती है, उसे लौकिकी भाषाशैली कही जाती है। यथा—भगवान् और जदम्बा का जन्म, कर्म, विवाह, विलास आदि वर्ताव का वर्णन। जो वस्तुतः समाधिगम्य और अलौकिक विषय हो, परन्तु मध्यम अधिकारियों के लिये लौकिक रीति से वर्णन किया गया हो, वह लौकिकी भाषा है।

३. **परकीया भाषा**—वेद-पुराणादि में उपस्थित वह भाषा शैली, जिसके द्वारा समाधिभाषा और लौकिकी भाषा के विषयों को दृढ़ कराने की दृष्टि से युग-युगान्तर और कल्प-कल्पान्तर की घटना समूहों को गाथारूप से जो प्रकाशित करती है, वह परकीया भाषा। इस प्रकार का वर्णन यथार्थतः परकीया भाषा होती है, कोई लौकिक इतिहास नहीं है। वेद को समझनेवाले त्रिकालदर्शी महर्षिगण ने अपनी योग युक्त बुद्धि से जिस प्रकार समाधिभाषा को प्रकाशित किया है, वैसे ही लौकिकी भाषा और परकीयाभाषा को भी पुराणादि में प्रकाशित किया है। ये गाथाएँ लौकिक कहानी अथवा लौकिक इतिहास नहीं हैं, ये सब समाधिगम्य कर्मादि का गूढ़ रहस्योधटन है। (शि सं.जा.)

व्याख्या—हे वाचस्पते! आप पुनः इस मेरी अर्चना द्वारा अपने मन देवता के साथ आओ। वसोस्पते (धनपति) मैंने जो कुछ भी गुरु परम्परा से कान में सुना है वह मुझ में स्थिरभाव से वास करे। वह धनु पर ज्या (डोरी) के समान मेरे मन में विस्तार को प्राप्त होवे। हे वाचस्पते (वृहस्पति देव!) आप वाणी के पति (मालिक) हैं इसलिए कहता हूँ कि मैं जो श्रुति (वेदादि) का मन्त्र श्रवण करता हूँ उससे आप अप्रसन्न न होवें ताकि मैं ठीक-ठीक अंश से उन सुने गये मन्त्रोपदेश को धारण कर सकूँ। यदि आप इस मेरे श्रवण कर्म से विरोध करते हों तो आप से प्रार्थना है कि आप अपने उस रूप को हमसे दूर कर प्रसन्न रूप हों और मुझे भी प्रसन्नरूपता को प्रदान करें।



व्याख्या—यहाँ अथर्ववेदीय शिव संहिता के नारायणी सूक्त में ॐकार ब्रह्म–परमात्मा शिव के पञ्चवक्त्र स्वरूप का वर्णन उल्लिखित किया जा रहा है—भगवान् शिव के पूर्वमुख से सामवेद, उत्तरमुख से यजुर्वेद, दक्षिणमुख से अथर्ववेद और पश्चिममुख से ऋग्वेद तथा ऊर्ध्वमुख से ऊँकार की उत्पत्ति हुई है अथवा भगवान् शिव के ऊर्ध्वमुख ऊँकार स्वरूप, पूर्वमुख सामवेद, उत्तरमुख यजुर्वेद, दक्षिणमुख अथर्ववेद और पश्चिममुख ऋग्वेद स्वरूप है। यथा छान्दोग्य उपनिषद् प्रमाण है कि—"महतोऽअस्य भूतस्य निश्वसितमेतत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिसः इतिहास-पुराणविद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि"। (छा.उ. ३३/५/६) अर्थ है इस महाभूत (परमात्मा) के निश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिद्विद्या, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान आदि सृजित (उत्पन्न) हुए। अथवा भगवान् शिव के. ऊर्ध्वमुख ही ॐकार, पूर्वमुख सामवेद, उत्तरमुख यजुर्वेद, दक्षिणमुख अथर्ववेद और पश्चिममुख ही ऋग्वेद है। इसलिये उन्हें "पञ्चवक्त्राय ते नमः" हे पञ्चवक्त्र (पञ्चमुख) शिव आपको नमस्कार करते हैं। इसलिये वेदों उपनिषदों, पुराणों, आगमग्रन्थों तथा अन्य स्तुति ग्रन्थों में पञ्चवक्त्र की ही उपासना कहा है। (शिव सं.ना.)

अपां सूक्तम् ।।

ॐ शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये ।

शंय्योरभिस्त्रवन्तु नः ।।१।।

ॐ अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्वि०

ॐ आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३मम ।

ज्योक् च सूर्यं दृशे ।।३।।

ॐ शन्न आपो धन्वन्या ३ः शमु सन्त्वनूप्याऽः ।

शन्नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः

सन्तु वार्षिकीः ।।४।।

अप्स्वन्तर ममृतमप्सु भेषजम् ।।५।। (अथर्ववेद शौ. १/६)

व्याख्या—दिव्य स्वच्छजल हमारी अभीष्ट के अनुरूप प्रवाहित हो और वह पीने योग्य जल हमारे लिए मंगलकारी भी हो ॥१॥

जल में अन्तर्निहित अमृत ने कहा ॥२॥

जल ही प्रिय भेषज है और मेरे शरीर को सुरक्षित रखने का कवच भी है। सूर्य की मोदक दृष्टि वही है ॥३॥

शान्त जल को हिलोर कर (ऊपर के भाग के जल को हटाकर) उपयोग करने पर वह अनुपम मंगलकारी होता है। अतः जिस खनित्री से खोदने पर शुभकारी जल और जिस कुम्भ में अमृतरूप वर्षा का जल रहता है वह हमारे लिए मंगलकारक हो ॥४॥

(अथर्ववे.शौ. ९)

जल के अन्दर अमृत होता है और वह जल जीवन के लिए भेषज होता है ॥५॥

(अथर्व वे. शौ. १/६)

संहर्ता सर्वशत्रूणां विजयः शरभः सालुवः पक्षिराजः । (इति मन्त्रशास्त्रे)
तदाशरभरूपेण सुव्यक्तः परमेश्वरः ।
शरभाय–(शि.सं.ना.)

उपरिचतुष्पात् (लिङ्गपुराणे)



अधः चतुष्पाद्

"हरिं हरन्तमनुयन्ति देवाः"
विश्वेशानमृषभं मतीनाम् ॥ (श्रुतिरितिभा.)

व्याख्या–यहाँ भगवान् शिव के शरभावतार को समझने के लिए पौराणिक गाथा का आश्रयण आवश्यक है। नृसिंहावतार के समय भगवान् विष्णु के स्वरूप अत्यन्त भयङ्कर थे—

अतिरौद्रं महाकायं दानवानां भयङ्करम् ।
महानेत्रं महावक्त्रं महादंष्ट्रं महाभुजम् ।।१४।।
महानखं महापादं कालाग्निसदृशाननम् ।
कर्णान्तकृतविस्तार, वदनं चातिभीषणम् ।।१५।। (नृ.पु. ४४)

उनके शरीर अतिरौद्र था, जो दानवों के लिए भयकारी था। नेत्र बड़े-बड़े, मुख विस्तृत, दंष्ट्रा विशाल, भुजाए बड़ी-बड़ी, नखें विशाल, पद (पैर) के पंजे बड़े-बड़े और भय को उत्पन्न करनेवाले कर्णान्त तक फैले हुए जबड़े से उनके मुख प्रलयकालीन अग्नि के समान अत्यन्त भीषण प्रतीत होता था।

हिरण्य कश्यप के संहारोपरान्त भगवान् नृसिंह का वह उग्र (भयङ्कर) स्वरूप मरे हुए पर भी हिरण्यकश्यप को देखकर शान्त नहीं हो पा रहा था और तीनों लोकों को जैसे उस क्रोधाग्नि से भस्म कर रहा हो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी। देवगण तीनों लोकों की हानि की सम्भावना को दूर करने के उद्देश्य से भगवान् रुद्र की प्रार्थना की और वे शरभरूप में प्रकट होकर नृसिंहरूप हरि को अपने पैर

श्रियःपतिः श्रीमतिशासितुं जगत् जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बरात्, हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥

(माघः–शिशुपालवधे)

के पञ्जा से पकड़ कर उड़ गये और उन्हें अब क्रोध करने की आवश्यकता नहीं रह गयी है इस प्रकार उन्हें उद्बोधित करके शान्त कराये। यही शरभोत्पत्ति का उद्देश्य है। भगवान् रुद्र के शरभ नाम का अर्थ इस प्रकार है—

शरा जीवास्तदङ्गेषु भाति नित्यं हरिः स्वयम्।
ब्रह्मैव शरभः साक्षान्मोक्षदोऽयं महामुने।।२७।। (शरभोपनि.)

शर जीव भाव को कहते हैं और उस जीवात्मा के अङ्गों में भगवान् हरि नित्यरूप से विराजमान होकर शोभा पाते हैं। अत: जीवात्मा और परमात्मा में अभेद का ग्रहण होता है। यहाँ हरि शब्द से भगवान् रुद्र विवक्षित हैं। 'हरतीति हरि: हरो वा'' । जीवभाव का हरण करने के कारण परमात्मा हरि-हर दोनों नाम से जाने जाते हैं। नृसिंह भगवान् को हरण करने के कारण रुद्र हरि हैं। परमात्मा–ब्रह्म हरि-हर दोनों पदों से कहे गये हैं इसलिए शिव और विष्णु की एकात्मता जाननी चाहिये। दोनों एक ही वाच्य पदार्थ हैं।

अब मूल श्लोक का अर्थ लिखते हैं—वे भगवान् शरभ सभी शत्रुओं के संहर्ता, युद्ध में विजय प्रदान करनेवाले पक्षिराज अर्थात् पक्षियों में श्रेष्ठ (राजा) हैं। इसलिये मूल में ''संहर्ता सर्वशत्रूणां विजयः शरभः सालुवः पक्षिराजः।'' जो कहा गया वह नृसिंहावतार से लोकरक्षणकालिक शरभ उत्पत्ति का संकेतार्थक है। उन शरभ के पृष्ठ भाग पर चार पद (पैर) को दर्शाने और शरभ शरीर के स्वरूप को बोध कराने के लिए ''उपरिचतुष्पात्'' मूल में कहा। (लिङ्गपुराण) इसी प्रकार अथर्ववेद के शिवसंहिता नारायण सूक्त में ''शरभाय'' चतुर्थी विभक्ति पद से नमः अध्याहारणीय होने से उनकी उपासनीयता को प्रदर्शित करने के लिए कहा। (शि.सं.ना.)

भगवान् शरभ के चार पद (पैर) नीचै भी हैं। अत: उनके विग्रहबोध कराने के लिए ''अधश्चतुष्पाद्'' कहा। भगवान् रुद्र शरभ शरीर से नृसिंह रूप हरि (विष्णु) का हरण किया था इसलिए मूल में ''हरिं हरन्तं अनुयन्ति देवा: विश्वेशानमृषभं मतीनाम्'' कहा। जैसा कि शरभोपनिषद् में कहा है—

''हरिं हरन्तं पादाभ्यामनुयान्ति सुरेश्वराः।
मा वधीः पुरुषं विष्णुं विक्रमस्त्वं महानसि'' ।।५।।

नृसिंह रूप हरि (विष्णु) को दोनों चरणों से हरते हुए शरभ की देवताओं ने प्रार्थना की कि तुम्हारा पराक्रम महान् है, अत: तुम इन्हें मत मारो। (मन्त्रशास्त्र, लिङ्गपु. शि.सं.)

व्याख्या–जगन्निवास (जगदाधार), लक्ष्मी के पति, भगवान् श्रीहरि श्रीकृष्ण, जिन्होंने जगत् के भार को उतारने के उद्देश्य से अवतार लिया है, ने वसुदेव के आङ्गण में ब्रह्मा के पुत्र नारद को आकाश मार्ग से उतरते हुए देखा (माघ–शिशुपालब्ध)

सन्त्यागासहनो बन्धुः, सहैकानुमतिः सुहृत्।
समक्रियस्तु सन्मित्रम्, समप्राणः सखा मतः ।। (शि.सं.ना.टी.)

इयं नारी पतिलोकं वृणाना, निपद्यत उप त्वा मर्त्यप्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती, तस्यै प्रजां द्रविणं चेहधेहि ।।
(अथर्ववेद १८/३/१)

भर्तारमुद्धरेन्नारी, प्रविष्टा सहपावकम्। (स्मृ.इति भा.)

पञ्चब्रह्ममयः शिवः–

१. ब्रह्मा-सद्योजातः–सर्वजनशक्त्युपहितः ।
२. विष्णुः–वामदेवः–पालनशक्त्युपहितः ।
३. रुद्रः–अघोरः–संहारशक्त्युपहितः ।

व्याख्या–जब दो व्यक्ति परस्पर में एक दूसरे का वियोग सहन करने में समर्थ न हो तो वह परस्पर में एक दूसरे का बन्धु कहाता है। जब दो व्यक्तियों के परस्पर में एक तरह की विचारधारा हो तो वे दोनों परस्पर में सुहृत् कहलाता है। इसी तरह जब दो व्यक्तियों के आचरण-कर्म-क्रिया-व्यवहार एक जैसा हो तो परस्पर में एक दूसरे का सन्मित्र कहलाता है और जब दो व्यक्तियों की आयु समान हो तथा परस्पर प्रेमभाव भी हो तो वे दोनों परस्पर में एक दूसरे का सखा होता है। (शिव सं.ना.टी.)

व्याख्या–यह नारी श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म का पालन और पतिलोक का वरण करती हुई मर्त्य लोक में अपने तथा पति के प्रेत (आवागमन) स्वरूप को त्याग कर परम श्रेयस्कर मोक्ष पद को प्राप्त की है। अत: हे ईश्वर इनकी प्रजा (सन्तति) को इस लोक में धन-सम्पदाएँ प्रदान करें। (अथर्ववेद १८/३/१) नारी अपने पति के साथ अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने मृत पति का उद्धार करे। स्त्री का मृत-पति के साथ अग्नि प्रविष्टि अपने और अपने पति के मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करता है। (स्मृ.इति भा.)

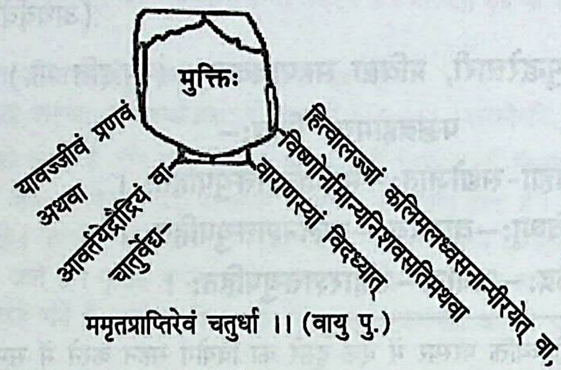
व्याख्या–परशिव का परब्रह्ममय पाँच रूप यहाँ कहे गये हैं। परशिव का प्रथम ब्रह्मा देवता और सद्योजात ऋषि हैं एवं वे समष्टिजनन (सर्वजनीन) शक्ति से उपहित है। द्वितीय परशिव के विष्णु देवता, वामदेव ऋषि हैं, जो सम्पूर्णजन के पालनशक्ति से सम्पन्न हैं। तृतीय परशिव के रूद्रदेवता, अघोर ऋषि है, जो संहारशक्ति सम्पन्न हैं। चतुर्थ परशिव के सदाशिव देवता तत्पुरुष ऋषि हैं और वे तिरोभाव (लय-विलीन) कर लेने की शक्ति से उपहित हैं। पाँचवे के ईश्वर देवता और ईशान ऋषि हैं, जो अनुग्रहशक्ति सम्पन्न हैं। कुछ लोग अज्ञानवश ब्रह्मा-विष्णु और महेश में परस्पर भेद मानते हैं, परन्तु यह बुद्धिभ्रममूलिका ही है। क्योंकि–

४. सदाशिवः—तत्पुरुषः—तिरोभावशक्त्युपहितः ।

५. ईश्वरः—ईशानः—अनुग्रहशक्त्युपहितः ।

ईश्वरासिद्धेः । (सांख्यदर्शन १/९२)

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सांख्यदर्शन ३/५७)



ममृतप्राप्तिरेवं चतुर्धा ।। (वायु पु.)

सर्व देवात्मको रुद्रः सर्वे देवाः शिवात्मकाः ।
रुद्रस्य दक्षिणे पार्श्वे रविब्रह्मात्रयोऽग्नयः ।।४।। (रुद्रहृदयोप.)

अर्थ है—भगवान् शिव सर्वदेवात्मक हैं और सभी देवता शिवात्मक हैं। रुद्र के दक्षिणभाग में सूर्य, ब्रह्मा और तीनों अग्नियाँ हैं।

व्याख्या—प्रायः ज्ञानलवविदुर्दग्धजन "ईश्वरा सिद्धेः" (१/९२) सांख्य दर्शन के सूत्र के अभिप्राय को न समझकर एकदेशीय मति के फलस्वरूप सांख्य दर्शन को अनीश्वरवादी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते और प्रस्तुत किये जाते दिखते हैं, जो अल्पज्ञता का द्योतक है। वस्ततस्तु सांख्यमत ने पुरुष की सन्धि को विषम-परिणाम में निमित्तकारण माना है। उसने पुरुष विशेष को वहाँ प्रस्तुत नहीं किया है। परन्तु सामान्यतोदृष्टप्रमाण से उनकी सिद्धि होती है कहा है। सांख्यमत ने बन्ध और मोक्ष को प्रकृति में ही प्रक्षिप्त माना है—

रूपै सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण ।। (सां.का. ६३१)

अर्थ, अधर्म, अज्ञान, वैराग्यं, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इन सात रूपों में प्रकृति अपने आपको बाँधती है और पुनः वह पुरुषार्थ के एक रूप अर्थात् ज्ञान के द्वारा अपने को उनसे विमुक्त करती है। अतः प्रकृति के कार्यों को साथ कर जीव संज्ञक पुरुष में बन्ध-मोक्ष और संख्या आदि के व्यवहार सिद्ध होते हैं। सांख्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए इस बात के विवेक का होना अति

आवश्यक है कि किस जगह पुरुष शब्द का अर्थ जीव अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और कहाँ ईश्वर अर्थ में तथा कहाँ पर शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सांख्यमत में प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति को जगत् का स्वतन्त्र कारण माना है; इसलिए ईश्वर की चर्चा नहीं की गई है। उसने प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानकर, उसने उसे उपादान कार्यों की सापेक्षता में स्वतन्त्र बतलाया है। क्योंकि वह वहाँ गुणों की साम्यावस्था जो पुरुष के निप्रजोज्य विषय को स्वीकरता है। इस साम्य परिणाम तथा विषम परिणाम के प्रति ईश्वर ही निमित्त कारण है, जिसके सन्निधान से परिणाम होता है। सांख्यकार ने अपने मान्य पचीस तत्त्वों से भिन्न ईश्वर तत्त्व को तो नहीं माना, परन्तु वह अपने मत में स्वीकृत पुरुषतत्त्व को ही पुरुष विशेष ईश्वर तत्त्व में सम्मिलित कर लिया है। यहाँ यह भी कहना उचित है कि केवल वेदान्त मत अर्थात् उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र ही विशेषरूप से ब्रह्मको "हान" और "हानोपाय" अर्थात् साध्य-साधनरूप से स्वीकार किया है। अन्य मतवाले यथा--न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं योग दर्शनों में परमात्मतत्त्व को केवल "हान" अर्थात् साध्य माना है। वे "हानोपाय" (साधन) जडतत्त्व (प्रकृति) और चेतनतत्त्व का विवेकपूर्ण ज्ञान बतलाये है। अतः उन्हें ईश्वरतत्त्व को विशेषरूप से अलग कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह स्वाभाविक है कि लोग अपने से भिन्न वस्तु को ही जानना चाहता है, जो दृश्य कहलाता है और वह त्रिमुणात्मक जड़तत्त्व है। अपने शुद्धपरमात्मस्वरूप का जानना न होकर, उसमें स्वरूपावस्थिति ही होती है। इसलिए श्रुति कहती है—"येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (वृ.उ. ६/४) जिस विज्ञाता (परमात्मा) से सब-कुछ को जाना जाता है उसे कौन और किससे (करण) जानेगा ?

"ईश्वरासिद्धेः" सूत्र के आधार पर ही सांख्य पर अनीश्वरवादी होने का दोष गढ़ा जाता है। अतः इसके सम्बन्ध में आनुपूविक विचार आवश्यक है। यह सूत्र प्रथम अध्याय के प्रत्यक्ष प्रमाण प्रकरण में उधृत किया गया है। सांख्य में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्।" (सां.द. १/८९) इन्द्रियों के सन्निकर्ष को प्राप्त, जो उस विषय के आकार का चित्र खींचता है उस विज्ञान (चित्त की वृत्ति विशेष) को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी क्रम में अव्याप्ति दोष शंका निवारणार्थ सूत्र है—"योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः।" (सां.द. १/९०)

योगियों का बाह्य प्रत्यक्ष न होने के कारण प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति दोष (योगियों को इन्द्रिय सन्निकर्ष के विना भी वस्तु के तदाकार चित्तवृति होने के कारण प्रत्यक्ष होता है ?) का निवारण हो गया। अथवा "लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः।" (सां.द. १/९१) योगियों को लीन वस्तुओं अर्थात् सूक्ष्म व्यवहित अथवा विप्रकृष्ट में अतिशय सम्बन्ध होने से अव्याप्ति दोष उपस्थित नहीं होता। अब इसके बाद का सूत्र है—"ईश्वरासिद्धेः।" (सां.द. १/९२) अर्थात् ईश्वर की असिद्धि से अव्याप्ति दोष नहीं है।

प्रथम अध्याय के प्रत्यक्ष प्रकरण में यथाक्रम से प्राप्त इस सूत्र का अर्थ ईश्वर के अस्तित्त्व के अभाव को नहीं बतलाता, प्रत्युत इससे यह कहा गया कि ईश्वर के शुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष अन्तःकरण

द्वारा नहीं होता अर्थात् चित्तवृत्ति ईश्वर के शुद्ध स्वरूप को तदाकारकारितवृत्तिपूर्वक नहीं करा सकती। इसलिये इस सूत्र से ईश्वर के अस्तित्व की असिद्धि नहीं कही गयी है; किन्तु जिस प्रकार भौतिक पदार्थों का साधारण मनुष्यों को बाह्य प्रत्यक्ष होता है और योगियों को सूक्ष्म पदार्थों का आभ्यन्तर प्रत्यक्षज्ञान होता है, इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणोभय की भाँति ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है।

सांख्य ने ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और ज्ञानस्वरूप माना है। जिसकी ज्ञानशक्ति से जड़ प्रकृति में समष्टि पुरुष कल्याणार्थ सृष्टि, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है। विज्ञानभिक्षु ने अपने भाष्य में कहा है कि—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः।।
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्व च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता सन्निधिमात्रतः।। (सांख्य प्रवचनभाष्य १/९७)

जिस प्रकार इच्छा रहित रत्न (मणि-चुम्बक) लोहा के सन्निधि में रहने मात्र के कारण लौह पिण्ड में प्रवृत्ति (गति) होती है, उसी प्रकार प्रकृति को सत्तामात्रादेव अर्थात् ईश्वर के सानिध्य प्राप्ति होने पर जगत् की उत्पत्ति एवं अन्य क्रिया होती है। ईश्वर के इच्छा रहितत्व स्वभाव से अकर्ता और संनिधिमात्र से कर्ता का व्यवहार होता है। इसी प्रकार गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। (गी. ५/१४)

ईश्वर भूत-प्राणीसमूह के कर्तापन, कर्म और उसके फल से संयोग की रचना नहीं करता, अपितु परमात्मसंयोग के कारण प्रकृति के गुण में गुण बरतती हैं। अब इसके बाद सांख्य सूत्र—"इदृशेखरसिद्धिः सिद्धा" (सां.द. ३/५७) अर्थ स्पष्ट है कि इस प्रकार (उपर्युक्त) प्रकार से ईश्वर की सिद्धि सिद्ध होता है। (सां.द. १/९२, ३/५७)

अब वायु पुराणोक्त मुक्ति पर विचार लिखते हैं—"यावज्जीवेत् प्रणवं अथवा आवर्तयेत् रौद्रियं वा चातुर्वेद्यम्" अर्थात् "यावत् जीवन ॐकार प्रणव के जप करने से मुक्ति प्राप्त होती है।" द्वितीय विकल्प में "यावज्जीवन चारों वेद मंत्र से रुद्री पाठ के पारायण करने से मुक्ति प्राप्त होती है "कहा है। अब तृतीय विकल्प में "वसतिमथ वा वाराणस्यां निदध्यात्" अर्थात् "मुक्ति की नगरी वाराणसी में मोक्ष की इच्छा से यावज्जीवन वास करना चाहिये" कहा। चतुर्थ विकल्प में "हित्वा लज्जां कलिमलकुलध्वंसनान्पीरयेद्वा, विष्णोर्नामान्यनिशम" अर्थात् "लज्जा को त्याग कर तप करना चाहिये अथवा भगवान् विष्णु के पापनाशक नाम का अहर्निश जप करना चाहिये" कहा है। इससे "अमृतप्राप्तिरेवं चतुर्धा" यह फलश्रुति है कि इस प्रकार अमृतत्व (मोक्ष-मुक्ति) के प्राप्ति के लिए ये चार उपाय हैं। (वायु पु.)

वयः सुपर्णा, उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेघा ऋषयो नाथमानाः

अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धिचक्षु र्मुमुग्ध्यस्मान्निधियैव वद्धान् ।।

अहं ग्रहोपासना–

त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै

त्वमसि तद्योहं सोसौ सोहम् ।।

दशप्राणवहाह्येता नाड्यः परिकीर्तिताः ।

इडा पिङ्गला सुषुम्ना गान्धारी हस्तिजिह्वा

पूषा यशस्विनी अलम्बुषा कुहू शंखिनी

व्याख्या–मेधा सम्पन्न वय (उम्र) से सुन्दर अर्थात् युवावस्थावाले ऋषिगण इन्द्र (सूर्य) को प्राप्तकर सनाथ हो गये और उन्होंने इन्द्र से अज्ञानान्धकार को ढ़ककर अपनी चक्षु में प्रकाश (ज्ञान) भर देने की इन्द्र से प्रार्थना की। उन्होंने इन्द्र से कहा—हम अज्ञानियो के ज्ञान (प्रकाश) ही सम्पदाएँ हैं। अतः ज्ञान से सम्बद्ध हम ऋषिगणों को अज्ञान्धकार से मुक्त करो।

व्याख्या–उपासना के प्रकार में एक "अहंग्रहोपासना" भी महत्वपूर्ण उपासना मार्ग है। यहाँ ग्रह का अर्थ ज्ञान है। "अहंत्वेन ज्ञानेन या उपासना परं ब्रह्माणं प्राप्नोति सा अहंग्रहोपासना" जिस उपासना में अहंत्व विज्ञान के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति हो जाय वही "अहंग्रहोपसना" नाम से कहा जाता है। अब मूल के श्रुति मन्त्र के अर्थ से इसका अर्थ और सुस्पष्ट हो जायगा—"**त्वं वा अहमस्मि** = जो तुम हो वही मैं हूँ। **भगवो देवते अहं वै त्वमसि** = हे ऐश्वर्यवान् देवता! जो मैं हूँ वही तुम हो। **तद्योहं सोसौ** = इसलिए जो मैं हूँ वही वह भी है। **योसौ सोहम्** = और जो वह है वही मैं भी हूँ। इसी प्रकार अहंग्रहोपासना में धारणा को सिद्ध किया जाता है।

व्याख्या–इस शरीर में बहत्तर हजार नाडियाँ हैं। जिसमें दश नाडियाँ मुख्य हैं, जो दश प्राणों को वहन करती है और जिससे शरीर का संचालन सुस्थिर होता है। वे दश नाडियाँ–इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शखिनी हैं। इसी प्रकार दशप्राण भी हैं। प्राण का अर्थ वायु होता है। वे दशप्राण हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय हैं। अब दश नाड़ियों एवं प्राणों की स्थिति को लिखते हैं—"एते दशवायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति ॥१२॥ (शाण्डिल्योपनि. १/४)

ये दश प्रकार के वायु सभी नाडियों में संचरण करते हैं। जिसमें प्राणवायु—"कण्ठनाभिपादाङ्गुष्ठद्वय-कुण्डल्यधश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः चरति ॥" प्राणवायु-कण्ठ, नाभि, पादाङ्गुष्ठद्वय तथा कुण्डली के अधोभाग

प्राणोऽपानः समान उदानो व्यानो नागः
कूर्मः कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
नाडीचक्रं नाभेरधस्तात् यज्ज्ञाज्ज्ञायते हरिः ।। (अग्नि पु. २२३)

प्राणस्तु प्रथमो वायुर्दशानामपि प्रभुः ।
प्रयाणं कुरुते यस्मा; तस्मात्प्राण प्रकीर्तितः ।।
अधोनयत्यपानश्च, मूत्रशुक्रवहो वायुः ।
पीतभक्षितमाघ्रातं, रक्तपित्तकफानिलम् ।
समुन्नयति गात्रेषु, समानो नाम मारुतः ।
स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं, नेत्ररागप्रकोपनम् ।
उद्वेजयति मर्माणि, उदानः........ ।।

तथा ऊर्ध्वभाग में संचरण करता है। व्यानवायु–"श्रोत्राक्षिकटिगुल्मघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति ॥" कान, आँख, कटिप्रदेश, गुल्म, घ्राण एवं गला आदि देशों में संचार करती है। अपानवायु—"गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजङ्घानाभिगुदाङ्गारेषु अपानः संचरति।" गुदा, मेढ्र, उरु, जानु, उदर, वृषण, कटि, जङ्घा, नाभि और गुददेश में, जठराग्नि में संचरण करता है। उदानवायु—"सर्वसन्धिस्थउदानः।" शरीर के सभी सन्धियों में उदान संचरण करती है। समानवायु–"पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः।" पैर, हाथ में और शरीर के सभी अङ्गों में समानवायु सर्वव्यापी होकर संचरण करता है। इसी प्रकार–"उद्गारादि नाग कर्म।" उद्गार आदि नागवायु का कर्म है। "निमीलनादि कूर्म कर्म।" आँख के पलक का उन्मीलन-निमीलन आदि कर्म कूर्म वायु का कार्य है। "क्षुत्करणं कृकरकर्म।" क्षुत्कारकर्म कृकरवायु का कार्य है। "तन्द्रा देवदत्तकर्म।" आलस्यादि उत्पन्न करना देवदत्तवायु का कार्य है और "श्लेष्मादि धनञ्जय कर्म" (शाण्डिल्योपनि. १/४/१३)

श्लेष्मादि उत्सर्जन करना धनञ्जयवायु का कर्म है। जो इस प्रकार जो नाभि के अधोभाग में स्थित नाड़ीचक्र का ज्ञान सम्यग्तया प्राप्त कर लेता है उसे भगवान् हरि का बोध हो जाता है। (अग्नि पु. २२३)

इससे पूर्व जो दशवायु के नाम कहे गये हैं, उनमें प्रथम वायु जो प्राणवायु है, को दशो वायु का स्वामी कहा जाता है। यह प्राणवायु रिक्तता की पूर्ति और सम्पूर्ण प्राणों को प्राणयन (प्राणवान्) करने के कारण प्राण कहाता है। यह निखिल प्राणियों के हृदयदेश में स्थित है अपान वायु मल-मूत्रादि त्यागकर्म को संचालित करता है। यह शुक्र, मलमूत्र को प्रयाण (अधोभाग की ओर) करता है, इसलिए इसे अपान कहा गया है। समानवायु मानव द्वारा खाये-पीये गये अन्न-पान तथा सूँघे हुए पदार्थ, रक्त-कफ पित्त एव वात को सारे अङ्गों में समानरूप से पहुँचाता है। इसलिए इसे समानवायु कहते हैं। उदान वायु मुँह एवं अधरों को स्फुरित (स्पन्दित) करता है और क्रोधकाल में नेत्रों की

व्यानो विनामयत्यङ्गं, व्यापनाद्व्याधिकोपनात्
उद्गारे नागः, कूर्म उन्मीलने मतः,
कृकरो भक्षणे, देवदत्तो विजृम्भिते ।
धनञ्जयः स्थितो घोषे, मृतस्यापि ।।
जीवः प्रयाति दशधा नाडीचक्रं तेन तत् ।
संक्रान्ति विषुवं चैव, अहोरात्रायनानि च
अधिमासः ऋणं चैव, ऊनरात्रं धनं तथा
ऊनरात्रं भवेद् हिक्का, अधिमासो विजृम्भिका ।
ऋणं-कासः निश्वासो धनमुच्यते
उत्तरं दक्षिणं ज्ञेयं, वामं दक्षिणमेव च ।
मध्ये तु विषुवं प्रोक्तं,
संकान्तिः स्वस्थानात्स्थान योगतः ।
ऊर्ध्वं प्राणो अहः स्मृतः ।
अपानो रात्रिरेवं स्यादेकोवायुर्दशात्मकः ।
व्यायामो देहमध्यस्थश्चन्द्रग्रहणम् ।
देहातितत्त्वमायाममादित्य ग्रहणं मतम् ।। (अग्निपु. २१४)

अरुणिमा को बढ़ाता है तथा मर्मस्थान को उद्विग्न करता है इसलिए इसका नाम उदान कहा गया है। व्यान वायु व्याधि उत्पन्न होने पर उक्तकाल में शरीर के अङ्गों को शिथिल करता है। व्यापनशील स्वभाव तथा व्याधि को कुपित करने के कारण इसे व्यान नाम से कहा जाता है। नागवायु उद्गार अर्थात् डकार, वमन आदि कार्य तथा कूर्मवायु नयनों के उन्मीलनादि कार्य करता है। कृकरवायु भक्षण में और देवदत्तवायु जृम्भण (जम्हाई) में अधिष्ठित रहता है। धनञ्जय पवन का स्थान घोष में है और मृत्यु के अनन्तर भी शरीर में वह उपस्थित रहता है।

इन दसों के द्वारा जीव प्रयाण करता है, अतः इसे नाड़ीचक्र कहते हैं। संक्रान्ति, विपु, दिन, रात, अयन, अधिमास, ऋण, ऊनरात्र तथा धन आकाश में सूर्य की गति से होनेवाली ये दशाएँ शरीरान्तर्गत भी होते हैं। शरीर में हिक्का (हिचकी) को ऊनरात्र, विजृम्भण (जम्हाई) को आधिमास, कास (खाँसी) को ऋण और निश्वास को धन कहा जाता है। शरीरगत जो वामनाड़ी है उसे 'उत्तरायण' एवं दक्षिण नाड़ी को 'दक्षिणायन' कहते हैं। वामनाड़ी और दक्षिण नाड़ी के मध्य छिन्द्र से निर्गत वायु को (श्वास) को 'विषुव' कहते हैं। इसी विषुव वायु के अपने स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त करनेवाली गति को

अजपानाम गायत्री ब्रह्मविष्णु महेश्वरी
अरुणकिरणजालै रञ्जिता सावकाशा,
विधृत जपवटीका पुस्काभीतिहस्ता ।
इतर कर वराढ्या फुल्लकल्हारसंस्था,
निवसतु हृदि वाला, नित्यकल्याणशीला ।। (मन्त्रकोषः)

पुरुषलक्षणम् सामुद्रिकम्

गर्गायोक्तं समुद्रेण ।

१. एकाधिकः—धर्मार्थकामेषु धर्माधिकः ।
२. द्विशुक्लः—नेत्र दन्तयोः ।
३. त्रिगम्भीरः—श्रवो नाभिः सत्त्वम् ।
४. त्रित्रिकः—अनसूयादयाक्षान्तिमङ्गलाचारयुक्तता
शौचमस्पृहाऽकार्यण्यमनायासः शौर्यता ।
५. त्रिप्रलम्बः—वृषणेभुजयोः

'संक्रान्ति' कहते हैं। उर्ध्वगतिवाला प्राणवायु को दिन तथा अधोगतिवाला अपानवायु को रात्रि कहा गया है। देह के भीतर में प्राणवायु के आयाम (वृद्धि) के 'चन्दग्रहण' कहते है तथा वही प्राणवायु देह के ऊपर (मस्तक) तक जब बढ़ता है तो उसे 'सूर्यग्रहण' कहा जाता है। (अग्नि पु.अ. २१४)

व्याख्या—अपजा नामक गायत्री ब्रह्मा-विष्णु और महेश्वर की भी ईश्वरी है। अब गायत्री के ध्यान को लिखते हैं—जो भगवती आकाश में स्थित अरुण (रक्त) किरण समूह से रञ्जित (सुशोभित) हो रही है और जो हाथ में जपमालिका, पुस्तक तथा अभय मुद्रा धारण की हुई है एवं इतर कर दाहिने हाथ में वरमुद्रा धारण की हुई है तथा जो प्रफुल्ल (खिले हुए) कमल पुष्प पर आसन लगायी हुई है, ऐसी नित्य कल्याण प्रदान करनेवाली भगवती वाला मेरे हृदय में वास करे। (मन्त्रकोष)

व्याख्या—समुद्र ऋषि ने महात्मा गर्ग ऋषि को सामुद्रिक रहस्य का उपदेश किया था। शरीरादि में घटित लक्षण विज्ञान का नाम सामुद्रिक रहस्य या सामुद्रिक विज्ञान कहा जाता हैं। यहाँ पुरुषों के लक्षण को कहा जा रहा है—(१) धर्म अर्थ एवं काम आदि चतुर्विध पुरुषार्थों में धर्म में अधिक आदरवाला पुरुष 'एकाधिक' कहलाता है। (२) नेत्र तथा दन्तपङ्क्ति से शोभायुत पुरुष 'द्विशुक्ल' कहलाता है। (३) जिस पुरुष के श्रवण, नाभि एवं सत्त्व तीनों गम्भीर हों वे 'त्रिगम्भीर' होता है। (४) जिस पुरुष में अनसूया, दया, क्षमा, सदाचरण, शौच, स्पृहा, औदार्य अनायास (कठिन परिश्रम का सामर्थ्य) तथा शूरता गुण होते हैं वे 'त्रित्रिक पुरुष कहा जाता है। (५) जिस पुरुष के वृषण (जननेन्द्रिय-

६. त्रिभिर्व्याप्नोति—दिग्देशजातिवर्गान्—तेजसा यशसा श्रिया ।
७. त्रिवलीमान्—उदरे वलयस्त्रिस्त्रः ।
८. त्रिविनतः—देवद्विजगुरूणां प्रणतः ।
९. त्रिकालज्ञः—धर्मार्थकामकालज्ञः ।
१०. त्रिषु विपुलः—उरो ललाटं वक्त्रञ्च ।
११. चतुर्लेखः—द्वौ पाणी द्वौ पादौ ध्वजक्षत्रादियुतौ ।
१२. चतुःसमः—अङ्गुल्यो हृदयं पृष्ठं कटिः ।
१३. चतुष्किष्कुः—षण्णनवत्यङ्गुल्युत्सेधः ।
१४. चतुर्दंष्ट्रः—दन्ताश्चतस्त्रश्चन्द्रमाः ।
१५. चतुःकृष्णः—नेत्रतारौ भ्रुवौ श्मश्रुः केशाः ।
१६. चतुर्गन्धः—नासायां वदने स्वेदे कक्षयोः ।
१७. चतुर्ह्रस्वः—लिङ्गं ग्रीवा जङ्घे ।
१८. पञ्चसूक्ष्मः—अङ्गुलिपर्वाणि नख-केशद्विजस्त्वचः ।
१९. पञ्चदीर्घः—हनू नेत्रे ललाटे नासा स्तनान्तरम् ।

लिङ्ग) तथा दोनों भुजाएँ लम्बी हो वे 'त्रिप्रलम्ब' पुरुष कहा जाता है। (६) जो पुरुष स्वकीय तेज, यश, तथा कान्ति से देश, जाति, वर्ग एवं दशों दिशाओं को व्याप्त कर लेता है, उसे 'त्रिव्यापी' पुरुष कहते हैं। (७) जिसके उदर प्रदेश में त्रिवली (तीन रेखाएँ) हो, वे 'त्रिवलीमान्' पुरुष हैं। (८) जो पुरुष देवता, ब्राह्मण एवं गुरुजनों में सदा आदर भाव से उनके प्रति प्रणतिभाव (विनीत) रखता है, वह 'त्रिविनत' पुरुष कहलाता है। (९) धर्म-अर्थ एवं काम के व्यवहार के सम्बन्ध में जो उसके उचित शास्त्रानुमोदितकाल है, को जानता है वह 'त्रिकालज्ञ' पुरुष कहलाता है। (१०) जिस पुरुष का वक्षस्थल, ललाट एवं मुख विपुल हो, वह पुरुष 'त्रिविपुल' कहलाता है। (११) जिसके दोनों हाथों एवं दोनों पैरों में ध्वज-छत्र आदि चिह्न हो; वे पुरुष 'चतुर्लेख' कहे जाते हैं। (१२) जिनके अङ्गुलि, हृदय, पृष्ठ एवं कटि प्रशस्त रूप से समान हों, वे "चतुःसम्" कहलाते हैं। (१३) जिस पुरुष की ऊँचाई छानवे अङ्गुलि की हो, वे 'चतुष्किष्कु' कहे जाते हैं। (१४) जिसकी आगे के चारो दाँत चन्द्रमा के तुल्य धवल हो वे 'चतुर्दंष्ट्र' कहलाता है। (१५) "चतुःकृष्ण" पुरुष कहे जानेवाले पुरुष के दोनों नयनतारक, भ्रूयुगल, श्मश्रु एवं केश कृष्णवर्ण के होते हैं। (१६) 'चतुर्गन्ध' कहलाने वाले पुरुष के नासिका, मुख एवं कक्ष युगल के स्वेद (पसीने) में सुन्दर गन्ध होते हैं। (१७) जिसके लिङ्ग, ग्रीवा एवं जङ्घा युगल ह्रस्व होते हैं, वे 'चतुह्रस्व' होता हैं। (१८) जिस पुरुष के अङ्गुलिपूर्व, नख, केश दन्त तथा त्वचा

२०. षडुन्नतः—वक्षः कक्षौ नखा नासा वक्त्रं कृकाटिका।
२१. अष्टवंशः—जान्वोर्वो पृष्ठवंशौ करनासयोः।
२२. सप्तस्नेहः—नेत्रे नासापुटौ कर्णौ मेढ्रं पायुमुखे अमलम् नव।
२३. दशपद्मः—जिह्वोष्ठे तालु नेत्रे पादौ नखाः शिश्नाग्रवक्त्रम्।
२४. दशव्यूहः—पाणिपादं मुखं ग्रीवा श्रवणे हृदयं शिरः।
ललाटमुदरं पृष्ठं वृहतः।
२५. न्यग्रोधपरिमण्डलः—प्रसारितभुजस्योछ्रायस्य समम्।
२६. चतुर्दश समद्वन्द्वः—पादौ गुल्फौ शिफचौ पार्श्वौ वङ्क्षणौ वृषणौ कुचौ।
कर्णौष्ठे सक्थिनी जङ्घे हस्तौ बाहू अक्षिणी।।
२७. षोडशाक्षः—विद्या चतुर्दशद्वक्षीः पश्येद्यः।
२८. धन्यस्य—मधुरावाणी गति र्मत्तेभ सन्निभा।
२९. रुक्षं सिरा ततं गात्र; मशुभं मांसवर्जितम्।। (अग्नि पु. २४३)

सूक्ष्म हों, वे 'पञ्चसूक्ष्म' तथा (१९) जिसके हनु, दोनों नेत्र, ललाट, नासिका एवं वक्षस्थल विशाल हों, वे 'पञ्चदीर्घ' कहलाते हैं। (२०) वक्षःस्थल, कक्ष, नख समुदाय, नासिका, मुख एवं कृकाटिका (कण्ठ की घण्टी) ये छः अङ्ग जिनके उन्नत हों, वे 'षडुन्नत' कहे जाते हैं। (२१) जिनके जानुद्वय, जङ्घाद्वय, पृष्ठवंश, हस्तद्वय एवं नासिका सुन्दर और सुगठित बन्धवाला हों वे 'अष्टवंश' कहे जाते हैं। (२२) जिनके दोनों नेत्र, दोनों नासापुट, दोनों कान, गेढ़ एवं पायुमुख ये नौ अङ्ग सुन्दर-निर्मल हों, वे 'सप्तस्निग्ध' पुरुष कहे जाते हैं। (२३) जिनके जिह्वा, ओष्ठ, तालु, नेत्र, हाथ, पैर, नख, शिश्नाग्र एवं मुख कमल के सदृश प्रशस्त कान्ति युक्त हों, वे पुरुष 'दसपद्म' कहे गये हैं। (२४) जिस पुरुष के पाणि (हाथ), पाद (पैर), मुख, ग्रीवा, दोनों कान, हृदय, शिर, ललाट, उदर और पृष्ठभाग ये दस अङ्ग विस्तृत हों वे "दशव्यूह" कहलाते हैं। (२५) जिस पुरुष की ऊँचाई भुजाओं को फैलाने पर दोनों मध्यमा अङ्गुलि के मध्यान्तर परिमाण का हो, वे 'न्यग्रोधपरिमण्डल' पुरुष कहलाते हैं। (२६) जिनके दोनों चरण, दोनों गुल्फ, दोनों नितम्ब, दोनों पार्श्व, दोनों वङ्क्षाण, दोनों वृषण, दोनों स्तन, दोनों कर्ण, दोनों ओष्ठ, दोनों जङ्घा, दोनों हस्त, दोनों बाहु, और दोनों नेत्र—ये अङ्गयुग्म समान हो, वे पुरुष 'चतुर्दशसमद्वन्द्व' होते हैं। (२७) जो पुरुष चौदह विद्याओं और दो नेत्रों से देखता है, वह 'षोडशाक्ष' कहा जाता है। (२८) जिसकी वाणी मधुर और चाल (गति) मतवाले हाथी के समान होती है, वह 'धन्य' पुरुष हैं। (२९) जिस पुरुष के शरीर रुक्ष, शरीर की शिराएँ लम्बी-लम्बी दिखाई देती हो और शरीर में मांस की कमी हो वह "अशुभपुरुष" कहलाता है। (अग्नि पु.अ. २४३)

वेद स्वीकरणं पूर्वं, विचारोऽभ्यसनं जपः ।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो, वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ।। (दक्षस्मृ. २)
''प्रणवं तु प्लुतं कुर्यात्'' (याज्ञवल्क्य शिक्षा १/१७)

ब्रह्मविष्णुरुद्रसर्वेश्वरात्मिकामूर्तयः ।
राजसस्थूलविराड्रूपं, सात्त्विकं सूक्ष्मं रूपं, तामसं सौषुप्ताज्ञानरूपं,

---

व्याख्या—वेद मन्त्र के अभ्यास की पाँच विधियाँ होती हैं—(१) सर्व प्रथम गुरुमुख से उच्चारण श्रवण करके उसी रूप में उच्चारण करना। (२) गुरुमुख-स्वमुख उच्चारण भेद (विसंगति) को विचार पूर्वक सुधारना। (३) विचारित शुद्धपारायण पाठ का बार-बार अभ्यास करना। (४) अभ्यसित मन्त्र का निरन्तर चिन्तन करना। (५) अभ्यस्तवेद मन्त्र को शिष्यों को (दान देना) अभ्यास कराना। इस प्रकार वेदाध्ययन में वेदमन्त्र के अभ्यास के पाँच भेद हैं। अमृत नादोपनिषद में अभ्यास का फल इस प्रकार कहा है—

अनेन विधिना सम्यङ्, नित्यमभ्यस्यते क्रमात् ।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं, त्रिभिमासैर्न संशयः ।।२८।।
चतुर्भिः पश्यते देवान्, पञ्चभिर्विततः क्रमः ।
इच्छयाप्नोति कैवल्यं, षष्ठे मासि न संशयः ।।२९।।

जप लक्षण इस प्रकार दर्शनोपनिषद में कहा है—

वेदोक्तेनैव मार्गेण, मन्त्राभ्यास्तो जप स्मृतः ।
कल्पसूत्रे यथा वेदे, धर्मशास्त्रे पुराणके ।। (३/१२)
उच्चै र्जपः सर्वेषां, यथोक्तफलदो भवेत् ।
नीचैः श्रोत्रेण चेन्मन्त्रः, श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् ।। (३/१६)

शाण्डिल्योपनिषद् में जप का लक्षण इस प्रकार कहा है—''जपो नाम विधिवद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्ध-मन्त्राभ्यासः।'' (१/१०) विधिवत् गुरुमुख से उच्चरित (उपदिष्ट) मन्त्र को वेदानुकूल विधि पूर्वक अभ्यास करना जप कहलाता है। मूल में कहा है कि प्रणव मन्त्र ''ॐ'' का उच्चारण प्लुत (उच्चस्वर) में करना चाहिये यही विधि है। (याज्ञवल्क्य शिक्षा)

व्याख्या—भगवान् शिव की मूर्ति (शरीर) ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र और सर्वेश्वरात्मक होता है। शिव के राजसरूप स्थूल विराट् रूप है। सात्त्विकरूप सूक्ष्म स्वरूप है। तामसरूप सुषुप्तिकालिक अज्ञान रूप है। उन मूर्तियों में सदात्मक विश्व वैश्वानररूप-सर्वसृष्टि कर्ता ब्रह्मा रूप है। चिदात्मक तेजस सूत्रात्मा रूप से वे सम्पूर्ण जगत्पालक विष्णु स्वरूप हैं। आनन्दात्मक प्राज्ञेश्वर रूप से वे सर्वसृष्टि संहर्ता रुद्र हैं और सच्चिदानन्दरूप से तथा सर्वेश्वररूप से सर्वत्र स्थित होते हैं। वे अकार स्वरूप ब्रह्मस्वरूप हैं जो

तेषु—सदात्मक विश्व वैश्वानररूप सर्वसृष्टि कर्तृब्रह्मा। चिदात्मकतैजस सूत्ररूपसर्वपालको विष्णुः। आनन्दात्मकः प्राज्ञेश्वररूपः संहर्ता रुद्रः। सच्चिदानन्दरूपेण सर्वेश्वरस्तिष्ठति॥ अकारं ब्रह्माणं नाभौ, उकारं विष्णुं हृदये, मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये, 'ॐकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते' इति श्रुतिः॥ (शिवसहस्रनामटी.)

स्वरित चिह्नम्—

ऊर्ध्वरेखावर्णस्य मूर्ध्नि (नां॑त्वा)

अनुदातस्य चिह्नम्—तिर्यग्रेखाऽधः (ग॒)

उदात्तम्—रेखया हीनं च स्याच्चेत्स्वरितात्परम्। (येन)

स्वरितादुत्तरं प्रचयम्—(नां॑त्वा.)

नाभि देश में विराजमान रहते हैं। उकार वर्णात्मक विष्णुस्वरूप से हृदयदेश में स्थित रहते है और मकारवर्णात्मक रुद्रस्वरूप से भ्रूमध्य में स्थित हैं। इसी प्रकार ॐकार स्वरूप सर्वेश्वर द्वादशमात्रान्तः स्वरूप है। कहा है कि—

कुर्मोङ्गानीव संहत्य, मनो हृदि निरुध्य च।
मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः।।३।। (क्षुरिकोपनिषद्)

(श्रुति सिद्धकालरूपमात्राद्वादशयोगेन चतुर्मात्रप्रणवेन शनैः शनैः)

(इति क्षुरिकोपनिषद् टीकायाम्) अथवा जाग्रदादि अवस्थात्रय, स्थूलादि देहत्रय, सात्त्विकादिगुणत्रय, भूतादिकालत्रयातीत स्वरूप हैं। (श्रुति की टीका)

व्याख्या—यहाँ यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा के उच्चारणपूर्वक स्वर (हस्त संचालन) सम्बन्धी नियम याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार दिये जा रहे हैं। इसे स्वर विज्ञान कहते हैं। स्वर विज्ञान का भारतीय शारीरिक विज्ञान से गहण सम्बन्ध रहा है। स्वर शब्द के विभिन्न अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। अमरकोश प्रथम काण्ड में "स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः। सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीवे त्रिविष्टपम्" ॥६॥

स्वर वाचक स्वर्ग है। व्याकरण में 'स्वर्' धातु चुरादिक उभयपदी सकर्मक है। जिसका अर्थ—दोष निकालना, भर्त्सना करना आदि में प्रयुक्त है। यथा—स्वरति। पुनश्च 'स्वृ' धातु 'शब्दोपतापे रोगे च" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ—व्यञ्जन भिन्न वर्ण जो अन्य में मिश्रित न होकर स्वयं में उच्चारित होनेवाले—'अ, इ, उ आदि का वाचक है। इसी प्रकार यह स्वर शब्द ध्वनि, काकु, शोर एवं संगीत

एकस्वरम्–उभयक्षेपः–÷ । तर्जनी क्षेपिका–⸗
कनिष्ठ्य क्षेपिणी–꣸ ।
रङ्गम्–हाँ २।।, विवृतिः–स्वरयोर्मध्ये–"नाभ्याऽआसीत्"
लघ्वनुसार विन्दुः–यजुꣳषि ।
संयोगादौ गुरुः–तपू ꣴ प्यग्ने. ।
दीर्घानुसार विन्दुः–कि ꣳ शिला. । (याज्ञवल्क्य शि.टी.)

के सात स्वरों के वाचक भी हैं, यथा–"स्वरः श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः सप्त षड्जर्षभगान्धार मध्यमाः । पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते" ।। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यमा, धैवत, निषाद आदि । स्वर के तीन स्वरूप (भेद) हैं—"अकार उकारो मकारश्चेति त्रयोवर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वराः एवं प्रणवः प्रकाशते । अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु । उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ।।७४।। (योगचूड़ामणि उपनिषद्) ।। ओङ्कार प्रभवा देवा ओङ्कारप्रभवाः स्वराः । ओकार प्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।।१६।। ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः सम्पत्प्रदोऽव्ययः । अर्धमात्रा समायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ।।१७।। (ध्यानविन्दु उपनिषद्) उन ओङ्कार ब्रह्म से ही स्वर की उत्पत्ति हुई है। इसलिए स्वर भी ब्रह्म स्वरूप ही है। स्वर के ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद का भी अभिप्राय परमात्मा के बोध कराने में ही है। शिवस्वरोदय के स्वर माहात्म्य प्रसंग में कहा है—स्वरे च सर्वं त्रैलोक्यं, स्वरमात्मस्वरूपकम् ।।१६।। स्वर के अधीन ही वेद-शास्त्र तथा गान्धर्वशास्त्र (संगीतविद्या) है। इतना ही नहीं स्वर साक्षात् आत्मस्वरूप है और स्वर के ही अधीन तीनों लोक है। (शिव स्वरोदये)

स्वरहीनस्तु दैवज्ञो नाथहीनं यथा गृहम् ।
शास्त्र हीनं यथा वक्त्रं, शिरोहीनं च यद्वपुः ।।१७।। (शिवस्वरोदये)

स्वर के ज्ञान से रहित दैवज्ञ, अभिभावक (मालिक) के विना घर, शास्त्र के ज्ञान विज्ञान से रहित मुख तथा मस्तक विहीन शरीर किसी काम के नहीं होते। अतः स्वर का महत्त्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जीवनोपयोगी और फलदायी है। इसलिए कि—

स्वरज्ञानात् परं गुह्यं स्वरज्ञानात्परं धनम् ।
स्वरज्ञानात्परं ज्ञानं, न वा दृष्टं न वा श्रुतम् ।।२१।।
सर्वशास्त्रपुराणादि स्मृतिवेदाङ्गपूर्वकम् ।
स्वरज्ञानात्परतरं तत्त्वं नास्ति किञ्चिद्वरानने ।।२२।। (शिवस्वरोदये)

भगवान् शिव का जगदम्बा पार्वति के प्रति स्वयं का कथन है कि स्वर के ज्ञान से बढ़कर गुह्य (गुप्त) कुछ नहीं है। स्वर धन से बढ़कर कोई धन नहीं है। स्वर से उत्तम कोई ज्ञान हमने न देखा है और न सुना है। सभी वेद, वेदाङ्ग, पुराण, स्मृतियाँ आदि जितने भी विद्या के स्थान है वे स्वर स्वरूप हैं और हे वरानने (सुन्दर आँखों वाली) पार्वति ! स्वरज्ञान से उत्तम कोई तत्त्व इस जगतीतल में नहीं है।

योग मार्ग में भी स्वर के आश्रय से परमात्म सिद्धि का लाभ प्राप्त किया जाता है—

स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत् परम्।
अस्वरेणानुभावेन, नाभावो भाव ईप्यते ।।८।। (अमृतविन्दूपनिषत्)

ये व्यवहृत पद-वाक्यादि प्रयोग अकारादि स्वर से ही उत्पन्न और विस्तार पाकर भाषा वृक्ष बन जाता है और उसी से वृहद् साहित्य रूप फल प्राप्त होते है, जिसके स्वाद मधुर होते हैं—

शाखापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात् ।।५।।
अकारादिक्षरान्तान्यक्षराणि समीरयेत् ।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदोभ्योवाक्यसंभवः ।।६।।
सर्वेवाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः ।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ।।७।।
सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः ।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया ।।८।।

(योगशिखोपनिषद् अ. २)

ये सरस्वती देवी वृक्ष में शाखा पल्लव की भाँति विस्तार को प्राप्त होती है। अकार वर्ण (स्वर) से लेकर क्षकार वर्ण पर्यन्त जो वर्णमाला है वे तालु आदि स्थान से संघटित होकर उत्पन्न होते हैं। फिर अक्षर से पद, पद से वाक्य बनते हैं। यहाँ यह भी वाच्य (कथ्य) है कि सभी प्रकार के मन्त्र, वेद, शास्त्र, पुराण, काव्य तथा विविध प्रकार की भाषा, सातों प्रकार के स्वर, गाथा ग्रन्थ ये नाद (स्वर) से ही उत्पन्न होते हैं, और ये सम्पूर्ण उपरिलिखित स्वरूप भगवती सरस्वती की ही है, जो सभी जीवात्माओं के हृदय गुहा (गुफा) में निवास करती है अथवा हृदय में गुहा-बुद्धि को आश्रय करके स्थित रहती हैं। इसलिये स्वर का संधान और उसके अङ्गीकरण की आवश्यकता को जानकर परम कारुणिक महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने "याज्ञवल्क्य शिक्षा" नामक ग्रन्थ की रचना कर भाषालोक को संयमित करने की कृपा की है। अब याज्ञवल्क्य शिक्षा का नियम उधृत करते हैं—

वेद मन्त्रों के अध्ययनकाल में उसके उच्चारण को संयमित करने और उसके शुद्ध स्वरूप के बोध के लिये इस प्रकार नियम बनाये गये हैं—

(१) स्वरित स्वर चिह्न—जहाँ परवर्ग के मूर्धा (मस्तक) पर उर्ध्वरेखा हो उसे स्वरित स्वर जानना चाहिये, यथा—'नात्वा' शब्द में ना वर्ण के ऊपर 'ना' ऐसा चिह्न दिया गया हो। स्वरित स्वर के पाँच भेद है—**(क)** मध्यपाती, **(ख)** मध्यदर्शी, **(ग)** मध्यावर्ती, **(घ)** पूर्णन्युब्ज और **(ङ)** अर्धन्युब्ज। **(क) मध्यागती स्वरित**—जहाँ स्वरित स्वर का चिह्न वर्ण के मूर्ध्निस्थ खड़ी रेखा हो वहाँ हस्त स्वर मध्य में अर्थात् हृदय की सीध में जाता है, यथा—'गणानां न्त्वा' में नां वर्ण के ऊपर है। (रुद्री १/१) **(ख) मध्यदर्शी स्वरित**—स्वरित वर्ण के बाद विना किसी चिह्न के वर्ण जिसे 'प्रचय' सज्ञक कहते हैं, होते हैं और वे स्वरित के स्थान में ग्राह्य होते हैं। इसलिए इन वर्णों पर कोई चिह्न नहीं होते हैं। यथा—'गुणपति ँ हवामहे' पद में 'प' वर्ण पर स्वरित चिह्न है और उसके आगे के वर्ण तिँहवामहे पर कोई चिह्न नहीं है। अतः यह प्रचय संज्ञक मध्यदर्शी स्वरित कहलाता है। **(ग) मध्यदर्शी स्वरित**—जिस पद

के वर्ण में ऐसा ' ' चिह्न नीचे में हो अथवा संख्या वाचक '४' ऐसा चिह्न हो वह मध्यदर्शी स्वरित होता है। इस प्रकार के चिह्न से पूर्व में अनुदात्त स्वर अवश्य होता है और यहाँ हाथ का स्वर संचालन हृदय के मध्य में रहकर अनुदात्त चिह्न में भीतर की ओर घुमाया जायगा और मध्यवर्ती स्वरित चिह्न में पूरा घुमाव के साथ बाहर की ओर आयगा। यथा—'च् व्युप्तकेशय' (रुद्री ५/२९) में चिह्नित है। **(घ) पूर्णन्युब्ज स्वरित**—यह अनुदात्त वर्ण के आगे के वर्ण के नीचे में ' ' ऐसा चिह्न दिया जाता है। यहाँ पर इस प्रकार समझना चाहिये कि—यदि अनुदात्त स्वर से आगे के वर्ण के नीचे में ' ' ऐसा न्युब्ज चिह्न यहाँ इस प्रकार समझना चाहिये कि—यदि अनुदात्तस्वर से आगे के वर्ण के नीचे में ' ' न्युब्ज चिह्न हो तथा उसके आगे अचिह्न वर्ण के बाद मध्यपाती स्वरित स्वरित चिह्न '।' ऐसा हो तो न्युब्जबोधी चिह्न ' ' के स्थान में हाथ का स्वर नीचे होकर उलट जायगा। यथा—'बृहत्युःष्णिहा' (रुद्री) १/२) मन्त्र पद में 'त्यु' के नीचे दिया गया है। **(ङ) अर्धन्युब्जस्वरित**—अर्धन्युब्ज स्वरित चिह्न स्थल में जब अनुदात्त स्वर के आगे ' ' ऐसा चिह्न हो और उसके आगे अचिह्न वर्ण के बाद पुनः अनुदात्त स्वर चिह्न हो तो न्युब्जबोधी ऐसा (' ') चिह्न स्थान में हाथ का स्वर दाहिनी ओर उलटा किया जाता है। जिस प्रकार कि पिण्डदान काल में हाथ की स्थिति होती है। उदाहरण के लिए—'र्थ्यो न र्श्मीन्' मनन पद में 'र्' अनुदात्त वर्ण के बाद 'ध्यो' वर्ण के नीचे न्युब्ज चिह्न है और आगे के 'न' वर्ण के चिह्न रहित है। 'न' वर्ण और के आगे वाला वर्ण 'र्' अनुदात्त स्वर है। यहाँ पिण्डदान के समान हाथ का स्वर नीचे होकर दाहिनी ओर उलटेगा। **(२) अनुदात्तस्वर चिह्न**—यह चिह्न तिर्यग् रेखा के समान वर्ण के नीचे दिया जाता है। यथा—'गुणानान्त्वा' में 'ग्' वर्ण के नीचे दिया गया है। अनुदात्त स्वर के भी पाँच भेद हैं—(क) निम्नगामी, (ख) अन्त्यगामी, (ग) दक्षगामी, (घ) तिर्यग्दर्शी और (ङ) अन्तगामी। **(क) निम्नगामी अनुदात्त**—जब अनुदात्त, उदात्त और स्वरित इस क्रम से वर्ण होने पर निम्नगामी अनुदात्त स्वर का हस्त संचालन नीचे की ओर जायेगा। यथा—'गुणानान्त्वा' (रुद्री १/१) में आदि वर्ण गकार के नीचे चिह्न (ग्) दिया गया है। **(ख) अन्त्यगामी**—अनेक अनुदात (निम्न रेखा) हो तो अन्त में स्थित अनुदात्त रेखा पर हाथ का संचालन स्वर नीचे जायगा, अन्त्य अनुदात्त के पूर्व के अनुदात्त स्वर चिह्न पर नहीं यह ध्यान रखना चाहिये। यथा— 'बल् विज्ञाय स्थविरः' (रुद्री ३/५) मन्त्र पद स्थल में 'ब् ल् वि ज्ञा चार वर्णों में अनुदात स्वर क्रमशः एक साथ आया है। अतः अन्तिम अनुदात्त स्वर 'ज्ञा' वर्ण के नीचे लगे अनुदात्त स्वर में मात्र हस्त संचालन स्वर नीचे प्रदर्शित किया जायगा, अन्य पीछे वर्णों के साथ लगे अनुदात्त स्वर में नहीं। **(ग) दक्षगामी अनुदात्तस्वर**—जब अनुदात्त, उदात्त और अनुदात्त इस क्रम से स्वर प्रदर्शित हो तो प्रथम अनुदात्त स्वर में हस्त संचालन स्वर दाहिनी ओर जायगा। यथा—पुङ्क्त्या सुह (रुद्री १/२) में प्रथम वर्ण 'पकार' में अनुदात्त 'त्त्या' में स्वरित और सह के 'स्' वर्ण में अनुदात्त स्वर है। अतः यहाँ प्रथम अनुदात्त स्वर वर्ण 'प्' पर हस्तस्वर का प्रक्षेप दाहिनी ओर संचालित होगा। **(घ) अन्तर्गामी अनुदात्त स्वर**—जब मध्यवर्ती स्वर अर्थात् जिस स्वर के नीचे '४' अङ्क या 'L' यह चिह्न हो, से अव्यवहित पूर्व अनुदात्त स्वर हो तो यथा—'बृहत्युष्णिहा' (रुद्री १/

२) मन्त्रपद में 'त्यु' पर हाथ न्यूब्जाकार होकर दाहिनी ओर पिण्डदान की भाँति झुकेगा। मन्त्रपद में व्युप्तकेशाय पूर्व 'च्' वर्ण से अव्यवहित होने के कारण यहाँ हस्तस्वर उदर की ओर घूमेगा।

(ङ) तिर्यग्दर्शी अनुदात्तस्वर—जब अनुदात्त से परे न्युब्ज (‿) स्वर चिह्न हो तो 'अनुदात्त में पिण्डदान के समान स्वर दाहिनी ओर झुकेगा। हस्तस्वर पेट की ओर मुड़ेगा। यथा—"च् व्युप्तकेशाय" यथा—'बृहत्युष्णिहा' (रुद्री १/२) मन्त्रपद में 'त्यु' पर हाथ न्यूब्जा कार होकर दाहिनी और पिण्डदान की भाँति झूकेगा। अब स्वर वर्णोच्चारण सम्बन्धी कुछ नियम दिये जा रहे हैं—

१. स्वरित से पर रेखा से हीन वर्ण उदात्त होता है। यथा—येन।
२. स्वरित से उत्तरपद प्रचय संज्ञक होता है। यथा—नान्त्वा।
३. उभयक्षेप स्वर का चिह्न '÷' प्रकार होता है।
४. तर्जनी क्षेपिका चिह्न '≑' ऐसा होता है।
५. कनिष्ठाक्षेपी चिह्न '∻' ऐसा होता है।
६. रङ्ग का चिह्न 'हाँ २॥' अर्थात् ढ़ाई मात्रिक 'हाँ' होता है।
७. पदों या वर्णों के बीच विवृति का चिह्न 'ऽ' ऐसा होता है। यथा—'नाभ्याऽआसीत्'।
८. लघ्वनुसार विन्दु चिह्न ऐसा 'ँ' होता है। यथा—'यजूँषि'।
९. संगोग (संयुक्त) वर्ण से पूर्व लघ्वनुसार वर्ण का दीर्घ अनुसार उच्चारण होता है। यथा—'तपूँ प्यग्ने'।
१०. दीर्घ अनुसार विन्दु का चिह्न 'ठँ' ऐसा होता है। यथा—'कि ठँ शिला'।
उपर्युक्त अनुसार विन्दु का उच्चारण 'गुं' लघु और 'गूं' दीर्घ रूप में होना चाहिये।
११. 'ऋ' का उच्चारण 'रि' कार के समान होता है।
१२. विसर्ग का उच्चारण उस अन्त्य वर्ण के साथ 'ह' कार सहित होना चाहिये।
१३. जहाँ 'य' कार के पेट कटे हो अर्थात् 'ष' ऐसा हो वहाँ पर 'य' कार के स्थान पर 'ज' कार उच्चारण होता है।
१४. यदि श, ष और ह के पूर्व हल् 'र्' कार हो तो 'रे' कार उच्चारण होता है।
१५. यदि 'ट' वर्ग (ट,ठ,ड,ढ,ण) से युक्त मूधन्य 'ष'कार हो तो 'क' वर्गीय द्वितीय वर्ग 'ख' कार के समान उच्चारण होता है।
१६. 'ज्ञ' कार का उच्चारण 'ज्ञ' (ज् ञ संयुक्त वर्ण) के समान मिश्रित होना चाहिये। महाराष्ट्रियण सम्प्रदाय में 'ग्न्य' कहा जाता है जो विचारणीय है।

उपर्युक्त को ध्यान में रखकर वेदमन्त्रों के स्वर उच्चारण एवं वर्ण उच्चारण विज्ञान को संरक्षित रखने के लिए विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों को और अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। यदि वेद के उच्चारण हम संरक्षित नहीं रख सके तो उसके पारायण-पाठ निष्फल हो जायेंगे। क्योंकि—

कालिन्दी संहिता ज्ञेया, पदमुक्ता सरस्वती।
क्रमेणावर्तिता गंगा, शम्भोर्वाणी तु नान्यथा ॥ (या.शि. २/३३)
त्रिफलां लवणोपेतां, भक्षयेच्छिष्यकाः सदा।
क्षीणमेधाजनन्येषा, स्वरवर्णकरी तथा ॥ (या.शि. ३८)
स्वरिते त्र्यङ्गुलैर्विद्यात्, निषाते तु षडङ्गुलम्।
उत्थाने तु नवाङ्गुल्य; मेतत्स्वारस्य लक्षणम् ॥ (या.शि. ३/५४)

"हस्तभ्रष्टः स्वराद्भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।"
"हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति।।"
"ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यो पठेत्।
अनृचो ब्राह्मणस्तावत् यावत् स्वारं न विन्दति।।" (याज्ञवल्क्य शिक्षा टी.)

व्याख्या—वेद की संहिता का पारायण कालिन्दी (यमुना) की ध्वनि (वाणी) है ऐसा जानना चाहिये। वेद का पद पाठ का पारायण सरस्वती की साक्षात् मूर्ति है और वेद का क्रम पाठ का आवर्तन गंगा तुल्य है। वेदवाणी भगवान् शिव की साक्षात् वाणी है ऐसा जानना चाहिये, इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये। (याज्ञवल्क्य शिक्षा)

व्याख्या—वेद के उच्चारण की शुद्धि सुनिश्चित करने के लिए जो भी प्रयत्न हमारे पूर्वजों ने की है वह अहैतुकी अनुकम्पा स्वर विज्ञान की रक्षा के लिए ही है, अथवा यों कहें कि नाद (ब्रह्म) के उत्थान को संरक्षित रखने के लिए है। कोमलमानस बालस्वभाव को उस दिशा में अभिमुख करने पर उसकी ध्वनि का उच्चारण यदि सही दिशा में नहीं हो पा रही है तो उसे वेद मन्त्रों की उचित ध्वनि के उत्थान के लिए यह औषधीय विज्ञान की स्थापना की गई कि—वह वेदपाठी बटुक (शिष्य) त्रिफला को सेंधा नमक में मिश्रित कर नित्य सेवन करे। क्योंकि यह त्रिफला के साथ सेंधा नमक का सेवन क्षीण मेधावाले बालक में मेघा उत्पन्न कर देता है। इसलिए इसे (औषधिको) मेघा की जननी (माता) कहा गया है। इसके सेवन करते रहने से स्वर और वर्ण के उच्चारण के जो सही ध्वनि है वह उत्पन्न हो जाती है। (याज्ञवल्क्य शिक्षा ३८)

वेद ध्वनि में स्वारस्य को उत्पन्न करने के लिए जो भी विधियाँ ऊपर कही गयी और जो कही नहीं जा सकी है, परन्तु अन्यत्र है, उसके सम्बन्ध में कहा जा रहा है—

स्वरित स्वर में तीन अङ्गुलियों को सम्पुट करके मध्य (हृदय) देश में हाथ को रखा जाता है। यह मध्यपाती स्वरित स्वर प्रयोग में होता है। स्वरित स्वर के उच्चारण काल में हस्तस्वर जहाँ हो उससे छः अङ्गुल नीचे अनुदात्त स्वर उच्चारण काल में हस्तस्वर को रखना चाहिये। इसी प्रकार जब अनुदात्त स्वर के बाद उदात्त स्वर हो तो हस्तस्वर को अनुदात्त स्वर पर स्थित हस्तस्वर को नौ अङ्गुल ऊपर की ओर करना चाहिये। (याज्ञवल्क्य शिक्षा ३/५४)

उदात्तादनुदात्ते तु, वामाया भ्रुवमारभेत् 'सजातोऽस्य'.
उदात्तस्वरितोदात्ताः, क्रमात् दक्षिणतो न्यसेत् ॥
'इ॒षे त्वा॑'–'ऊ॒र्जे त्वा॑'।
स्वरिते चानुदात्तं च दक्षिणतो न्यसेत्। (याज्ञवल्क्य शिक्षा)

कर्मण्यकर्म यः पश्येत्– (गी. ४/१८)
कर्मणि–भगवदाराधनात्मके।
अकर्म–प्रत्यवायानापादकम्।
अकर्मणि–विहिताकरणे
कर्म–प्रत्यवायात्मकं बन्धकम्। (तत्त्वप्र. निम्बा)

यदि उदात्तस्वर के बाद अनुदात्तस्वर चिह्न हो तो उस समय हस्तस्वर प्रारम्भ में वाम भौंह के पास होगा और वाम भौंह से हस्तस्वर नीचे की ओर आयगा। यथा—'सजा॒तोऽस्य.' स्थल में होता है। यदि उदात्तस्वर के बाद स्वरितस्वर और पुनः उदात्तस्वर क्रम से हो तो हस्तस्वर प्रारम्भ में दाहिनी ओर रहेगा।

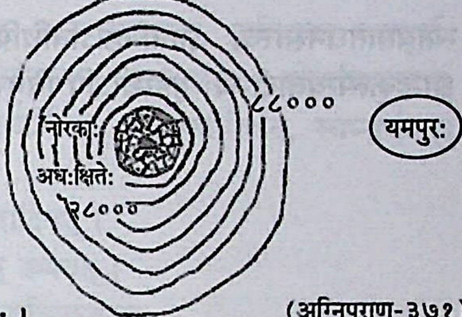
यदि स्वरित स्वर के बाद में अनुदात्त स्वर हो तो प्रथम में हस्तस्वर दाहिनी ओर जायगा। (या.शि.)

व्याख्या–यहाँ पर श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय चार के अन्तर्गत—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म चः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

श्लोक की निम्बार्कमतालम्बी "तत्त्वप्रकाशिनी" व्याख्या के अनुसार अर्थ प्रकट किया जा रहा है—'कर्मणि' पद का अर्थ है—भगवत् आराधनरूप कर्म में जो दृष्टि रखता हो अर्थात् जो साधक भक्त आनन्दकन्द भगवान् की आराधना रूप कर्म को जानता हो और तदनुकूल आराधना भी करता हो वही कर्म में दृष्टि रखनेवाले द्रष्टा हैं। 'अकर्म' शब्द का अर्थ है—जिस कर्म के करने से प्रत्यवाय (पाप) न हो वह 'अकर्म' है। जो साधक भक्त सकल कर्म आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए सेवकभाव मात्र से करता है उसे प्रत्यवाय नहीं लगता। इससे भिन्न अभिप्राय से किये गये कर्म में कर्तृत्वादि अभिमानपूर्वक किये जाने के कारण वह प्रत्यवायजनक कर्म होता है।

'अकर्मणि' शब्द की व्याख्या में कहते हैं कि—जो कर्म वेद-शास्त्र-स्मृति के अनुकूल न हो वह भी कर्म नहीं है अर्थात् अकर्म है, उस अकर्म (अकर्तव्य) को जो पूर्णरूप से जानता है। वही 'अकर्मणि' अकर्म में दृष्टि रखनेवाला, उसे जाननेवाला है। क्योंकि कर्तृत्वाभिमान सहकृत कर्म प्रत्यवायात्मक होने के कारण जागतिक सुख-दुःख रूप भोग जनक होने के कारण वह कर्म बन्धक होता है।



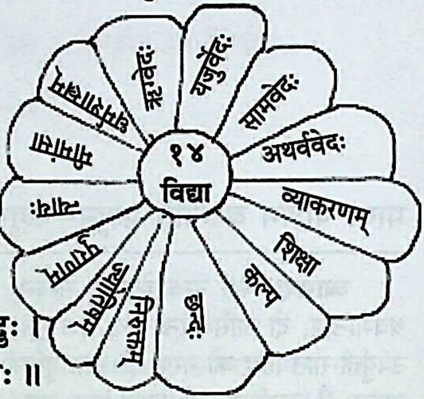
माया पाशेन बध्नाति पशून्–पशुपतिः ।

(अग्निपुराण-३७१)

व्याख्या–यहाँ नरकलोक के सम्बन्ध में कहा जा रहा है—मनुष्य के शरीर में-दो आँखें, दो श्रवणेन्द्रिय, दो नासिकारन्ध्र तथा एक मुख ये सात छिद्र हैं। इसके अलावा एक ब्रह्मरन्ध्र भी है। ये उपर्युक्त सात छिद्र को नरक की सात पुरियाँ मानना चाहिये। छिद्र शब्द-पाप-दोष और बिल शब्द का वाचक है, इसलिये यहाँ उद्धार्थ दिया गया। मृत्यु के उपरान्त पञ्चतत्त्व से निर्मित यह भौतिक देह अपने कारणतत्त्व आकाश, वायु और तेज तीन ऊपर के तत्त्वों और जल एवं पृथिवी इन दो अधः के तत्त्व में मिल जाते हैं। पापी जीवात्मा अतिवाहिक शरीर धारण कर पृथ्वी के नीचे जो नरक की अठाइस श्रेणियाँ है को प्राप्त कर सातवें तल के नीचे (१) घोरा, (२) सुघोरा, (३) अतिघोरा, (४) महाघोरा, (५) घोररूपा, (६) तरलतारा, (७) भयानका, (८) भयोत्कटा, (९) कालरात्रि, (१०) महाचण्डा, (११) चण्डा, (१२) कोलाहला, (१३) प्रचण्डा (१४) पद्मा, (१५) नरकनायिका, (१६) पद्मावती, (१७) भीषण, (१८) भीमा, (१९) करालिका, (२०) विकराल, (२१) महावज्रा, (२२) त्रिकोणा, (२३) पञ्चकोणिका, (२४) सुदीर्घा, (२५) वर्तुला, (२६) सप्तभूमा, (२७) सुभूमिका और (२८) दीप्तमाया आदि विभिन्न कोटि के नरक को यथा कर्मक्रमानुसार प्राप्त होता है। उन अठाईस कोटि के नरकों के प्रत्येक के पाँच-पाँच नायक हैं और जो पुर है, उनके भी पाँच-पाँच नायक हैं, जो रौरवादि नरकों के नाम से जाने जाते हैं। उन रौरवादि नरकों के नाम—(१) तामिस्र, (२) अन्धतामिस्र, (३) महारौरव, (४) रौरव, (५) असिपत्रवन, (६) लोहभार, (७) कालसूत्रनरक, (८) महानरक, (९) सञ्जीवन, (१०) महावीचि, (११) तपन, (१२) संप्रतापन, (१३) संघात, (१४) काकोल, (१५) कुड्मल, (१६) पूतमृत्युक, (१७) लोहशङ्कु, (१८) ऋजीष, (१९) प्रधान, (२०) शाल्मलीवृक्ष और वैतरणीनदी हैं, जबकि इन्हें कोटि नायक कहते हैं। पापी जीवात्मा को इन नरक कोटियों में एक-एक या यथा कर्मानुसार उनमें डालकर भयंकर यातना दी जाती है। यातना देनेवाले यमदूतों के मुखाकार–विलाव, उल्लू, गीदड़, गृध (गीध) के समान होते हैं जैसे–किसी के विलाव, किसी के उल्लू आदि के समान होते हैं, ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार पापी मृतात्माओं को उनके कर्म के अनुसार सृजित फल के भोगों को प्राप्त कराने के लिये धर्मात्मा (धर्मराज-यमराज) ने नरकों का निर्माण कर उन्हें उन-उन पूर्वदेहकृतकर्मों के फल को प्रदान करने के लिये यथा युक्त व्यवस्था किये हैं। यह नरक पृथिवीलोक से २८ हजार योजन नीचे है जिसका विस्तार ८८ हजार योजन है। (अग्नि.अ. ३७१)

माया पाश से पशु (जीवों) को बाँधने के कारण भगवान् शिव का नाम पशुपति है। (अ.पु.)

न्यायागतधनस्तत्त्व, ज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ (अग्नि पु. ३७६)



नारायणः—महाभारते ।
नराज्जातानि तत्त्वानि, नाराणीति ततो विदुः ।
तान्येव चायनं यस्य, तेन नारायणः स्मृतः ॥

व्याख्या—जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत करना चाहता है अथवा कर रहा है और मुक्ति की इच्छा रखता है तो वह न्याय पूर्वक अर्जित धन-सम्पदा अर्जित कर जीवन यापन करे तथा ज्ञान में निष्ठ होकर अपने घर आये हुए अतिथि का पूजन सत्कार करे। वह अपने पितरों के प्रसन्नता के लिए नित्य-नैमित्तिक आदि विहित श्राद्ध कर्म यथाकाल करे, सत्य वचन बोले तो ऐसे सद्गृहस्थ भी मोक्ष को प्राप्त कर जाते हैं, इसमें संशय नहीं है। (अग्नि पुराण ३७६)

व्याख्या—प्रतीक चित्र द्वारा चतुर्दश विद्यास्थान का संकेत किया गया है। इन चतुर्दश विद्याओं के परिज्ञान से सद्-असद् सांसारिक वस्तु का परिबोध होता है। विद्या का मुख्य उद्देश्य परमात्मबोध प्राप्त करना होता है। ज्ञाननिष्ठ मानव ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं। इसलिए कहा गया है कि—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी, अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय, उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ।। (अमृतनादोपनिषद्-१)

उपर्युक्त चतुर्दश विद्याओं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, व्याकरण, शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्रों का अध्ययन, श्रवण-मननादि का प्रयोजन तावत् है यावत् परमात्मबोध न हो जाय। परमात्मबोध के अनन्तर इन विद्याओं का प्रयोजन आवश्यक रूप से नहीं रह जाता। इसलिये कहा है—

उल्काहस्तो यथा कश्चिद्, द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य, पश्चात् ज्ञानं परित्यजेत् ।। (अमृतनादोपनिषद टीका-१)

जिस प्रकार अन्धकार में स्थित अदृश्य वस्तु को खोजने के लिये हाथ में उल्का लेकर खोजा जाता

(१) आत्मा ब्रह्म, सद् चिद् आनन्दरूपत्वात्, अविक्रया सङ्गपूर्णत्वात्, विपरीते बुद्ध्यादिवात्। (२) जीवेश्वरयोः भेदोऽसत्यः, सोपाधिकत्वात्, घटाकाशमहाकाशवत्। (३) जीवोपापाधिर्मिथ्या, मायाकार्यत्वात्, स्वप्नार्थवत्। (४) आत्मनः संसारो मिथा।

अविद्याऽध्यारोपितत्वात्, जरादिवत्।

(५) संसारो नात्मधर्मः, ज्ञेयत्वात् रूपवत्।

(६) ब्रह्माद्वितीयं, अनन्तत्वात्, सर्वात्मकत्वात्,
वस्त्वन्तरशून्यत्वात्, सुषुप्तवत्।
सत्ताऽधिष्ठान चिद्व्योम, (शङ्करानन्दी टीका)
स सत्योऽसत्यसाक्षित्वात्, सक्षित्वाच्चित् सुखं तथा।
प्रेमास्पदत्वादद्वैतो, भेदाभावात्सुरर्षभाः? ।। (सूत संहिता)

है और वस्तु के मिल जाने पर उस साधन रूप उल्का का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार शास्त्रज्ञानरूप दीपक से ज्ञेय ब्रह्म वस्तु को प्राप्त कर साधनरूपशास्त्र ज्ञान का परित्याग करना उचित है। अपि च—

आत्मानमात्मना साक्षात्, ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम्।
देहजात्यादिसम्बन्धान्, वर्णाश्रमसमन्वितान्।।
वेदशास्त्रपुराणानि पदपांसुमिव त्यजेत्।(अमृतनादोपनि. टीका-१)

आत्मा (बुद्धि) के द्वारा आत्मा का निश्चल ब्रह्मरूप में साक्षात् बोध प्राप्तकरलेने पर, वर्णाश्रम से सम्बन्ध रखनेवाला देह-जात्यादि, वेद-शास्त्र-पुराण आदि साधन का त्याग उसी प्रकार कर देना चाहिये जैसे कोई व्यक्ति पैदल चलकर गन्तव्य स्थान प्राप्त करता है तो अपने पैर में लगे धूलि को पानी से धो लेता है। (अग्निपुराण ३७६)

महाभारत में नारायण शब्द वाच्यार्थ की व्याख्या कारिका के माध्यम से की गयी है। कारिका (श्लोक) का अर्थानुवाद इस प्रकार है—नर (परमात्मा) से उत्पन्न जो तत्त्व है उसे नाराणी कहते हैं। वह नाराणी ही है अयन (निवासस्थान) जिसका, ऐसे जो पुरुष (परमात्मा) हैं, वे इसी कारण से नारायण कहे जाते हैं। (महाभारत)

व्याख्या—आत्मा ही 'ब्रह्म' है क्योंकि उसका स्वरूप सत्-चित् आनन्द स्वरूप है और उसमें कोई भी विकार और उससे किसी का संग सिद्ध नहीं होने के कारण से यह कथन कि आत्मा ही ब्रह्म है सर्वसिद्धसिद्धान्त है। श्रुति भी कहती है "अयमात्मा स्वयं ब्रह्म। सत् का अर्थ है" त्रिकालाबाध्य अस्तित्व अर्थात् जो भूत-वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में वर्तमान रहे और जिसका कभी अभाव (विनाश) न हो। आनन्द का अर्थ—जो निरतिशय-आत्यन्तिक सुख हो और जो सम्पूर्ण विषयों के सुख

नायकः—

१. धीरोदात्तः—अनुकूलः

२. धीरोद्धतः—दक्षिणः

३. धीरललितः—

४. धीरप्रशान्तः— (अग्निपु. ३३९)

से अतिशायी हो एवं निरवच्छिन्न तथा विनाश रहित हो। चित् का अर्थ-ज्ञान है। श्रुति कहती है— आनन्दं ब्रह्म विजानीयात्'' ''सच्चिदानन्दं ब्रह्म'' अयमात्मापहतपाप्मा'' इत्यादि।

जिनकी बुद्धि अज्ञानान्धकार से आवृत्त है वे लोग जीव और ईश्वर में भेद ग्रहण करते हैं, अत: वह असत् (मिथ्या) ज्ञान है। उनका कहना है कि ईश्वर और जीव में जो परस्पर शुद्धसत्त्वप्रधानत्व और मलिन सत्त्वप्रधानत्व पृथक्-पृथक् उपाधियाँ हैं इससे जीव और ईश्वर में भेद मानना चाहिये। परन्तु ऐसा कहना कल्पित है–असत् है। अद्वैतवादियों का पक्ष है कि उपाधि के भेद से मूल वस्तु में भेद सम्भव नहीं होता है; जैसे घटाकाश और महाकाश में भेद नहीं है, वह वाचालम्बन मात्र है। क्योंकि घटगत आकाश तत्त्व और महाकाशगत आकाशतत्त्व में अभेद दर्शन से जीव इश्वर का अभेद निर्णीत और सिद्ध होता है। क्योंकि उपाधि माया का कार्य है और मायाकार्य स्वप्न में दृष्ट दृश्य के समान एकान्तत: मिथ्या ही है। आत्मा अक्रिय (विकाररहित) है और माया सक्रिय (सविकारी) है, अत: संसार माया का कार्य है आत्मा का नहीं है। आत्मा के सर्वाधिष्ठान होने के कारण मायाकृत संसार, ब्रह्म (आत्मा) में अध्यारोपित (कल्पित) है, जैसे आत्मा में मैं बालक हूँ, युवा हूँ, बृद्ध हो गया हूँ, ऐसा उपचरित व्यवहार होता है। जबकि बालत्व-वृद्धत्व विकारी शरीर का धर्म है।

संसार आत्मा का धर्म नहीं है, क्योंकि यह रूपदर्शन के समान ज्ञेय वस्तु है। ब्रह्म तो अद्वितीय है। ब्रह्म का अनन्तत्व, सर्वात्मकत्व; वस्त्वन्तर (अन्यवस्तु) से शून्यत्व स्वभाव होने के कारण उस ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही सुनिश्चित होता है। यथा—सुषुप्तावस्था में कोई अन्य वस्तु नहीं होता। श्रुति भी कहती है—''एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'' वह ब्रह्म एक होने से अद्वितीय है। वह ब्रह्म चिद् (चेतन) स्वभाववाला होने के कारण सर्वाधिष्ठानक व्योम (आकाश) के समान है। (शङ्करानन्दी टीका)

वह ब्रह्म सत् एवं असत् उभय वस्तु का साक्षी है। वह चित् स्वरूप होने के कारण सुख-दु:खादि का भी साक्षी है। हे सुरर्षभगण (देवगण)! वह आत्मा परमप्रेमास्पद अद्वैत स्वरूप है। (सूत संहिता)

नायक कथन—अग्नि पुराण के अध्याय ३३९ में नाट्य शास्त्र के नायकों के प्रकार दिये गये हैं। यहाँ नायकों की चार श्रेणियाँ हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरोद्धत, (३) धीरललित और (४) धीरप्रशान्त। उपर्युक्त धीरोदात्तादि नायकों के पुन: अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ट भेद से सोलह प्रकार हैं। (अग्नि पुराण ३३९)

ब्रह्मा–

आनन्दः–रसः,

अहंकारः–अभिमानः,

रतिः–मनोऽनुकूलेऽअनुभवः सुखस्य। (अग्नि पु. ३३९)

श्रीबाला–

रक्ताम्बरां चन्द्रकलावतन्सां, समुद्यदादित्यनिभां त्रिनेत्राम्।
विद्याक्षमालाभयदानहस्तां, ध्यायामि बालामरुणाब्जसंस्थाम्।।

(मन्त्रमहोदधि)

		स्वा.	**ह.**
सूर्यः	**प्रभावः**	**सिंहस्य**	**७**
चन्द्रः	**मनः**	**कर्कस्य**	**७**
मंगलः	**शक्तिः**	**मेषवृश्चिकयोः**	**७, ४, ८**

व्याख्या–वेद–उपनिषदादि ग्रन्थों में जिस अक्षर, सनातन, व्यापक अजन्मा पख्रह्म परमेश्वर को "एकमेवा द्वितीयं ब्रह्म", "सच्चिदानन्दं ब्रह्म", "ज्योतिर्मयोऽयं पुरुषः" कहा है अर्थात् वह परमात्मा "अखण्ड, अद्वितीय, चेतन स्वरूप ज्योतिर्मय पुरुष है" ऐसा कहा है, वही सहज आनन्दभूत स्वरूप कभी-कभी व्यञ्जित होता है। उस आनन्द की अभिव्यक्ति का ही नाम चैतन्य, चमत्कार और रस है। आनन्द का प्रथम विकार अहंकार, अहंकार का विकारअभिमान और अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। सुख के मनोऽनुकूल अनुभव अर्थात् आनन्द की मनोरम अनुभूति को रति कहा जाता है। (अग्नि पुराण ३३९)

व्याख्या–मैं पराम्बा भगवती बाला देवी का ध्यान करता हूँ। वह देवी कैसी है? कहते हैं—जो रक्तवर्णरेशमीवस्त्र (साड़ी) पहनी हुई हैं। मस्तक पर चन्द्रकला धारण की हैं। उद्दीयमान सूर्य के सदृश प्रकाशमान तीन नेत्रवाली हैं। वे हाथ में अक्षमाल तथा ज्ञान एवं अभयप्रदान करनेवाली मुद्रा धारण की हुई हैं और लालकमल के आसन पर विराजमान हैं।

व्याख्या–जातक के कुण्डली में सूर्य सिंह राशि और स्वाति का हो एवं स्वाति नक्षत्र से सातवें स्थान में हस्त हो तो जातक का प्रभाव लोक पर होता है। चन्द्रमा कर्कराशिका और स्वाति का हो एवं स्वाति से हस्त सातवें गृह में हो तो जातक का मन स्थिर और बलवान् होता है। सूर्य मंगल का या मेष एवं वृश्चिक का हो और स्वाति नक्षत्र का भी हो तथा स्वाति से हस्त सातवें, चौथे एवं आठवें स्थान का हो तो जातक की शक्ति प्रबल होती है। बुध का सूर्य कन्या या मिथुन राशि का हो तथा स्वाति नक्षत्र का होकर सातवें स्थान में हस्त हो तो जातक विवेकी होता है। शुक्र का सूर्य तुला या वृष राशि में हो तथा स्वाती का होकर हस्त के सातवें स्थान में हो तो जातक चतुर होता है।

बुधः	विवेकः	कन्यामिथुनयोः	७
शुक्रः	चातुर्यम्	तुलावृषयोः	७
शनिः	दार्ढ्यम्	कुम्भमकरयोः	७, ३, १०
राहुः	गुप्तयुक्तिः		
केतुः	काठिन्यम्		
गुरुः	हृदयम्	धनमीनयोः	७, ५, ९

भक्तिः—

वैधी— रागानुगा—निर्गुणा

श्रवणं, कीर्तनं, अर्चनं

पादसेवनं, स्मरणं, वन्दनं अनुरागादेव

श्रवणादौ

दास्यं, संख्यं, आत्मनिवेदनम् प्रवृतिः

पुनः प्रत्येका त्रिधा—

सात्त्विकी, राजसी, तामसी। तत्रानावृत

सापि प्रत्येका त्रिधा— पूर्णानन्दस्फूर्तिः।

सात्त्विक सात्त्विकी—सिद्ध्यर्था,

सा.रा.—हरिप्रीत्यर्था, पापक्षयार्था सा.ता.।

राजसी—

रा.सा.—ऐश्वर्यार्था, रा.रा.—यशोऽर्था।

रा.ता.—विषयार्था।

तामसी—

ता.सा.—मात्सर्यर्था, ता.रा.—दम्भार्था।

ता.ता.—हिंसार्था।। (वीरमित्रोदय भक्ति ख.)

व्याख्या—शनि का सूर्य कुम्भ या मकर का होकर स्वास्ती नक्षत्र में हो तथा स्वाति से हस्त सातवें स्थान में हो तो जातक दृढ़ (मजबूत) शरीरवाला तथा दृढ़ निश्चयी होता है। सूर्य राहु का हो तो जातक गुप्तयुक्ति गुणयुक्त होता है। सूर्य का केतु हो तो जातक का शरीर गठीला होता है और गुरु का सूर्य धन या मीन राशि में स्थित हो और स्वाती नक्षत्र का हो तथा स्वाती से हस्त सातवें, पाँचवें या नौवें स्थान का हो तो जातक सहृदय होता है।

व्याख्या–यहाँ भक्ति पर सम्यग् विचार किया जा रहा है—"भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्त:करणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करण व्युत्पत्त्या—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः, स्मरणं पावसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्।।" (भागवत्पु. ५-२३)

जिस सेवा की विशेष विधि (उपासना) के द्वारा अन्त:करण की वृत्ति को भगवदाकार रूप से उस सेवा की विशेष विधि (उपासना) के द्वारा अन्त:करणवृत्ति के भाव विशेष को भक्ति कहते हैं। ये उपर्युक्त नवधोक्ता साधन भक्ति के नाम से कहा जाता है—"इति नवधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते" (इति हठदीपिका टीकायां ब्रह्मानन्द:) भगवान् पतञ्जलि भक्ति के सन्दर्भ में कहते हैं—"ईश्वरप्रणिधानाद्वा" (पा.यो.सू. १/२३) ईश्वरविषयकात् प्रणिधानात् भक्तिविशेषात् समाधिलाभ: समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थ:। भजनमन्त:करणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते। सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते।" (हठदीपिका ज्योत्स्नाटीकायां) अर्थात् ईश्वर के प्रणिधान (भक्तिविशेष) से समाधिलाभ (प्राप्ति) होती है अथवा समाधिरूप फल प्राप्त होता है यही योगसूत्रकार पतञ्जल भगवान् का आशय है। अथवा "भजनं भक्ति:" भी अर्थ हो सकता है। क्योंकि अन्त:करण का जो भगवदाकाररूप है वही भजन है, वही भक्ति है अथवा भावव्युत्पत्ति से उत्पन्न फलभूता भक्ति है। जिसे प्रेमा भक्ति कहा जाता है। परन्तु स्वामी नारायण तीर्थ का कथन है "प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविन्दविषयकैकान्तिकात्यन्तिक प्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्न:" इति। अर्थात् ईश्वर चरणारविन्द विषयक ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक अविरल (अखण्ड) प्रेम प्रवाह को प्रेमभक्ति योग कहा जाता है। आचार्य स्वामी मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि—"द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पकवृत्ति: भक्ति:" इति। अर्थात् मन का द्रवीभाव पूर्वक जो भगवदाकार रूप सविकल्पक चित्तवृत्ति विशेष होता है, उसे भक्ति कहा जाता है। प्रसंग में उपर्युक्त नवधा भक्ति को उपस्थित करते हुऐ जो उसके नौ प्रकार दिये गये हैं और जिसे वैधी भक्ति कहा गया है, उसके विषय में अब कहा जा रहा है कि—उन भागवतोक्त श्रवणादि नौ प्रकार की भक्ति में उपास्य के प्रति अनुराग की आधिक्यता के कारण श्रवणादि में भक्तों की प्रवृत्ति होती है। इसलिए इसे रागानुगा भक्ति कहते हैं। परन्तु जो साधक-भक्त निर्गुण उपास्य के प्रति प्रवृत्ति रखते हैं, वे अनावृत्त पूर्णानन्द की स्फूर्ति की प्राप्ति के लिए साधना करते हैं। इस तरह वैधी भक्ति के दो भेद यहाँ कहे गये—(१) रागानुगा, (२) निर्गुणा। पुन: उन प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—(१) सात्त्विकी, (२) राजसी तथा (३) तामसी। इन तीनों सात्त्विक्यादि भक्ति साधना से भी पूर्णानन्द ब्रह्म की स्फूर्ति का साक्षात्कार होता है। पुन: उपर्युक्त सात्त्विकी भक्ति के भी तीन भेद होते हैं—(१) सात्त्विक सात्त्विकी, (२) सात्त्विक राजसी एवं (३) सात्त्विक तामसी। सात्त्विक सात्त्विकी भक्ति उपास्य की सिद्धि को प्रदान करनेवाली होती है। सात्त्विक राजसी भक्ति में भगवान् हरि को प्रिय वस्तुओं के अर्पण द्वारा सेवा-भक्ति की जाती है और सात्त्विक तामसीभक्ति से साधक-भक्त के पूर्वकृत पापों का क्षय होता है। राजसी भक्ति

१०, २२ गुना, ३, ९, किशोरावस्था, २३,२८–वृद्धावस्था, १,२, २९, ३० मृतावस्था। सूर्येण समांशाः–अस्ताः, ८ अं. अर्धास्ताः। १५ अंशा उदिताः।

सिद्धिर्द्विधा–उत्पत्ति र्ज्ञप्तिश्च

१. ब्रह्म विद्या।

कालः–सर्वभूतपरिणाम हेतुः। (शिव सं.ना.टी.)

स्वात्मभूतपरानन्दः पराशक्ति समन्वितम्।

पराहन्तानुसंधानं, परमक्रीडयान्वितम्।। (पराशरोपपु.)

महाप्रलयकर्ता–शिवः, अवान्तरप्रलयकः–विधिः (ब्रह्म पु.)

कामप्रलयकर्त्री–ललिताम्बा (शि.सं.ना.टी.)

के भी तीन भेद हैं—(१) राजस सात्त्विकी, (२) राजस राजसी तथा (३) राजस तामसी। राजस सात्त्विकी भक्ति से ऐश्वर्य की प्राप्ति, राजस राजसी से यश की प्राप्ति और राजस तामसी भक्ति से साधक-भक्त को सांसारिक एवं दिव्य भोग की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार तामसी भक्ति के भी तीन भेद होते हैं—(१) तामससात्त्विकी, (२) तामस राजसी और (३) तामस तामसी। तामस सात्त्विकी भक्ति से मात्सर्य (एक दूसरे की भक्ति से ईर्ष्या) की होती है, तामस राजसी भक्ति में साधक को साधना कर्म का दम्भ होता है एवं तामस तामसी में साधक-भक्त साधना में हिंसा को स्वीकारते और वैसा आचरण भी करते है। ऐसे साधना पथ के पथिक आराध्य देवता के उद्देश्य से पशुवलि, नरवलि का व्यवहार करते हैं। (वीर मित्रोदय भक्ति खण्ड)

व्याख्या–सूर्य के १० एवं १२ अंश पर होने से युवावस्था होती है। ३ और ९ अंश पर किशोरावस्था, २३ और २८ अंश पर वृद्धावस्था होती है। १,२,२९,३० अंश पर मृतावस्था तथा सूर्य के समांश में अस्त एवं ८ अंश अर्धास्त का द्योतक होता है। १५ अंश पर उदित अवस्था होती है।

व्याख्या–सिद्धि दो प्रकार की होती है—(१) उत्पत्ति तथा (२) ज्ञप्ति। ज्ञप्ति ब्रह्मविद्या स्वरूपा होती है। सम्पूर्ण भूतों में जो निरन्तर परिणाम होते हैं उसका हेतु काल है। (शि.सं.ना.टी.) स्वात्मा से अभिन्न जो परानन्द है और जो पराशक्ति से सम्पन्न है वह द्वैतबुद्धि के विनाशक, ब्रह्मविद्या का अनुसन्धान करने वाला और परमक्रीडा–आत्मक्रीडनसंयुक्त है। (पराशरोपनिषद्) महाप्रलय के कर्ता भगवान् शिव हैं एवं अवान्तरप्रलय के कर्ता विधि (ब्रह्मा) तथा कामप्रलय को करनेवाली जगज्जननी ललिताम्बा हैं। (ब्रह्म पु.शिवसं.ना.टी.)

एकाग्निको महायागो, होताहं वायुरूपधृक् ।
मम चिद्वह्निरेवाग्नि, सामवह्निस्तु हव्यवान् ।।
शुष्क सर्वजलः सिन्धुः, सप्तमः कुण्ड इष्यते ।
अभिधारः सिन्धुषट्कः पशवः पञ्चसृष्टयः ।।
आवो राजानमध्वरस्य, (ब्रह्माण्ड पु.)
रुद्रं होतारं सत्ययजम् ।। (श्रुतिः)

ब्रह्माकारमनोवृत्ति प्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्यात्, ध्यानाभ्यास प्रकर्षतः ।।
एकान्तवासो लघुभोजनानि, मौनं निराशा करणावरोधः
मुनेरसौ संयमनं चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम् ।।

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः । (योग दर्शने)
आगमेनानुमानेन, ध्यानभ्यास रसेन च ।
त्रिधाप्रकल्पयन् प्रज्ञां, लभते योगमुत्तमम् ।। (यो.द.भा. १)

व्याख्या—मैं एकाग्निक (एक अग्निवाला) महायाग में वायुरूप धारण करनेवाला हूँ। मेरा चित् (चेतन) स्वरूप वह्नि ही यहाँ अग्नि है और साम वह्नि (ब्रह्माग्नि) हव्यवाला है। अर्थात् यागकर्ता आत्मा एकाग्निक होता है और हव्य (हवनीय) पदार्थ जो प्रक्षिप्त किया जा रहा है वह सामवह्नि ब्रह्म में किया जा रहा है। जिसमें सप्तधातुमय शरीर ही कुण्ड है और जो ज्ञानाग्नि ताप से शुष्क हो गया है। वे सप्त धातु ही सिन्धु है कहा है—

महाभूतानि तत्त्वानि संहृतानि क्रमेण च ।
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगाग्निनाशनैः ।। (योगशिखोपनि. १/४०)

शरीर के धारण स्थिति को सुदृढ़ करनेवाला षड्सिन्धु है, जो काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेषात्मक है और पञ्चीकृत तत्त्व से निर्मित यह जीवदेह पशु है ऐसा जानना चाहिये। (ब्रह्माण्ड पुराण)

श्रुति कहती है कि उपर्युक्त (१) यज्ञराट् (श्रेष्ठ यज्ञ) का रुद्रब्रह्म ही होता हैं जो सत् स्वरूप का यज्ञकर्ता है। अहंकार रहित ब्रह्माकारमनोवृत्ति का प्रवाह सम्प्रज्ञात समाधि है, जो ध्यान के अभ्यास के प्रकर्ष से प्राप्त होता है। साधक को साधना क्रिया करने के लिए एकान्तवास, लघ्वाहार, मौनत्व, वैराग्य (विषयों से) इन्द्रियों पर दमन करना चाहिये। हे मुने! ये सभी चित्त के प्रसादन को शीघ्र उत्पन्न करता है।

व्याख्या—जहाँ पर (जिस साधनाकाल में) वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता इन चारों भाव अनुगत होकर जब समाधि की स्थिति में होती है, तो वही सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। इसे और सुस्पष्ट किया जाता है—विक्षिप्त चित्त में उत्पन्न जो समाधि होती है, उसमें विक्षिप्त संस्कार प्रतिष्ठित

इज्याचार दमाहिंसा, दानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।। स्मृति, म.पु.)

पतिव्रताः—

अरुन्धती, सावित्री, अनसूया, शाण्डिली, लक्ष्मी,
शतरूपा, मेना, सुनीतिः, संज्ञा, स्वाहा, लोपामुद्रा सती ।
(स्क.पु.का.ख.-४)

तीर्थम्—

प्रभावादद्भुताद्भूमेः, सलिलस्य च तेजसः ।
परिग्रहान्मुनीनां च, तीर्थानां पुण्यता स्मृता ।।
यथा शरीरस्योद्देशाः, केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः ।
तथा पृथिव्यामुद्देशाः, केचित्पुण्यतमाः स्मृताः ।।
(स्क.पु.का.ख. ६/४३-४५)

होते हैं, इस कारण से वह समाधि अप्रधानीभूत होती है। अतः वह विक्षिप्त चित्तभूमिक समाधि के उपादेय नहीं होते। किन्तु जो समाधि एकाग्रचित्तभूमिक चित्त में समुद्भूत होकर सत्स्वरूप अर्थ को प्रकर्षेण प्रकट करती है, वह अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेशों को क्षीण करती है, कर्मबन्ध अथवा पूर्व संस्कार पाश को शिथिल करती है और निरोधावस्था को उपस्थित करती है। यह सम्प्रज्ञातयोग वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत होता है। (पातञ्जल यो.द. १/१७)

आगम वाक्यों के श्रवणादि से, अनुमानादि प्रमाण के द्वारा और ध्यान के अभ्यास रूपी रस से परिसिक्त इन त्रिविध प्रकल्पन प्रज्ञा का वर्धन और उससे उत्तम योग की प्राप्ति होती है। (पा.यो.द. भाष्य-१)

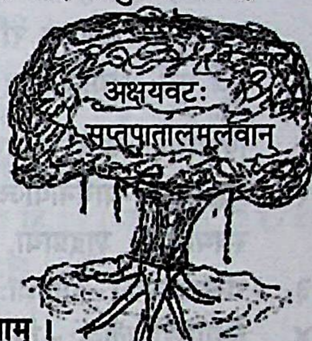
यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय ये विषयों से उपराम करनेवाला परम धर्म है। परन्तु योग क्रिया के आश्रय से तो साक्षात् आत्मदर्शन (ब्रह्म साक्षात्कार) होता है। अतः इज्या (यज्ञ), आचारादि आत्मदर्शन में हेतु इसलिए है कि वह साधक को विषयों से इन्द्रियों की उपरामता का जनक है।
(स्मृति-म.पु.)

शास्त्रों में (१) अरुन्धती, (२) सावित्री, (३) अनसूया, (४) शाण्डिली, (५) लक्ष्मी, (६) शतरूपा, (७) मेना, (८) सुनीति, (९) संज्ञा, (१०) स्वाहा और (११) लोपामुद्रा आदि ग्यारह सती कही गईं हैं।
(स्क.पु.का.ख.४)

व्याख्या—तीर्थभूमि की अद्भुत प्रभाव और तीर्थस्थल में स्थित पुण्य नदी के तेज, मुनियों के परमात्मविषयिणि विद्या (ज्ञान) से ही तीर्थ की पुण्यता (पवित्रता) प्रमाणित होती है।

जिस प्रकार कोई मानव शरीर पवित्रतम् है, यह उद्देश्य रखते हैं, उसी प्रकार कोई मानव पृथिवी पुण्यतम है, इस उद्देश्य से सभी प्रकार के कर्म करते हैं। (स्क.पु. ६/४३-४५)

यस्य हस्तौ च पादौ च, मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च, स तीर्थफलमश्नुते।।
अश्रद्दधानः, पापात्मा, नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते, न तीर्थफलभागिनः।।(स्क.पु.का.ख. ६)



प्रलयेऽपि यमारुह्य, मृकण्डतनयोऽवसत्।
हिरण्यगर्भो (स्क.पु.का.ख. ६)।
विज्ञेयः साक्षाद्वटस्वरूपधृक्।

उज्जयिनी–

महाकाल पुरीं प्राप्य, कलिकालविवर्जिताम्।
तं कालं कलयित्वा ये, महाकालोऽभवत्किल।।
पापादवन्ती सा विश्व, मवन्तीति निगद्यते।
कलावुज्जयिनीति च। (स्क.पु.का.ख. ७)
विपन्नो यत्र वै जन्तुः, प्राप्यापि शवतां स्फुटम्।
न पूतिगन्धमाप्नोति, समुच्छ्रयति न क्वचित्।। (स्क.पु.का.ख. १३)

जिस व्यक्ति का दोनों हाथ-पैर, मन, विद्या, तप और कीर्ति सुसंयत है वही तीर्थ का फल प्राप्त करता है अन्य नहीं। जो वेद, पुराणादि का, देव-द्विज, मातृ-पितृ आदि में श्रद्धाभाव नहीं रखता और पापात्मा है, नास्तिक, संशयात्मा तथा स्वार्थी हैं, ऐसे पाँचों प्रकार के व्यक्ति तीर्थफल को नहीं पाते। (स्कन्दपुराण का.ख. ६)

अक्षयवटः–अक्षयवट प्रयागराज तीर्थ में है। इसका कल्पान्त में भी क्षय नहीं होता है, इसीलिये इसका नाम अक्षयवट है। इसका मूल सातों पाताललोक में है। जल प्रलयकाल में महात्मा मृकण्ड ऋषि के पुत्र मार्कण्डेय ऋषि इसी वृक्ष का आश्रय लिये थे। साक्षात् भगवान् हिरण्यगर्भ वट का रूप धारण कर तीर्थराज प्रयाग में आज भी विराजते है। (स्कन्द पु.का.ख. ६)

व्याख्या–उज्जयिनी–काल को संकलित करके कलिकाल के प्रभाव से विवर्जित उस अवन्तीपुरी में वास करने के कारण भगवान् रुद्र महाकाल नाम से प्रसिद्ध हुए। वह पुरी समस्त पापों से जीवों की रक्षा (उद्धार) करने के कारण अवन्ती कही जाती है, जिसे कलिकाल में उज्जयिनी नाम से लोग जानते हैं। वहाँ जीवात्मा के शरीर त्यागने पर उसमें कीड़े नहीं लगते और उसके शरीर से दुर्गन्ध नहीं निकलते हैं। (स्क.पु.का.ख. १३)

मायापुरी–

यत्र सा वैष्णवी माया, माया पाशै र्न पाशयेत् ।

सप्तपुत्राः–

औरस, क्षेत्रज, क्रीतो, दतः प्राप्तः,
सुतासुतः, आपत्सु रक्षितः
पूर्व पूर्वः श्रेयान् ।। (स्क.पु.काशी ख. १३)

१. पिशाचाः–दत्वानुतापभाजः नो नो कृत्वा ददत्यपि ।
२. गुह्यकाः–न्यायेनोपार्ज्य वित्ताः ।
स्वमार्गगाः शूद्रप्राया, धनाढ्याः ।
३. गन्धर्वलोकः–गीतज्ञाः, गीतेन तोषन्ति नराधिपान् ।
४. वैद्याधरो लोकः–विद्याभ्यासिनः, विद्यादायिनः, विद्यार्थिसहायकाः ।
५. संयमनीपुरी–

मायापुरी–उस मायापुरी (हरिद्वार) में वैष्णवी माया अपनी पाश से किसी को नहीं बान्धती है। इसलिए उस पुरी के निवासी माया विनिर्मुक्त होकर वहाँ जप-तप-स्वाध्यायानुष्ठान करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

सात प्रकार के पुत्रों का वर्ण शास्त्रों में पाया जाता है—(१) औरस, (२) क्षेत्रज, (३) क्रीत, (४) दत्त, (५) प्राप्त, (६) पुत्रीपुत्र और (७) आपद्रक्षित।

ये सातों प्रकार के पुत्रों में उत्तर-उत्तर से पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ है।

१. **पिशाच**–जो देकर भी अनुताप करे फिर नहीं दूँगा–नहीं दूँगा ऐसा भी कहे, फिर दे भी दे, ऐसे स्वभाव के प्राणी विशेष या देवविशेष पिशाच होते है और उसका लोक पिशाचलोक कहलाता है।

२. **गुह्यक**–न्यायपूर्वक उपार्जितधनवाले गुह्यक होते हैं। वे स्वमार्गी होते हैं और शूद्रप्राय धनाढ्य इस श्रेणी में आते हैं। ऐसे लोगों के लोक को गुह्यक लोक कहते है।

३. **गन्धर्वलोक**–गन्धर्व जाति विशेष संगीतज्ञ होने के कारण बड़े लोगों अर्थात् राजाओं को गीतादि गाकर प्रसन्न करनेवाले होते हैं। इनके लोक को गन्धर्वलोक कहते हैं।

४. **विद्याधरलोक**–विद्याधर जाति विशेष विद्याभ्यासी होते हैं, अपने उपासकों को विद्या प्रदान करते है तथा ये विद्यार्थी के सहायक होते हैं। इनके लोक विद्याधरलोक है।

५. **संयमनीपुरी**–यहाँ यमों का वास है और यमपुर के एक पुर विशेष का नाम संयमनीपुरी है।

६. अप्सरसां पुरी–मोहनास्त्रं मनोभुवः। कोऽदात्कस्मा अदात्कामायादा-
त्कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते। (दानमन्त्रः टी.)

७. सौरलोकः–

८. इन्द्रपुरी–
कुविन्दा न च सन्त्यत्र, न च ते पश्यतो हराः।
चैलान्यलंकृतीरत्र, यतः कल्पद्रुमोऽर्पयेत्॥ (स्क.पु.काशी ख. १०)

९. अग्नि लोकः, १०. वरुणलोक, ११. नैर्ऋतिलोकः, १२. वायु लोकः।

नान्यत्तीर्थं न वा देवो, न गुरु र्न च सत्क्रिया।
विहाय पित्रो र्वचनं, नान्यो धर्मः सुतस्य हि॥ (स्क.पु.का. ११/४६)
त्रिलोकी सारसर्वस्वं पिण्डभूतमिदं किल।
किं वा पीयूषपिण्डः, उद्धृतः क्षीरनिधेः।

---

६. अप्सरों की पुरी–यहाँ के वासी मोहनास्त्र विद्या के जानकार होते हैं और मन के संकल्प-विकास से उद्‌भूत हैं। इसलिए दान के अवसर पर "कोऽदात्कस्मा आदात्कामायादात्कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते" मन्त्र पढ़ा जाता है। इसका अर्थ है—कौन दिया किसके लिए दिया उत्तर में है–काम ही दाता है और काम ही प्रतिगृहीता है यही तुम्हारे काम का रूप है।

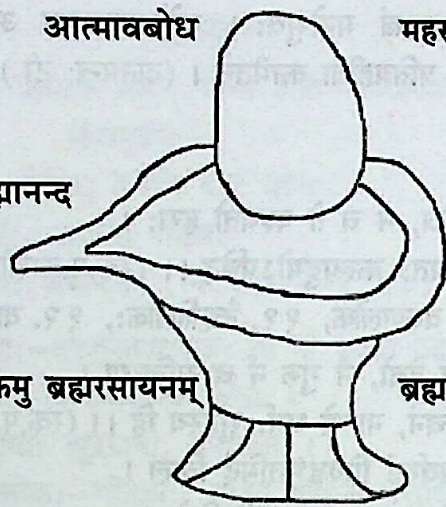
७. **सौरलोक**–यहाँ तैजस स्वरूपवाले प्राणी रहते हैं।

८. **इन्द्रपुरी**–देवताओं के राजा इन्द्र की नगरी को इन्द्रपुरी कहते हैं। इन्द्र की पुरी को ही स्वर्ग कहा जाता है। इस स्वर्ग में न तो जुलाहे हैं और न ही सोनार हैं, परन्तु सभी उत्तम वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत रहते हैं, क्योंकि यहाँ के निवासियों को कल्पवृक्ष कामनाओं के अनुकूल वस्तुए प्रदान करते हैं। (स्क.पु. काशी ख. १०)

अग्निलोक–अग्निलोक में आग्नेय शरीरधारी रहते है और यहाँ के देवता अग्नि है। **वरुणलोक**–वरुणलोक में जलीय शरीरधारी रहते हैं और यहाँ के देवता वरुण है। **नैर्ऋतिलोक**–नैर्ऋतिलोक में असुरलोग रहते हैं और यहाँ के देवता निर्ऋति हैं। **वायुलोक**–वायुलोक में वायवीय शरीरधारी रहते है और इसके देवता वायुदेव हैं।

व्याख्या–पिता के वचन को पालन से बढ़कर पुत्र के लिए कोई अन्य उत्तम धर्म नहीं है, पिता के वचन के पालन से बढ़कर न कोई तीर्थ है, न देवता है, न गुरु है, और न सत्क्रिया है।
(स्क.पु.का.ख. ११/४६)

यह लिङ्ग स्वरूपा काशीपुरी मानो त्रिलोकी का सारभूत सर्वस्व के समान है; अथवा मानो क्षीरसागर से उत्पन्न कोई पीयूष पिण्ड है, अथवा आत्मावबोध स्वरूप महान् ओंकार है, अथवा



मोक्षवृक्षस्य फलं वा, निर्माणलक्ष्म्याः केशपाशः।
कैवल्यवल्या स्तवकः। निःश्रेयस श्रियः किं
वानन्द क्रीडन कन्दुकः। अपवर्गोदयाद्रेः किमु सुधाकरः।
संसारमोहतिमिरभिदुरः किमसौ रविः।
किमुकल्याणरमणी, रम्य शृङ्गारदर्पणः।
अनेककर्मबीजानां, बीजपूरोऽयमद्भुतः।
विश्वेषां विश्वबीजानां, कर्माख्यानां लयो यतः।
अस्मिन्निर्माणदे लिङ्गे विश्वलिङ्गमिदं ततः॥

(काशी ख. ११)

ब्रह्मानन्द का सुन्दर कन्द है, अथवा यह ब्रह्मरसायन है, अथवा यह ब्रह्म के अण्डभाण्ड है, या यह लिङ्ग स्वरूपा काशीपुरी मोक्षरूपी वृक्ष का फल है, या यह काशी निर्माणरूपी लक्ष्मी का केशपाश है, अथवा यह कैवल्यलता का स्तवक (गुच्छ) है, या यह काशी निःश्रेयस (मोक्ष) का 'श्रीः' स्वरूपा है, अथवा यह आनन्द क्रीडन के लिए कन्दुक (गेंद) के समान है, अथवा यह अपवर्गरूप उदयाचल का सुधाकर (चन्द्रमा) है, अथवा संसारमोह रूपी तिमिर (अन्धकार) को भेदन करनेवाला कोई सूर्य है, या यह काशीपुरी कल्याणरूपी रमणी (युवती) का रम्य शृङ्गार का दर्पण ही है। अथवा यह अनेकजन्मान्तरीयकर्मबीजों का यह अद्भुत बीजपूर (बिजोड़ा) है, यतः सम्पूर्ण कर्मवाच्य विश्वबीज इस निर्माण लिङ्ग में लय हो जाता है अतः इस लिङ्ग का नाम विश्वलिङ्ग (विश्वनाथ लिङ्ग) है। (काशी ख. ११)

सर्वं गंगा समं तोयं, सर्वे ब्रह्म समा द्विजाः ।
सर्वं देयं स्वर्णसमं, राहुग्रस्ते दिवाकरे ।।

रविसप्तति नाम–

हंसो भानुः सहस्रांशु, स्तपनस्तापनो रविः ।
विकर्तनो विवश्वांश्च, विश्वकर्मा विभावसुः ।।१।।
विश्वरूपो विश्वकर्ता, मार्तण्डो मिहिरोंशुमान् ।
आदित्यश्चोष्णगुः सूर्योऽर्यमा बध्नो दिवाकरः ।।२।।
द्वादशात्मा सप्तहयो, भास्करोऽहस्करः खगः ।
सूरः प्रभाकरः श्रीमान्, लोकचक्षुर्ग्रहेश्वरः ।।३।।
त्रिलोकेशो लोकसाक्षी, तमोऽरिः शश्वतः शुचिः ।
गभस्ति हस्तस्तीव्रांशुस्तरणिः सुमहोरणिः ।।४।।
द्युमणिर्हरिदश्वोऽर्को, भानुमान् भयनाशनः ।
छन्दोऽश्वो वेदवेद्यश्च, भाश्वान् पूषा वृषाकपिः ।।५।।

व्याख्या–जब सूर्यग्रहण का काल होता है तो सभी जल गंगा के समान पवित्र होता है। सभी जीवधारी ब्राह्मण के समान होते हैं और सभी प्रकार के देयवस्तुएँ (दान) स्वर्णदान के समान होते हैं, ऐसा जानना चाहिये।

व्याख्या–स्कन्द पुराण के काशी खण्ड में सूर्य के सत्तर नामों से आराधना का विधान किया गया है। सूर्य के सत्तर नाम क्रमशः ये हैं—(१) हंस, (२) भानु, (३) सहस्रांशु, (४) तपन, (५) तापन, (६) रवि, (७) विकर्तन, (८) विवस्वान्, (९) विश्वकर्मा, (१०) विभावसु, (११) विश्वरूप, (१२) विश्वकर्ता (१३) मार्तण्ड, (१४) मिहिर, (१५) अंशुमान्, (१६) आदित्य, (१७) उष्णगु, (१८) सूर्य, (१९) अर्यमा, (२०) वध्नो, (२१) दिवाकर, (२२) द्वादशात्मा, (२३) सप्तहय, (२४) भास्कर, (२५) अहस्कर, (२६) खग, (१७) सूर, (२८) प्रभाकर, (२९) श्रीमान्, (३०) लोकचक्षु, (३१) ग्रहेश्वर, (३२) त्रिलोकेश, (३३) लोकसाक्षी, (३४) तमोऽरि, (३५) शाश्वत, (३६) शुचि, (३७) गभस्तिहस्त, (३८) तीव्रांशुः, (३९) तरणि, (४०) सुमहोरणि, (४१) द्युमणि, (४२) हरिदश्व, (४३) अर्क, (४४) भानुमान्, (४५) भयनाशन, (४६) छन्दोऽश्व, (४७) वेदवेद्य, (४८) भास्वान्, (४९) पूषा, (५०) वृषाकपि, (५१) एकचक्ररथ, (५२) मित्र, (५३) मन्देहारि, (५४) तिमिस्रहा, (५५) दैत्यहा, (५६) पापहर्ता, (५७) धर्म, (५८) धर्मप्रकाशक, (५९) हेलिक, (६०) चित्रभानु, (६१) कलिघ्न, (६२) तार्क्ष्यवाहन, (६३) दिक्पति, (६४) पद्मिनीनाथ, (६५) कुशेशयकर, (६६) हरि, (६७) धर्मरश्मि, (६८) दुर्निरीक्ष्य, (६९) चण्डांशु, (७०) कश्यपात्मज।

एकचक्ररथो मित्रो, मन्देहारिस्तमिस्रहा ।
दैत्यहा पापहर्ता च, धर्मो धर्मप्रकाशकः ।।६।।
हेलिकश्चित्रभानुश्च, कलिघ्नस्ताक्ष्र्यवाहनः ।
दिग्पतिः पद्मिनीनाथः, कुशेशयकरो हरिः ।।७।।
धर्मरश्मिर्दुर्निरीक्ष्य, श्चण्डाशुः कश्यपात्मजः ।
एभिः सप्ततिसंख्याकैः, पुण्यैः सूर्यस्य नामभिः ।।८।।
प्रणवादिचतुर्थ्यन्तै, र्नमस्कारसमन्वितैः ।
दद्यादर्घ्यमनर्घ्याय, सवित्रे ध्यानपूर्वकम् ।।९।।
प्रतिमन्त्रं नमस्कुर्यादुदयास्तमये रविम् ।
व्याधिभिर्मुच्यते घोरै, र्न दरिद्रो न दोषभाक् ।।१०।।
कालेन निधनं प्राप्य, सूर्यलोके महीयते ।

(स्क.पु.का.ख.१०)

इन सत्तर नाममन्त्रों से सूर्य उपासना का विधान है कि–उपासक ताम्रपात्र में शुद्ध जल, लालचन्दन, लाल पुष्प लेकर प्रत्येक नाम मन्त्र में चतुर्थी विभक्ति का संयोजन कर नमस्कार सहित उदयकालिक और अस्तकालिक सूर्यनारायण को अर्घ दे। प्रत्येक नाम मन्त्र के पूर्व प्रणव ओम् का उच्चारण करे और नाम मन्त्र का चतुर्थ्यन्त उच्चारण पूर्वक अर्ध्यदान के साथ नमः शब्द अन्त में उच्चारण करे। इस तरह उपासना करने से उपासक दरिद्र नहीं होता। किसी प्रकार का उसे दुःख नहीं रह जाता, भयंकर से भयंकर जन्म-जन्मान्तर के व्याधियों से छुटकारा मिल जाता है, और वह दरिद्रता तथा अन्य दोषों से मुक्त होकर अपनी आयुपूर्ण कर मृत्यु के उपरान्त सूर्यलोक को प्राप्त करता है।

(स्क.पु.का.ख. १०)

जो व्यक्ति व्यसन में डूब गया है वह व्यक्ति दुर्बोध अर्थात् दूषित विचार-बुद्धिवाला हो जाता है। व्यसन-मृगया (जानवरों का शिकार), मद्यपान, पिशुनता, वेश्यागमन, चौर्यकर्म, द्यूतकर्म, परस्त्रीलोलुपता आदि हैं। इन व्यसनों से इस जगत् में कौन ऐसा है जो खण्डित (अधोपतन) नहीं हुआ ? अर्थात् सभी हुए जो व्यसन का सङ्ग किये। जो व्यसन में आसक्त होता है वह तो महान् दुर्बलों में गिना जाता है। बड़े-बड़े बलवान् भी कन्दर्प के दर्प को चूर्ण करने में असर्थ होता है—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति धीराः केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ।।

(श्रृङ्गारशतक ७३)

मतवाले हस्ती (हाथी) के कुम्भ (मस्तक) को विदीर्ण कर गजमुक्ता को निकालनेवाले इस जगत् में बहुत से बलवान् लोग हैं। कितने मृगराज (सिंह) को बध करने में दक्ष भी हैं। परन्तु इन बलवानों के सम्मुख खड़े होकर मैं यह उनसे पूछना चाहता हूँ कि—हे श्रेष्ठ बलशालियों आपलोगों में से कौन

दुर्बोधोव्यसनी .... ।
मृगया मद्यपैशुन्य, वेश्याचौर्य दुरोदरैः ।
पारदारै र्व्यसनैरेभिः कोऽत्र न च खण्डितः ।। (स्क.पु. १३/६५)
वाणलिङ्गे स्वयंभूते चन्द्रकान्ते हृदि स्थिते ।
तत्र क्रतुशतं पुण्यं शम्भोर्नैवेद्यभक्षणम् ।।
वाणलिङ्गं–नार्मदम् (टी.) (स्क.पु.)

शङ्खपुष्पी वचा कुष्ठैः, सिद्धं ब्राह्मीरसै र्युतम् ।
पुराणं हन्ति अपस्मारं, सोन्मादं मेध्यमुत्तमम् ।।

ऐसे हैं जो कन्दर्प (कामदेव) के दर्प (अहंकार) को दलित (चूर्ण) कर दिये हैं ? अर्थात् कामवासना पर विजय प्राप्त किये है ? उत्तर मिलता है—कोई नहीं। कन्दर्प के दर्प को चूर्ण करनेवाले तो सृष्टि में कोई एक-आध होगा। क्योंकि व्यसनी तो यौवन और धन को पहले ही गँवा चुकता है—

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनविवर्धिता ।
कामिभि र्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ।।५९।। (शृङ्गारशतक)

वेश्या तो सौन्दर्यरूपी इन्धन से विवर्धित कामज्वालावाली अग्निकुण्ड या चिता है जहाँ पर एसे अग्निकुण्ड में कामीजन यौवन और धन की आहूति दिया करते हैं। यहाँ वेश्या शब्द उपलक्षण[1] है। इसलिए जो लोग सद्विचारवाले हैं, विवेकी हैं, कुलीन हैं वे वेश्या से नितान्ततः दूर होते हैं। कहा है—

कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि ।
चार-भट-चोर-चेटक-विट-नट निष्ठीवनशरावम् ।। (शृङ्गारशतक ६०)

अर्थ है—कौन ऐसा जाति-नीति-कुलाचार सम्पन्न धर्मज्ञ कुलीन पुरुष होगा जो चार-भाट-चोर-चेटक-विट-नट आदिकों के द्वारा चुम्बित-उच्छिष्ट वेश्या के ओष्ठ को चुम्बन करेगा ? अर्थात् कोई भी सत्पुरुष नहीं। इसलिए कहा—"तेषां पारगताविशुद्धमनसः नन्दन्ति योगीश्वराः" ॥ अर्थात् उसके पार गमन करनेवाले शुद्धान्तःकरण योगीश्वर ही हैं।

स्वयम्भूवाणलिङ्ग चन्द्रकान्त (शिव) को हृदय में जिसने वसा लिया हो और नित्य पूजोपरान्त उनका प्रसाद ग्रहण करता हो, तो वह सौ अश्वमेघ यज्ञ का फल प्राप्त करता है। वाणलिङ्ग नार्मद (नर्मदेश्वर) लिङ्ग को कहते है ऐसा टीकाकार का कथन है। (स्कन्द पु. १३/६५)

व्याख्या–शंखपुष्पी, वचा और कूट से सिद्ध ब्राह्मी रस को मिलाकर गुटका बना ले और उस वटिका के सेवन से पुराना अपस्मार रोग एवं उन्मादरोग नष्ट हो जाता है तथा मेघा की वृद्धि के लिए

---

१. स्व बोधकत्वे सति स्वेतर बोधकत्वं उपलक्षणम्। (जो अपना बोध कराते हुए अपने से भिन्न का भी बोध कराता है वह उपलक्षण कहलाता है। अतः वेश्या शब्द से स्त्री मात्र अर्थ का ग्रहण करना चाहिये)

शृङ्गवेररसं चैव, मधुना सह पाययेत् ।
अरुचि श्वास कासघ्नं, प्रतिश्याय कफान्तकम् ।। (अग्नि पु. २८५)
यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणस्यामि, स च मे न प्रणश्यति ।। (गी. ६/३०)
यत्र नान्यत्पश्यति, शृणोति नान्यत् विजानाति
स भूमा अमृतम् (छा. उ. ७/२४/१)

अग्निपुराणे कल्पसारः ।।१८६।।

१. पञ्चाङ्गं वाकुचीचूर्णं, षण्मासं खदिरोदकैः ।
क्वाथैः कुष्ठं जयेत्सेव्यं, चूर्णं नीलकुरुण्टजम् ।।
२. क्षीरेण मधुना वापि, शतायुः खण्डदुग्धभुक् ।
३. मध्वाज्य शुण्ठी संसेव्य, पलं प्रातः स मृत्युजित् ।।
४. मध्वाज्यैः पयसा वापि, निर्गुण्डी रोगमृत्युजित् ।
५. पञ्चाङ्गं निम्बचूर्णस्य, खदिरक्वाथभावितम् ।।
कर्षं भृङ्गरसेनापि, रोगजिच्चामरो भवेत् ।

भी यह उत्तम औषधि है। अदरख के रस के साथ मधु मिला कर रोगी को पिलाने से अरुचि, श्वास, कास; प्रतिशय (जुलाम) और कफ विकार को नष्ट करता है। (अग्नि पु. २८५)

व्याख्या—जो उपासक भक्तजन मुझ परमात्मा श्रीकृष्ण को सर्वत्र (सभी भूतों) में देखता है और सभी भूतों को मुझ परमात्मरूप सर्वाधिष्ठान में देखता है वह जगज्जन्य दुःखों से प्रभावित नहीं होता। क्योंकि जब परमात्म विषयक अपलाप वह नहीं करता तो उसका विनाश मैं नहीं करता क्योंकि मेरा विनाश वह नहीं करता। तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्ममयबोध दृष्टिवाला भक्त है वह ब्रह्म के विनाशशील नहीं होने के कारण उभयतः प्रणाश रहित प्रज्ञावान् होता है। इसीलिए श्रुति कहती है—"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत् विज्ञानाति स भूमा" अर्थात् जहाँ (भूमातत्त्व में) कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं जानता वह भूमा (ब्रह्म) है। जहाँ कुछ और देखता सुनता और जानता है वह अल्प है। भूमा तत्त्व ही अमृत है और जो स्वल्प है वह मर्त्य है। उस तत्त्व को कौन सम्यग् जान सकता ? श्रुति भगवती कहती है—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (वृ.उ. २/४/१४) अरे भाई जो सम्पूर्ण भूतों के विज्ञाता है उसे कौन किस करण से जान सकेगा ? (छा.उ. ७/२४/१)

व्याख्या—वाकुची के पञ्चाङ्ग के चूर्ण को खैर (कत्था) के क्वाथ के साथ छः महीने तक सेवन करने से रोगी कुष्ठ रोग पर विजय प्राप्त कर लेता है। नीली कटसरैया के चूर्ण को मधु या गो दुग्ध के साथ सेवन करने से रोग में हितकारी होता है। खाँड़ के साथ गोदुग्ध का सेवन करनेवाला सौ वर्ष

६. कर्षचूर्णं हरीतक्या, भावितं भृङ्गराड्रसैः ।।
धृतेन मधुना सेख्य, स्त्रिशतायुश्च रोगजित् ।।
व्ययपे लग्नं प्राप्ते, विदेशगः सुवचनः सुरूपश्च
अपसङ्ग वाद दोषी, भवति कुमारोऽथवा षण्डः ।। (मान. ३१)
सुकृतेशे हिबुकस्थे......पितृमित्रादिकेऽपि हितः
विदितः सुकृती ।
सुकृतस्थस्तनयपतिः सुबोधविद्या कविः संगीतज्ञः ।
नृपपूजितं सुरूपं नाटकरसिकं नरं कुरुते ।।(मानसा-३)
षष्ठपतौ द्वादशगे चतुष्पदाद् द्रव्यहानिकरः ।
गमनागमनं लक्ष्मीहा, दैवपरो भवति ।।(मानसा-३)

की आयु प्राप्त करता है। मधु-धृत–और सौंठ को चार तोला की मात्रा में मिलाकर प्रातः प्रतिदिन सेवन करनेवाला मृत्यु को जीत लेता है।

मधु-धृत अथवा गोदुग्ध के साथ निर्गुण्डी अर्थात् मेउड़ के रस का सेवन करनेवाला रोग एवं मृत्यु दोनों को जीत लेता है। नीम के पञ्चाङ्ग चूर्ण को खैर के क्वाथ (काढ़े) की भावना देकर भृङ्गराज के रस के साथ एक तोलाभर सेवन करने से रोगी मनुष्य रोग को जीत कर अमरता को प्राप्त कर लेता है। हरीतकी के चूर्ण को भृङ्गराजरस की भावना देकर एक तोले की मात्रा में घृत और मधु के साथ सेवन करने से रोग से मुक्त होकर तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। (अग्नि पुराण २८६)

व्याख्या–यदि लग्न में व्यय करनेवाला ग्रह बैठा हो तो वह जातक विदेश गमन करनेवाला, सुन्दर वचन बोलनेवाला, स्वरूपतः सुन्दर, अपसङ्गी, वाद-विवाद करनेवाला, दोषी, षण्ड (नपुंसक) अथवा कामवासना से रहित होता है। जब जातक की कुण्डली में राहु सुकृत स्थान में बैठा हो तो वह जातक पिता, मित्र आदि बन्धु-बान्धयों के हित चिन्तक होता है और वह लोक विदित पुण्यात्मा होता है। जब जातक के जन्म कुण्डली में पुत्रजनकग्रह सुकृत स्थान में बैठा हो तो वह जातक ज्ञानी, कवि, संगीतज्ञ होता है वह नृपपूजित, सुन्दर शरीरवाला, नाटक का रसिक होता है। जब जातक के कुण्डलीस्थ छठेस्थान का मालिक ग्रह द्वादश स्थान में हो तो जातक के चतुष्पद (हाथी-घोड़ा, बैल, बकरी मोटरगाड़ी) आदि से द्रव्य हानि कराता है। देश-विदेश गमानागमन उसके लिए धननाश कारक होता है और वह भाग्य पर निर्भर रहनेवाला होता है। (अग्निपुराण कल्पसार–२८६)

सप्तमपे द्वादशगे गृहबन्धुरतो न वा भवेत् भार्या।
सलोला दुष्टयुता दूराच्चलति तस्य पुरुषस्य।।
मृतिनाथे धर्मस्थै, निःसगी जीवघातकः पापी।
निर्बन्धुर्निःस्नेही, पूज्यो विमुखे मुखेव्यङ्गः।
सुकृतेशे हिबुकस्थे पितृभक्तः ....।
चित्तशुद्धि बलिष्ठो मन्त्रारक्षः क्रियालसः सौरः।
अतिमतिविभवो बालः पापविमुक्तो निजोच्चगे शशिजे।।

(मा. ३/४)

व्याख्या–यदि जातक के व्ययस्थानीयग्रह लग्न में बैठा हो तो उस जातक को विदेशगमन का योग प्राप्त होता है। वह जातक मधुरवाणी बोलनेवाला और स्वरूप से सुन्दर होता है। वह अपसंगवादी, दोषी, कुमार (विवाह रहित) अथवा नपुंसक होता है। (मानसागरी–३१) सुकृतस्थानीय-ग्रह यदि राहु के स्थान में बैठा हो तो जातक पिता और मित्र आदि का हित चिन्तक तथा प्रसिद्ध धर्मात्मा होता है। यदि ज्ञातक की कुण्डली के धर्मस्थान में पुत्रदायकग्रह बैठा हो तो वह विद्या का उत्तम बोध रखनेवाला, कवि, संगीतज्ञ, राजाओं से पूजित, सुन्दर स्वरूपवाला, नाटक का रसिक होता है। (मानसागरी–३) यदि षष्ठाधिपतिग्रह कुण्डली में बारहवें स्थान में हो तो जातक को चतुष्पदादि से द्रव्य की हानि होती है। जातक के देश-विदेश गमनागमन से लक्ष्मी (धनादि) की हानि होती है और वह जातक भाग्य पर निर्भर रहता है।

(मानसागरी–३)

व्याख्या–यदि जातक के सप्तमाधिपति ग्रह कुण्डली के द्वादश स्थान में हो तो वह जातक गृह और बन्धुओं में आसक्त रहता है और उसे स्त्री (विवाह) नहीं होता है। यदि उसका विवाह हो भी जाता है तो उसकी स्त्री इतनी चंचला होती है कि उससे दूर ही रहा करती है। मृत्यु के अधिपति ग्रह यदि जातक के धर्मस्थान में बैठा हो तो वह निःसन्तान होता है। वह जातक जीवघातक, पापी, बन्धु रहित, स्नेह विहीन, पूज्य, विमुख तथा टेढ़ा मुखवाला होता है। यदि जातक के कुण्डली में पुण्य के अधिपतिग्रह राहु के साथ बैठा हो तो वह पितृभक्त होता है। यदि शशिपुत्र बुध जातक की कुण्डली में नीच का होकर बैठा हो तो वह शुद्धचित्तवाला, बलिष्ठ, विचार से दुर्बल, क्रिया में आलसी, शूर-वीर, बुद्धि से बालक और पाप विमुक्त होता है।

(मानसागरी–३/४)

तिथि —	कुपथ्य —	रोग उत्पन्न
१.	कुम्हड़ा	चर्मरोग
२.	कुम्हड़ा	अर्वुद
३.	परतल	वातरक्त
४.	मूली	आँव
५.	वैल	पित्तप्रकोप
६.	नीम	अण्डवृद्धि
७.	ताड़	रक्तपित्त

व्याख्या—

१. प्रतिपदा तिथि को कोहड़ा खाने से चर्मरोग होता है।

"प्रतिपत्सु च कुष्माण्डमभक्ष्यमर्थनाशनम्"
प्रतिपदा को कोहड़ा नहीं खाना चाहिये।
खाने से अर्थ का नाश होता है।

२. द्वितीया तिथि को कोहड़ा खाने से अर्बुद रोग होता है।

"द्वितीयायां च वृहती भोजने न स्मरेद्धरिम्"
द्वितीया को बैगन नहीं खाना चाहिये।

३. तृतीया को परवल खाने से आँव रोग होता है।

"अभक्ष्यं च पटोलं च शत्रुवृद्धिकरं परम्।"
तृतीया को परवल खाने से शत्रु की वृद्धि होती है।

४. चतुर्थी को मूली खाने से आँव रोग होता है।

"तृतीयायां चतुर्थ्यां च मूलकं धननाशकम्।"
तृतीया और चतुर्थी को मूली खाने से धन का नाश होता है।

५. पंचामी को बेल खाने से पित्तप्रकोप होता है।

"कलङ्ककारणं चैव पञ्चम्यां विल्वभक्षणम्।"
पंचमी को बेल खाने से कलंक लगता है।

६. षष्ठी को नीम के सेवन से अण्डकोश की वृद्धि होती है।

"तिर्यग्योनिं प्राप्येत्तु षष्ठ्यां च निम्बभक्षणम्"
षष्ठी तिथि को नीम के सेवन से नीच योनि की प्राप्ति होती है।

७. सप्तमी तिथि को ताड़ खाने से रक्तपित्त रोग होता है।

"रोगवृद्धिकरं चैव नराणां तालभक्षणम्
सप्तम्यां च तथा तालं शरीरस्य च नाशकम्"
सप्तमी तिथि को तालभक्षण से रोग वृद्धि और शरीर का नाश करनेवाला होता है।

८.	नारियल	अजीर्ण
९.	लौकी	वातकफ
१०.	कल्मीसाग	आम्लपित्त
११.	सेम	ज्वर
१२.	पोई	खाँसी-यक्ष्मा
१३.	बैगन	कण्डू
१४.	उर्द	अतिसार
१५.	मांस	कफ विकार

८. अष्टमी तिथि को नारियल भक्षण अजीर्ण रोग उत्पन्न करता है।	"नारिकेलफलं भक्ष्यमष्टम्यां बुद्धिनाशनम्।" अष्टमी तिथि को नारियल फल के भक्षण से बुद्धि का नाश होता है।
९. नौमी तिथि को लौकी खाने से वातकफ रोग होता है।	"तुम्बी नवम्यां गोमांसम्" नौवी तिथि को लौकी गोमांस के समान त्याज्य है।
१०. कलमी साग दशमी तिथि को खाने से अम्लपित्तरोग होता है।	"दशम्यां च कलम्बिका" और दशमी तिथि को कलमी साग त्याज्य है।
११. एकादशी को सेम खाने से ज्वर का प्रकोप होता है।	"एकादश्यां तथा शिम्बी" एकादशी तिथि को शिम्बी (सेम) खाने से पुत्र का नाश होता है।
१२. द्वादशी तिथि को पोई साग खाने से खाँसी तथा यक्ष्मा रोग होता है।	"द्वादश्यां पूतिकात था" द्वादशी तिथि को पोई साग खाने से पुत्रनाश होती है।
१३. त्रयोदशी तिथि को बैगन खाने से खुजली रोग होता है।	"त्रयोदश्यां च वार्ताकी भक्षणं पुत्रनाशनम्" त्रयोदशी तिथि को बैगन खाने से पुत्रनाश होता है। (ब्रह्मवैवर्तपु. २७/२९-३४)
१४. चतुर्दशी को उड़द का सामान खाने से अतिसार रोग होता है।	कुहूपूर्णेन्दुसंक्रातिचतुर्दश्यष्टमीषु च। रवौ श्राद्धे व्रताहे च दुष्टं स्त्री तिलतैलकम्॥
१५. अमावास्या एवं पूर्णिमा को माँस खाने से कण्ठ विकार होता है।	अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, चतुर्दशी और अष्टमी तिथि एवं रविवार श्राद्ध और व्रत के दिन स्त्री का संग तथा तिल का तेल लगाना वर्जित है। (ब्रह्मवै.पु. २७/३७-३८)

शास्त्रों में वैज्ञानिक ढ़ग से भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया गया है । प्रसङ्गात् यहाँ भक्ष्याभक्ष्य विज्ञान को संक्षेपतः प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. कुहूपूर्णेन्दुसंक्रान्ति चतुर्दश्यष्टमीषु च ।। रवौ श्राद्धे व्रताहे च दुष्टं स्त्री तिलतैलकम् । (ब्रह्मवै.पु. ब्रह्म ख. २७/३७-३८)	अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, चतुर्दशी और अष्टमी तिथि को स्त्री का संग और तिलतेल का सेवन निषिद्ध है । (ब्रह्म वै.पु.)
2. आद्रकं रक्तशाकं च रवौ च परिवर्जयेत् । (ब्रह्मवै.पु. ब्रह्म ख. ८५/२२)	आदी और लालरंग के साग का भक्षण रविवार और निषिद्ध है । (ब्रह्म वै.पु.)
3. वातिङ्गण फलं चैव, सर्वेषां च रवेर्दिने । गोमांसं कार्तिकि स्मृतम् ।	बैगन का भक्षण रविवार और कार्तिक मास में गोमांस सदृश त्याज्य है ।
वातिङ्गणफलंचैव गोमांसं कार्तिकि स्मृतम् । माघे च मूलकं चैव कलम्बी शयने तथा ।। (ब्रह्मवै.पु. ब्रह्म ख. ८५/२२)	कार्तिक मास में बैगन, माघ में मूली और हरिशयन एकादशी के बाद कलम्बी साक निषिद्ध है । (ब्रह्म वै.पु.)
4. सर्वं तिलसम्बद्धं नाद्यात् अस्तमिते रवौ । (मनुस्मृति ४/७५)	कोई भी तिलयुक्त पदार्थ सूर्यास्त के बाद नहीं खाना चाहिये । (मनु स्मृ.)
5. रात्रौ दधि च सक्तूंश्च मित्यमेव व्यवर्जयन् (महाभा.शा.प. २२८/३७)	रात्रि में दही और सत्तू खाना निषिद्ध है । (महाभा.शा.प.)
6. नाश्नीयात् पयसा तक्रम् ।(कूर्मपु.उ.१७/२५)	दूध के साथ मट्ठा कभी नहीं खाना चाहिये । (कूर्म पु.उ.)
7. अभक्ष्यं मधुमिश्रं च घृतं तैलं गुडं तथा । आद्रकं गुडसंयुक्तं अभक्ष्यं श्रुतिसम्मतम् ।। (ब्रह्मवै.पु. श्रीकृष्ण ख. ८५/८)	मधु से मिश्रित घी, तेल, गुड अभक्ष्य है तथा गुड युक्त आदी भी खाना निषिद्ध है ।
8. पानीयं पायसं चूर्णं घृतं लवणमेव च । स्वस्तिकं गुडकं चैव क्षीरं तक्रं तथा मधु ।। हस्ताद्धस्तगृहीतं च सद्यो गोमांसमेव च । (ब्रह्मवै.पु. श्रीकृष्ण ख. ८५/७)	पीने का जल, खीर, चूर्ण, घी, नमक, स्वस्तिक, गुड, दूध, मट्ठा एवं मधु एक हाथ से दूसरे हाथ में ग्रहण करने पर तत्काल गोमांस सदृश अभक्ष्य हो जाता है । (ब्रह्म वै.पु.)
9. ताम्रपात्रे पयःपानं उच्छिष्टं घृतभोजनम् । दुग्धं सलवणं चैव सद्यो गोमांसमक्षाम् ।। (ब्रह्मवै.पु. श्रीकृष्ण ख. ८५/७)	ताम्र पात्र में दुग्धपान, जूठे में घृत भक्षण, दूध में लवण का भक्षण गोमांस के समान निषिद्ध है । (ब्रह्म वै.पु.)

10. अयः पात्रे पयः पानं गव्यं सिद्धान्नमेव च। भ्रष्ट्रादिकं मधु गुडं नारिकेलोदकं तथा।। फलं मूलं च यत्किञ्चिदभक्ष्यं मनुरब्रवीत्। (ब्रह्मवै.पु. श्रीकृष्ण ख. ८५/८)	लोहे के पात्र में जलपान, गव्य (गाय का दूध, दही, धृतआदि) में पकाया हुआ अन्न, भाड़ में भूंगा हुआ अन्न, मधु, गुड, नारियल का जल, फल मूल जो कुछ भी उसमें रखा गया हो वह अभक्ष्य है, यह मनु का मत है। (ब्रह्म वै.पु.)
११. लसुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कावकानि च। वार्ताकं नारिकेरं तु मूलकं जाति दुष्टकम्।। (भविष्य पु. ब्रह्म ख. १८६/२२)	लसुन, प्याज, गाजर, शलगम, सफेद बैंगन एवं नालियों आदि अपवित्रस्थल में उत्पन्न, वस्तु और मूली जात्या ही अपवित्र-अभक्ष्य है। (भविष्य पु.)
१२. सुराभाण्डोदरे वारि पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्। (कूर्म पु.उ. ३३/७१)	सुरापात्र में पानी पीने पर चान्द्रयण व्रत करके शुद्धि प्राप्त होती है। (कूर्म पु.)
१३. यः स्वार्थं मांसपचनं कुरुते पापमोहितः। यावन्त्यस्य रोमाणि तावत्स नरके वसेत्।। परप्राणैस्तु ये प्राणान् स्वान् पुष्णन्ति हि दुर्धियः। आकल्पं नरकान् भुत्त्वा ते भुज्यन्तेऽत्र तैःपुनः।। जातु मांस न भोक्तव्यं प्राणैः कण्ठशतैरपि। (स्क.पु.का.ख.पू. ३/५१-५३)	जो अपने देह के निमित्त मांस पकाता है वह पाप से मोहित पुरुष पशु के शरीर में जितने रोयें होते हैं उतने वर्ष नरक में वास करता है। जो दूसरों के प्राणों को लेकर अपना पोषण करता है वह दुर्बुद्धि कल्प पर्यन्त अनेक नरकों का भोग-भोगकर पुनः इस लोक में जन्म लेकर दुःखों को भोगता है। इसलिए कदापि मांस भक्षण नहीं करना चाहिये, चाहे प्राण कण्ठगत क्यों न हो। (ब्रह्म वै.पु.)

स्मरणीय–

१. चैत्र शुक्लपत्र १ (प्रतिपद्) प्रातः सूर्योदय के समय बायां स्वर चलने का ध्यान रक्खे। स्वर गड़बड़ होने से सालभर गड़बड़ रहेगा। प्रातःकाल नीम की कोमल पत्ती, काली मिर्च के साथ एक माह खाने से सालभर तेज बुखार नहीं आवेगा।

२. आषाढ़ कृष्ण १ (प्रतिपद्) को दिन में नहीं सोना चाहिये, नहीं तो सालभर आलस्य रहेगा।

३. कार्तिक कृष्ण १४ (चतुर्वशी) को तेल मालिस अवश्य करें, चाहे जिस समय हो। इसमें तिथि-वार-व्रत आदि की रुकावट नहीं होती।

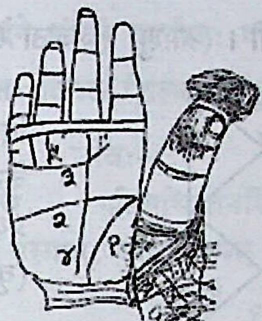
१. पितृरेखा

२. मातृरेखा

३. जीवनरेखा

४. भाग्यरेखा

५. पुण्यरेखा



गुडस्याष्टपले पथ्या विंशति स्युः पलं पलम्।
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पली त्रिवृतो दश।।
कृत्वैतान्मोदकानेकं दशमे-दशमेऽहनि।
ततः खादेदुष्ण तोय, सेवी निर्यन्त्रणास्त्वमी।।
दोषघ्ना ग्रहणी पाण्डु, रोगार्शः कुष्ठनाशनाः।।

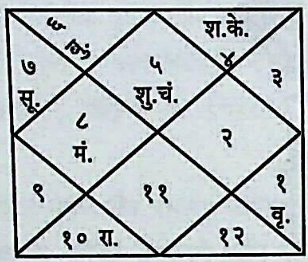
(सुश्रुत सं. सू. ४४)

व्याख्या–यहाँ पर प्रतीक चित्र हाथ का दिया गया है और हाथ में पाँच रेखाओं को एक से पाँच अंक तक संकेत लिख कर इंगित किया गया है। जीवन की पाँच मुख्य रेखाएँ होती है जिससे जीवन का मुख्य जीवन, कर्म, ज्ञान, भविष्य और फल का संकलन-कथन किया जाता है। अंक एक से इंगित रेखा को पितृरेखा कहते हैं। अंक दो से इंगित रेखा को मातृरेखा कहा जाता है। अंक तीन से संकेतित रेखा को जीवन रेखा, अंक चार द्वारा इंगित रेखा भाग रेखा एवं अंक पाँच से संकेत की गई रेखा को पुण्यरेखा कहते हैं।

व्याख्या–गुड़ आठ पल, पथ्या बीस पल, गजदन्ती और चित्रक एक-एक पल, पिप्पली, दो कर्ष, त्रिवृत दश पल को मिलाकर अनेक मोदक बनाकर और दस-दस दिन में गरम पानी के साथ खाने से वह ग्रहणी, पाण्डु, अर्श और कुष्ठ रोग को नष्ट कर देता है और विभिन्न प्रकार के दोषों (रोगों) को शमन करता है।

(सुश्रुत सं. सू. ४४)

१९७३ सं. विक्रमी । (श्रा.शु. १०जेष्ठा रे. १ प्र.)



विद्याधियौ जीवबुधौ ।
केन्द्रत्रिकोणस्वगृहोच्च संस्थौ,
प्रयच्छतां द्रागनवद्यविद्याम् ॥
(वृ.पा.हो.)

धर्मे जीवे धर्म कर्ता, साधुसङ्गी च शास्त्रवित् ।
निरीहस्तीर्थसेवा च ब्रह्मज्ञश्च प्रजायते ।। (लग्न चं.)
वक्री पापाति पापा, वक्री शुभाति शुभा ।
पाँताले अम्बँरे द्वादशे वा पापः ।
पितरं मातरं हन्ति, देशाद्देशान्तरं व्रजेत् ।। (मानसा. ४/१५)
सुरा कृशरा पायसां च नैकत्र्यं नाश्नीयात् । (सुश्रुत सं.सू. २०)
३—भातृनाशः धैर्ययुक्तः सहिष्णुः, (मानसा—२)
धनगतशशिसूनौ, सुस्थिरः पापभीरुः सत्यवादी सर्वकालप्रवासी ।

व्याख्या—उपर्युक्त जन्मटिप्पण में केन्द्र के साथ ग्रहों के त्रिकोण योग बनने पर उसके फल को उद्घाटित किया गया है । अब उक्त का फलादेश कहते हैं—यदि जातक की कुण्डली में मंगल और बुध ग्रह केन्द्र से त्रिकोण बनाता हो और अपने घर में उच्च होकर बैठा हो तो जातक विद्वान, बुद्धिमान् और शीघ्र ही निर्मल विद्या सम्पन्न होता है । (वृ.पा.हो.)

यदि जातक की कुण्डली में धर्मस्थानीय मंगल हो तो वह जातक धर्म-कर्म करनेवाला, साधुओं के साथ संग करनेवाला और शास्त्रज्ञ होता है तथा वह जातक विषयों से निरपेक्ष, तीर्थ में निवास करनेवाला और ब्रह्मज्ञानी होता है । (लग्न चन्द्रिका) यदि जातक की कुण्डली में पापग्रह पाताल (चौथे स्थान) एवं अम्बर (दसवें स्थान) में हो तो जातक के माता-पिता के मृत्यु योग को बनता है तथा वह ज्ञातक एक देश से दूसरे देश को गमन करनेवाला होता है । (मानसागरी ४/१५)

व्याख्या—जातक की कुण्डली में यदि सूर्य तृतीय स्थान का हो तो जातक के भाई की मृत्युयोग को बनता है एवं वह जातक धैर्यशील और सहिष्णु होता है । (मानसागरी २)

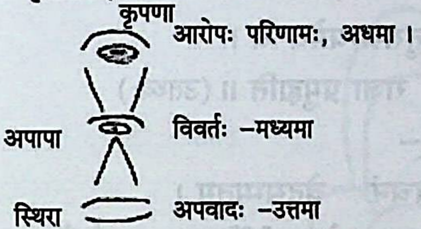
यदि जातक की जन्म कुण्डली में शशिपुत्र बुध धनस्थान में बैठा हो तो वह जातक सुस्थिर, पापभीरु, सत्यवादी और जीवन पर्यन्त प्रवासी होता है । शुक्र यदि जातक के लग्नपत्रिका में शरीरस्थानीय होकर

जनुषि लग्नगते भृगुनन्दने भवति कार्यरतः परपिण्डतः
... कौतुहा विधिचेष्टितः विमल शिल्पयुते सदने रतः ।।

जीवः–

अज्ञानजन्यकरणप्रतिबिम्बवाचि, जीवाभिधानमिह वृद्धजनप्रसिद्धम् ।
तत्रैव निर्वचनमस्ति च तस्य तस्मात्, जीवो भवेत् करणपूगवशीकृता चित् ॥
(संक्षेप शारीरके २/२०)

आरोप दृष्टिरुदिता परिणामः–



भक्त्यैक सम्बला ये च, शंकरैक निकेतनाः ।
भुञ्जते ते महाभागा, भवभङ्गकरीं कृपाम् ॥ (पूर्णज्योतिः)

जन्मलग्न में बैठा हो तो जातक कार्यरत, दूसरों के भोजन पर आश्रित, कौतुकी, भाग्य से प्रेरित होनेवाला, विमल, शिल्प कार्य से सम्बन्ध रखनेवाला तथा घर में आसक्त रहनेवाला होता है।

व्याख्या–अज्ञानजन्य (मूलाविद्या से उत्पन्न) आत्मप्रतिबिम्बित अन्तःकरण जीव वाचक है ऐसा वृद्धजनों (विद्वानों) में प्रसिद्धि है। उस आत्म प्रतिबिम्बित अन्तःकरण का निर्वचन जीवात्मा रूप से किया जाता है। इसलिये वह अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, जो चित् को वशीकृत करके अन्तःकरण को पूर्ण किया है जीव संज्ञक कहलाता है। (संक्षेप शारीरक्रम २/२०)

आरोपदृष्टि से उत्पन्न परिणाम ये हैं—प्रथम दृष्टि आरोप दृष्टि है। यह दृष्टि कृपणा है। इससे अतद्वस्तु में तद्वस्तु की प्रतीति होने से इसका परिणाम मिथ्यात्मक होता है, यथा—"सुक्तौ इदं रजतम्" स्थल में सुक्ति रजत नहीं है इसलिए वह अतद्वस्तु है; और उस अतद्वस्तु सुक्ति में तद्वस्तु रजत की प्रतीति होने से मिथ्यात्मक है। इसलिए यह दृष्टि कृपणा और अधमर कहलाती है। दूसरी अयापा दृष्टि है जिससे यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त है इस प्रकार का बोध होता है। अतः यह उभयात्मक होने से अपापा और मध्यमा है। तृतीया स्थिरा दृष्टि अपवादक होती है यथा "नेदं रजतम्" यह रजत नहीं है स्थल में रजत का निषेध कर यथार्थ बोधक होती है। अतः यह उत्तमा और स्थिरा कहलाती है। जो भक्ति को ही सम्बल बना रखा है और भगवान् शिव के शरणपरायण है, ऐसे महाभाग्यशाली साधक भवभञ्जन करनेवाली भगवत्कृपा को प्राप्त करते हैं। (पूर्णज्योति)

श्रद्धायाः—वाल्यं—विश्वासः। यौवनं—प्रीतिः।
प्रौढत्वं—निर्भरता। वृद्धत्वम्—ज्ञानम्।

श्रीरूवाच—

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं, बलं चैव तथाप्यहम्।
शीलमूला महाप्राज्ञ! .... (महाभारत)
अद्रोहः सर्वभूतेषु, कर्मणा, मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च, शीलमेतत्प्रशस्यते॥
चातुर्वर्ण्यं तथा वेदा, श्चातुराश्रम्यमेव च।
सर्वं प्रमुह्यते ह्येत, द्यत्र राजा प्रमुह्यति॥ (उतथ्यः)

शीलम्—

मुकुं भक्तिरसप्रेम, वचनं वेदसम्मतम्।
यस्तद् ददाति विप्रेभ्यो, मुकुन्दस्तेन कीर्तितः॥ (ब्रह्मवैवर्त्ते)

व्याख्या—श्रद्धा की वाल्यावस्था में स्वरूप विश्वास है, यौवनावस्था में प्रीतिरूप है, प्रौढ़ावस्था में निर्भरतारूप है और वृद्धावस्था ज्ञानरूप है।

व्याख्या—श्रीः (लक्ष्मी) ने कहा—हे महाप्राज्ञ! धर्म, सत्य, आचरण, बल और अहंकार ये सभी शीलमूलक होते हैं। (महाभारत)

अब शील शब्द को परिभाषित किया जा रहा है—मनसा—वाचा—कर्मणा सभी प्राणियों के प्रति अद्रोह (अहिंसक) भाव रखना, उन पर अनुग्रह करना, दान देना ये शील के लक्षण हैं। (महाभारत) महात्मा उतथ्य कहते हैं—हे राजन्! जिस राज्य के राजा मोहित (मोहग्रस्त) होते हैं, वहाँ की सारी चातुर्वर्ण प्रजा और चारों आश्रम के आश्रितजन तथा वेद (ज्ञान) भी मोहित हो जाते हैं।

(महाभारत)

भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) का एक नाम मुकुन्द भी है। मुकुन्द नाम श्रीकृष्ण का इसलिए है कि-वे ब्राह्मणों को मुकुं अर्थात् भक्तिरस में प्रेम और वेद सम्मत वचन प्रदान करते हैं। इसलिए उनका नाम मुकुन्द पड़ा है। मुकुं का अर्थ भक्तिरस, प्रेम और वेद सम्मत वाणी हैं।

(ब्रह्म वैवर्त पुराण)

१	२	३	४	५
सद्योजातः शुक्लं पश्चिमे भूमिः	वामदेवः पीतवर्णं उत्तरे जलम्	अघोरः कृष्णं दक्षिणे अग्निः	तत्पुरुषः रक्तः पूर्वे वायुः	ईशानः श्यामलम् मध्ये आकाशः

पूर्वा

उत्तरा दक्षिणा



पश्चिमम्

व्याख्या—यहाँ पर पञ्चमुख शिव का विचार किया जा रहा है। भगवान् शिव के पाँच मुखों में प्रथम सद्योजात देवता पश्चिमवाला मुख है। इसका वर्ण शुक्ल और तत्त्व भूतत्त्व है। द्वितीय उत्तर मुख के वामदेव देवता हैं, जिनका वर्ण पीत और तत्त्व जलतत्त्व है। चतुर्थमुख पूर्व में रक्तवर्ण के तत्पुरुष देवता हैं। तत्पुरुष वायुतत्त्वरूप हैं। मध्य में श्यामलवर्ण के ईशान देवता आकाश तत्त्वस्वरूप हैं। प्रतीक चित्र से भी इसे सम्यक् समझा जा सकता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि साधक-पूजक-भक्त पञ्चमुख शिव की आराधना पञ्चतत्त्वात्मक स्वरूप का करे।

॥ ध्यायेत् ॥

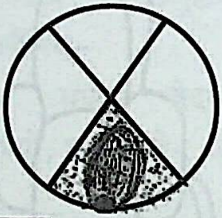


परंज्योतिरहं ब्रह्म ॥
कुण्डल्या सह जीवं च
ब्रह्ममार्गेण योगवित् ।
शिरस्थे पुष्करस्थाने
परमात्मनि योजयेत्।
चतुर्विंशति तत्त्वानि
विलीनानि विभावयेत् ।

हत्पद्मनि लयं जीवं
चैतन्यज्योतिरव्ययम् ।
ध्यायेत्कुण्डलिनीं शक्तिं
मूलाधार निवासिनीम् ।



पाषाणपात्रे पत्रे वा सर्वेषां भोजनं शुभम् ॥ (वि.घ.पु.)



त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

पादोस्य विश्वाभूतानि ।
अजामेकां लोहितशुक्ल-
कृष्णाम् ॥

व्याख्या—प्रकृति के चौबीस तत्त्व हैं यथा पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, पञ्चतन्मात्रा और मन-बुद्धि-चित्त एवं अहंकार। साधक इन तत्त्वों को परमात्मा में विलीन कर कुण्डलिनी शक्ति जो मूलाधार निवासिनी कही जाती हैं को जीवात्मा के साथ शिर पर स्थित पुष्करस्थान में विद्यमान परमात्मा में योजित करे। हत्पद्म में स्थित जो जीवात्मा है वही अव्यय ज्योति है ऐसी भावना भी शिरस्थ-पुष्करस्थानीय परमात्मा के साथ एकीभाव स्थापन के लिए करे। पुन साधक एकीभाव प्राप्त कर "परंज्योतिरहं-ब्रह्म" अर्थात् मैं यही परंज्योतिब्रह्मस्वरूप हूँ भावना करे और अभेद-अद्वितीय भाव को प्राप्त कर आनन्दविहरण करता रहे।

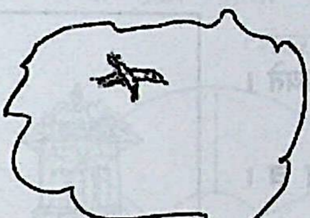
पाषाणपात्र तथा पत्तल में सभी के लिए भोजन शुभकारी होता है। (वृहद्धर्मपुराण)

व्याख्या—परमात्मा ब्रह्म के एक पाद से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है और उनका तीन पाद दिव्यलोक में अमृत रूप से विद्यमान रहता है अर्थात् तीन पाद अमृतरूप है और एक पाद से मर्त्यलोकादि में सम्पूर्ण भूतवस्तु का सृजन होता है। वह ब्रह्मा सृष्टिकाल में तीनगुणवाली अजा (माया), जो लोहित (रजोगुण) पीत (सतोगुण) और कृष्ण (तमोगुण) वर्णा है, को वशीकृत कर जगत्सृष्टि करता है। श्रुति कहती है कि "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्स ईषल्लोकान्नुसृजा इति स इमांल्लोकानसृजत", "यत्सप्तान्नानि मेधया तपसा जनयत्पिता" इत्यादि वचनों से जगत्स्रष्टृत्व ब्रह्मघटित है।

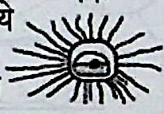
आकाशे विहगोऽस्ति नास्ति च यथा तद्वत्परब्रह्मणि,
स्वच्छे चिद्वपुषि स्वभावविमलेऽसङ्गे शिवे शाश्वते।
निर्भेदेऽभुदयव्ययेऽनवयवेऽ विद्याभवेन्नो भवेत्।
इत्येवं निरवद्यमाहुरपरे पक्षव्यवस्थार्थिनः।।

(संक्षेप शारीरिकम् २/१३४)

चित्र–२



गृहस्थस्य त्रिधा धर्म



शुद्धतां मनसि प्राप्ते जीवस्तुर्य स्थितो भवेत्।

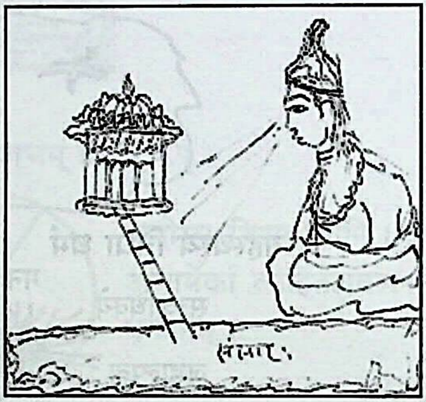
आकाश में पक्षी है, नहीं है यह दो विकल्प भिन्न-भिन्नमतवादियों का जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार परब्रह्म से सृष्टि होती है नहीं होती है पक्षद्वय उपस्थित होता है। उसी प्रकार स्वच्छ, चिच्छरीर, स्वभाव से ही विमल, असङ्ग, शाश्वत, शिव, निर्भेद, अव्यय, अनवयव ब्रह्म में अविद्या हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, दो पक्ष है; यह ब्रह्म को निरवद्य पक्ष माननेवालों का पक्ष है। दूसरे लोग इससे भिन्न पक्ष रखनेवाले होते हैं। प्रतीक चित्र में पक्षी को आकाश में इसी अभिप्राय से दिखाया गया है। इसका मुख्य अभिप्राय है—जिस प्रकार निरवयव आकाश में "पक्षिणः" उड्डीयन्ते" प्रयोग होता है इस पर कोई पक्ष आपत्ति नहीं करता, उसी प्रकार निरवयव-विमल ब्रह्म में अविद्या की कल्पना युक्तियुक्त है। (संक्षेपशारीरक २/१३४)

गृहस्थों का तीन कर्म हैं—(१) तमाधिक्य कर्म-तमाधिक कर्म की जड़ता अधिक होने से आलस्यादि अभिभूत कर्म होने के कारण ठीक से नहीं हो पाता। (२) रजोऽधिक्य कर्म-इसमें कामेच्छा कर्मफलबद्धबुद्धि होने से अधिक सक्रियता रहती है। (३) सत्त्वाधिक्यकर्म-इसमें मन की शुद्धता प्राप्त हो जाने से जीवात्मा तुर्यावस्था में प्रविष्ट हो जाता है।

अकिञ्चनधनं ब्रह्म, चानुगृह्णाति यं नरम्।
तच्छुध्यर्थं सुधां धारां, दुःखरूपेण वर्षति ।।
(पूर्णज्यो. म. ११/४)

नानारूप महद्दुःखं, नानावेशं सुपावनम्।
आवाह्य शिवापत्यं, श्रद्धान्वितः शिवान्वितम्।।

दुःखेन हन्यते दुःखं,
दुःखात्सौख्यं प्रजायते।
प्रियेण प्रेमपूर्णेन,
कारुण्यसागरेण च।
दुःखवंशः सहृद्दूतः
प्रेरितः करुणावशात्।।



व्याख्या–जिसको अकिञ्चनतारूप ब्रह्म ने वरण कर लिया है, उसे शुद्ध करने के लिए दुःखरूप से अमृतधारा बरसने लगती है। (पूर्ण ज्यो.म. ११/४)

उसे पवित्र करने और पवित्र रखने के लिए गौरी से युक्त गणपति को आवाहन कर वे नाना रूप और पवित्र वेशधारी महद्दुःख उनके सम्मुख उपस्थित होते हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये। अथवा ये महद्दुःख के नाना रूप और वेश उमा सहित गणपति जी का पवित्र वेश है ऐसा जानकर उनकी पूजा करनी चाहिये, ये उभयरूप से भावनापक्ष है।

दुःख के द्वारा ही दुःख को नष्ट (दूर) किया जाता है। दुःख के गर्भ से ही सुख की उत्पत्ति होती है। दुःख से ही परम निर्माणरूपा शान्ति की प्राप्ति होती है।

दुःखवंश से समुद्भूत सुहृत् (जो किये गये उपकार के बदले में कुछ नहीं चाहता वह सुहृत कहलाता है। करुणा के वशीभूत होकर मनोहारी प्रेम से परिपूर्ण करुणारूपी सागर से उत्पन्न दुःख समूह को साधक-योगी-भक्त के पास सेवा के लिए भेजता है ताकि वह पवित्र रहकर साधनापूर्ण कर सके।

दुःखरूप संसार सागर में डूबता-ऊपर होता हुआ, दुःख से व्याकुल जीवात्मा उक्त दुःख से निवृति और सुख चाहता है। वस्ततस्तु सुख और दुःख तो मन का धर्म है यथार्थ में सुख-दुःख है नहीं। परन्तु

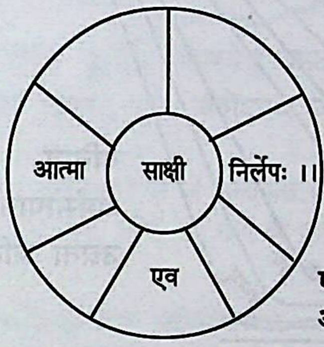
यक्षाणां यक्षिणीनां च, पैशाचीनां च साधनम् ।
भूतवैतालगान्धर्वं, मारणोच्चाटनादिकम् ॥
अधोगमनमेतेषां, साधने ऐहिकं हितम् ।

(वाराही तन्त्रम्)

कर्त्ता भोक्ता द्रष्टा श्रोता भवति-अहंकारः ।

(शंकराचार्यः स.वे.सि.सा.)

चित्र-१



प्रमेयत्वेन प्रकाशमानः घटत्वेनाज्ञातः ।

चित्र-२



एवं स्वप्रकाश आत्मा अज्ञातः ।

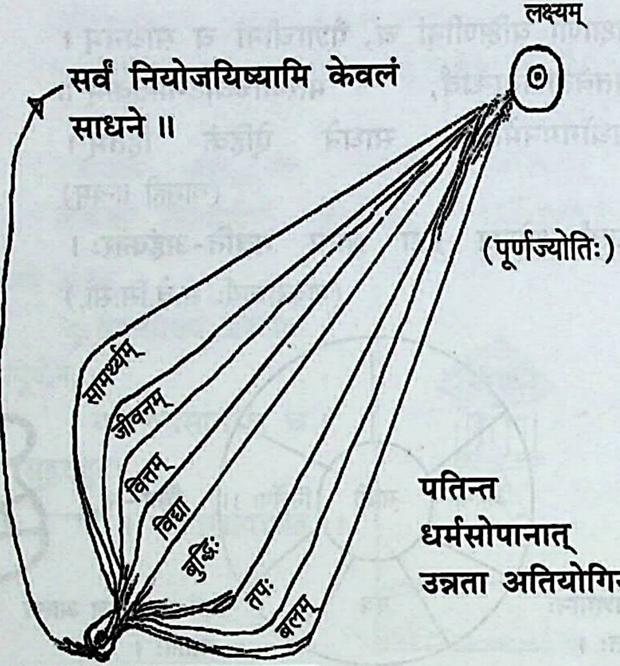
(संक्षेप शा. २/१६४ टी.)

द्वैतमति जीवात्मा सुख अर्थात् निर्विघ्न उत्तमभोग को अवश्य चाहता है और उसके लिए प्रयत्न भी करते रहता है। जो सात्त्विक विचारधारा के जीवात्मा है वह शास्त्रानुकूल धर्मानुष्ठान कर स्वर्ग को प्राप्त करता है। स्वर्ग भोग का निर्विघ्न उत्तम स्थान है। परन्तु आत्मा न तो दुःख का भोक्ता है और न सुख का भोक्ता है वह तो साक्षीमात्र रूप से दोनों को देखता मात्र है।

व्याख्या—यक्ष, यक्षिणी, पैशाची, वैताल, गन्धर्व, आदि की उपासना और मारण-उच्चाटन आदि मलिन कर्मानुष्ठान प्रयोग अधोगमन कारक होता है। इसकी साधना मात्र ऐहिक (दुःखपरिणामी) हित को प्रदान करता है। ऐहिक सुख-दुःख परिणातः उत्तम और हितकारी नहीं होता, इसलिये वह नरक को ही प्राप्त करानेवाला कर्म है। (वाराहीतन्त्र)

अहंकार ही कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा और श्रोता होता है। (शंकराचार्य स.वे.सि.सा.)

वस्तुतस्तु आत्मा साक्षीमात्र होने से निर्लेप (निष्पाप) है। वह प्रमेयत्वेन (प्रमाण द्वारा ज्ञात होने योग्य) वस्तु का प्रकाशक होता है और घटत्वेन (विषयरूप से) अज्ञात होता है। इसलिए यह आत्मा अज्ञानियों के लिये अज्ञात होता है। (संक्षेपशारीरक २/१६४ टी.)

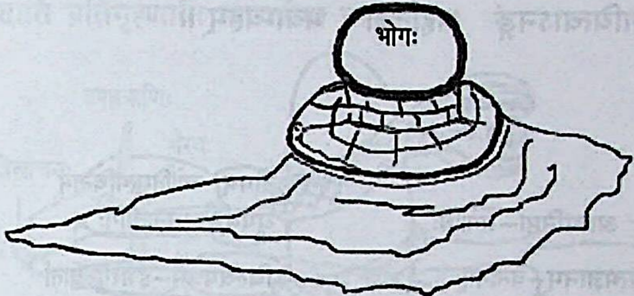


व्याख्या—प्रतीक चित्र और प्रतीकमध्य (कोष्ठकगत) पदों के उद्देश्य को ध्यान में रखकर साधक साधना में संलग्न होवे यही चित्र का तात्पर्य है। कभी-कभी साधना क्षेत्र में यह देखा जाता है कि साधक अपने धर्मसोपान से फिसलकर गिर जाते हैं और पूर्व के किये-धिये पानी हो जाता है। उस पतन में जो भी कारण हो उसकी ओर न जाकर लक्ष्य की प्राप्ति के ठोस उपाय की ओर विचार को कहते हैं—लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है और वह दृढ़ संकल्प है—"मैं सम्पूर्ण साधन और सामर्थ्य को लक्ष्य को साधने में लगाऊँगा। इस प्रकार दृढ़ संकल्पित होकर लक्ष्य साधने में उसके हेतुभूत—(१) सामर्थ्य, (२) जीवन, (३) वित्त, (४) विद्या, (५) बुद्धि, (६) तप और (७) बल, इन्हें सम्पूर्णरूप में सावधानी एवं युक्तियुक्त ढंग से साधना में लगाकर लक्षीभूत अमृतत्व को प्राप्त करे।

भोग में ऐसा आकर्षण होता है कि सामान्यजन तो उसमें निरन्तर मोहित ही होते हैं; परन्तु तपस्वी-महात्मा-मुनि भी मोहित हो जाते हैं। इस भवसागर का जो तरण चाहता अर्थात् अपना हित चाहता है, तो भोग्य विषय का भोग को त्याग दे, अन्यथा पतन निश्चित है—

सुखमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवं दया शौचं सत्यं पियूषवत् पिव ।। (चाणक्यनीति)

मुनीनामपि मोहनः–



न विद्यते सुखं दुःखं, विषयेषु कदाचन।
प्रत्येकं प्रीतये भूत्वा, पुनः क्लेशाय जायते॥

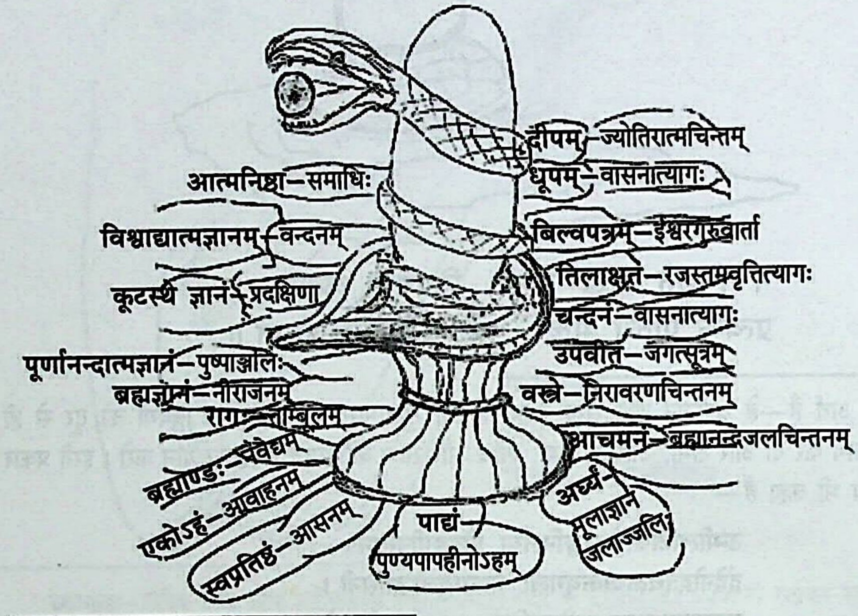
अर्थ है—हे श्रेष्ठजन यदि सुख चाहते हो तो सुखाभास का आश्रयभूत विषयों को दूर से ही परित्याग कर दो और क्षमा, आर्जव, दया, शौच और सत्य को अमृत समझकर पान करो। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा है—

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गनिलया प्रोतुङ्गपीनस्तन-
द्वंद्वेनोद्गतचक्रवाकयुगला वक्त्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूरात्र नापेक्ष्यते,
संसारार्णवमज्जनं यदि तदा दूरेण सन्त्यज्यताम्॥ (शृङ्गारशतक ४९)

यहाँ सावयव रूपकालंकार के माध्यम से स्त्री के प्रत्येक अङ्गों में नदी का आरोप कर उससे दूर रहने को कहा गया है। स्त्रीरूपी नदी में त्रिवली (उदर देश में स्थित तीन रेखाएँ) ही उत्पद्यमान तरङ्ग है। जिस प्रकार नदियों में उत्थित उर्मियों का निलय (स्थान) नदी है उसी प्रकार स्त्रीरूपी नदी में भी जानना चाहिये। उन्नत और पीन स्तनद्वय ही चक्रवाक और चक्रवाकी (पक्षी विशेष) है। नदी में उच्चलत चक्रवाक को देखा जाता है तथा यहाँ भी तरुणी के रूपक में अह कर देख सकते है। वक्र कमल से नदी उद्भासित होता है, तथा स्त्री मुखाम्बुज से उद्भासित (शोभित) है। नदी में कुटिल-क्रूर नक्रादि धातक जानवर रहते हैं, तथा यह स्त्री कुटिल और क्रूर हृदय की होती है। इस प्रकार कान्ताकाररूपधारिणी यहाँ स्त्री संसारार्णव के समान ही है और बुद्धिमान् लोक उसमें मज्जन (स्नान) करना नहीं चाहते। यदि उसके प्रति अपेक्षा नहीं रखते हैं तो उसे आप दूर से ही त्याग दो, इसी में भला है। (पूर्णज्योति)

वस्तुतः विषयों में सुख दुःख की उपस्थिति नहीं होती है। विषयवस्तु प्रत्येक विषयी के लिये प्रीतिकारक रूप धारण कर उपस्थित होता है और बाद में वह क्लेश को उत्पन्न करता है। विषय इतना मोहक होता है कि मुनियों के भी मन को मोहित कर लेता है।

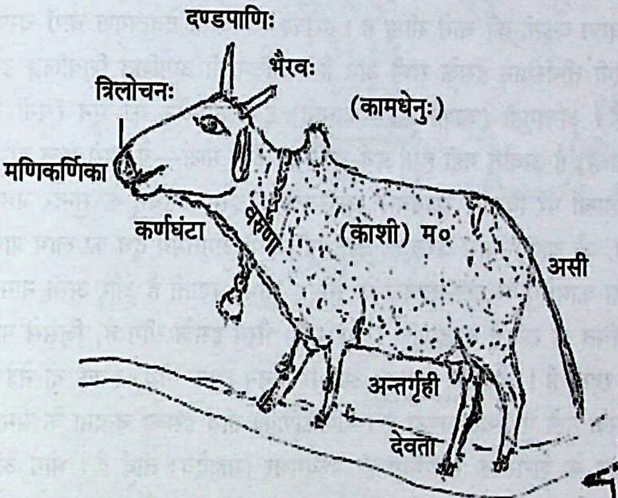
सर्वमेव सुखं दुःखं विकारो मनसो ध्रुवम् । (पूर्णज्योतिः)
नाशयित्वाऽनङ्गं महादेवो भवाम्यहम् ॥



व्याख्या—सभी प्रकार के सुख और दुःख मन के विकार है ऐसा निश्चय जानो। इस समय समाधि अवस्था में मैं कामदेव को नाश करके शिव हो जाऊँगा। काम, भोग, इच्छा आदि मन के विकार हैं, उसे जो नाश कर देता है वह शिव स्वरूप हो जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा हो कैसे ? तो कहते हैं—हम शिव की आराधना-पूजा-साधना करते हैं। उसमें कुछ न कुछ वाह्य सामग्री की सहायता लेते हैं। जो सामग्रियाँ होती है उस पर हमारा स्वामित्वाधिकार होता है और हम उसे लिङ्गस्वरूप शिव पर अर्पण करके स्वत्वाधिकार से उबर कर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। परन्तु यहाँ इस पूजा में—दीपक-आत्मा के ज्योति स्वरूप का चिन्तन है। धूप-वासना का त्याग है। बिल्वपत्र-ईश्वर-गुरु के अभेद वार्ता है। तिलाक्षत-रजोगुण एवं तमोगुण से उत्पन्न चित्तवृत्ति का त्याग है। चन्दन-वासना का त्याग है। उपवीत-जगत्सूत्र है। वस्त्र-निरावरित (आत्मा का) चिन्तन है। आचमन-ब्रह्मानन्दजल का चिन्तन है। इसी प्रकार अर्ध्य-मूलाज्ञान का त्याग, पाद्य-स्वयं का पुण्य-पाप रहित स्वरूप अनुभव, आसन-स्वप्रतिष्ठत्व (आत्मनिष्ठत्व), आवाहन–मैं अद्वितीयात्मा हूँ का अनुभव, नैवेद्य-ब्रह्माण्ड, ताम्बूल-ईश्वर के प्रति राग, नीराजन-ब्रह्मज्ञान, पुष्पाञ्जलि-पूर्णानन्द आत्मज्ञान, प्रदक्षिणा-कूटस्थ ब्रह्म में स्वयं की स्थिति का बोध, वन्दन-विश्वाद्यात्मज्ञान, समाधि-आत्मनिष्ठा है। पूजन अर्चन-वन्दन-उपासना-साधना का मुख्य उद्देश्य यही है शेष गौण भाव है।

उत्कीलनम् ॥

ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति ॥



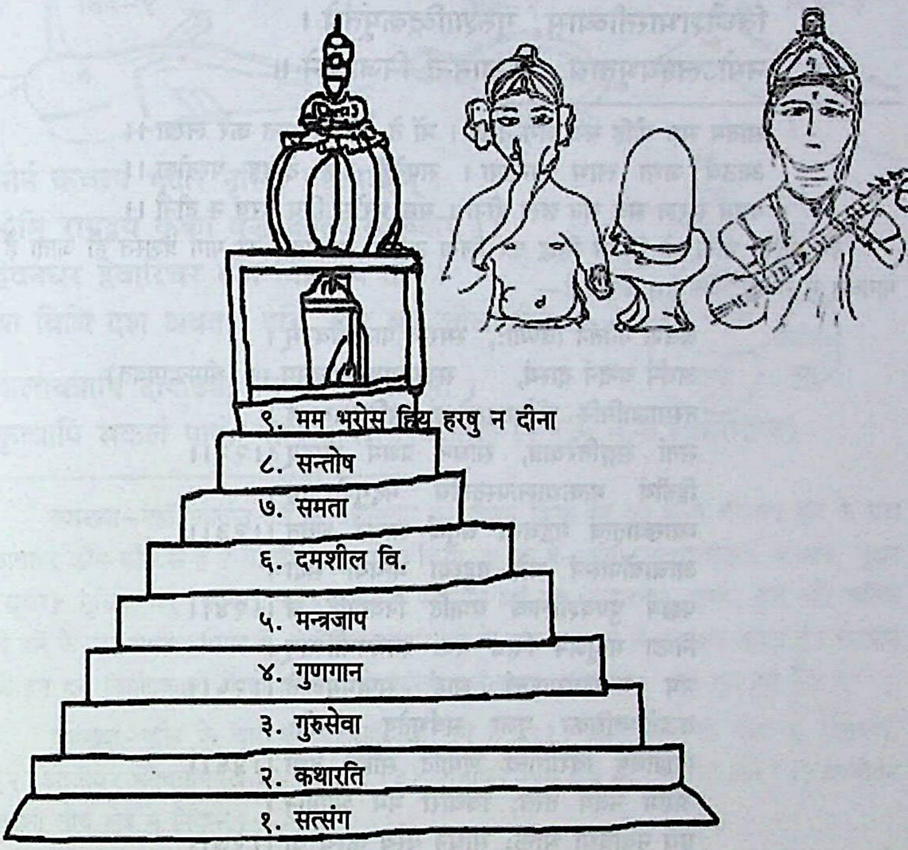


वाराणस्यां दक्षिणे तु, कुक्कुटो नाम वै द्विजः ।
तस्य स्मरणमात्रेण, दुःस्वप्नः सुखदो भवेत् ॥

व्याख्या–देवी के उपासक के लिए उत्कीलन (कीलक) मन्त्र का आश्रय अत्यावश्यक है। वह उत्कीलन मन्त्र क्या है और उसकी विधि क्या है ? सो कहते हैं—देवी के उपासक कृष्णपक्ष की चतुर्दशी अथवा अष्टमी तिथि को देवी की उपासना में समाहितमन होकर दीक्षा प्राप्ति अनन्तर अपने द्वारा-अर्जित धन-सम्पदा को देवी के चरणों में अर्पित कर दे, यही मूल के 'ददाति' शब्द का अर्थ है। पुनः साधक देवी के प्रति ददाति (दान-अर्पण) कर्म से प्रसन्नता का अनुभव करके तथा उनकी अनुज्ञा को मनसे धारण कर उस अर्पित सम्पदाभूत देवी प्रसाद को मात्र प्रसाद बुद्धि से ग्रहण कर और धर्मशास्त्रानुसार उसका व्यय करते हुए देवी के अधीन जीवन यापन करे। इससे सप्तशती देवी प्रसन्न होती है। देवी की प्रसन्नता के लिए अन्यथा (दूसरी) उपाय कोई नहीं है। यही "प्रति गृह्णाति" शब्द का मुख्यार्थ है और यही विधि महादेव द्वारा साधकों के लिए कीलित किया गया है, जिसे उत्कीलन कहते हैं।

यहाँ रूपक प्रतीकचित्र के माध्यम से काशी की महिमा कही जा रही है। शोक, सन्ताप, ताप और रोग को हरण करनेवाली यह काशी सभी प्रकार के कल्याणों की खानि है। यह काशी साक्षात् कामधेनु के समान अपने शरणागत को अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चतुर्विध कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है। इस काशी रूपी कामधेनु के चारों चरण काशी की चारों सीमा है। इसकी स्वर्गवासी देवतागण चारों चरणों की सेवा करते हैं। यहाँ के सभी तीर्थस्थान इसके सभी अंग हैं। अविनाशी अगणित शिवलिङ्ग इस काशीरूपी कामधेनु के रोम हैं। अन्तगृही (काशी का मध्यभाग) इस कामधेनु का ऐन (थनों के ऊपरीभाग जिसमें दूध भरा होता है) है अर्थात् गद्दी है। अर्थ-धर्म-कम और मोक्ष—ये चारों फल इसके चारों थनें (छीमियाँ) हैं। वेद-शास्त्रों पर विश्वास रखनेवाले आस्तिकजन इस कामधेनु के सुन्दर बछड़े हैं और वे आस्तिक विश्वासीजन, जो यहाँ निवास करते हैं, उन्हें मुक्तिरूपी अमृतमय दूध का लाभ प्राप्त होता है। सुन्दर वरुणा नदी इस कामधेनु के गल-कम्बल के समान शोभा बढ़ाती है और असी नामक नदी इसकी पूँछ के रूप में शोभित हो रही है दण्डपाणि (दण्डधारी) भैरव इसके सींग हैं, जिससे पाप में रत दुष्ट प्राणियों को डराती रहती है। लोलार्क (कुण्ड) और त्रिलोचन (एक तीर्थ) इसके दो नेत्र हैं तथा कर्णघण्टा नामक तीर्थ इसके गले में स्थित घण्टा है। मणिकर्णिका तीर्थ इसका चन्द्रमा के समान शोभित-सुन्दर मुख है। कामधेनु के शरीर के मध्यभाग ही मध्यमेश्वर (महादेव) तीर्थ है। भोग और मोक्षरूपी आनन्द से परिपूर्ण पञ्चक्रोशी (पंचकोसी) की परिक्रमा ही इसकी महिमा है। दयालु हृदय के भूतभावन भगवान् विश्वनाथ जी इस कामधेनु का पालन-पोषण करते हैं और ममता एवं स्नेह की मूर्ति जगज्जनी माता पार्वती इसे सदा दुलारती रहती हैं। पञ्चाक्षरी मन्त्र (नमः शिवाय) ही पञ्चप्राण हैं। भगवान् श्री विन्दुमाधव ही इसका आनन्द है। पञ्चनद (पंचगंगा) तीर्थ ही इसके पञ्चगव्य (दूध, दही, घी, गोमुत्र और गोबर) हैं। जगत्स्रष्टा (संसार को उत्पन्न करनेवाले) रामनाम के अक्षरद्वय ('रकार और 'मकार') इसके अधिष्ठाता ब्रह्म और जीव हैं। यहाँ (काशी में) शरीर त्यागनेवाले जीवात्माओं के सुकर्म और कुकर्मरूपी घास को यह कामधेनु चर जाती हैं, जिससे उनके थन में मुक्तिरूपी पवित्रतम दूध मिलता है, जिस दूध को विरक्त महात्मा, संन्यासी, योगीजन नित्य चाहा करते हैं। जगदीश्वर-जगत्पालक भगवान् विष्णु ने अपनी सम्पूर्ण कला को लगाकर स्वयं अपने हाथों से इस कामधेनुरूपी काशी की रचना की है। इन भावनाओं से परिपूर्ण होकर ही साधकों को काशी की सेवा (काशीवास) करनी चाहिये। यह उपर्युक्त प्रतीकचित्र काशीरूपी कामधेनु के उल्लेखन का अभिप्राय है।

वाराणसी की दक्षिणदिशा में कुक्कुट नामक ब्राह्मण का निवास स्थान है। उनके स्मरणमात्र से ही दृष्ट दुःस्वप्न का फल सुखद हो जाता है। यह स्थान वर्तमान में दुर्गा मंदिर में श्री कुक्कुटेश्वर महादेव के नाम से प्रसिद्ध है।



व्याख्या—यहाँ पर मानस की नवधाभक्ति को चित्रङ्कण के माध्यम से कहा जा रहा है—भक्ति का प्रथम चरण सत्सङ्ग, द्वितीय भगवद्भक्तिकथा में रति, तृतीय गुरु की निश्छल सेवा, चतुर्थ भगवद्गुणगान, पञ्चम भगवद्नाममन्त्र का जाप, छठी भक्ति इन्द्रिय पर दमन का स्वभाव और विविध कर्म प्रपञ्च से विरक्तिभाव, सातवीं समता, आठवीं सन्तोष, और नौवी भक्ति भगवान् के भरोसे पर दीनता और हर्ष रहित होकर जीवन यापन करना ये नवधा भक्ति प्रकार है। यथा—

प्रथम भगति सतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गरुपद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करहि कपट तजि गान।।
मन्त्रजाप मम दृढ विस्वासा। पंचम भजन सो वेदप्रकासा।।
छठ दमशील बिरति बहुकर्मा। निरत निरन्तर सज्जन धर्मा।।

विघ्नेशभारतीव्यास, गुरुशाब्दिकमूर्तये।
नमोऽलक्ष्यभूताय, शान्तानन्द निजात्मने॥

सातम सम मोहि मय जग देखा। मों ते अधिक सन्त कर लेखा।।
आठवँ जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहुँ नहि देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना।।

इन नवधा भक्ति को जिसने सिद्ध कर लिया उसका आत्मोद्वार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। भागवत में नवधा भक्ति इस प्रकार है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः, स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्।। (श्रीमद्भागवत)
तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।
सतां सङ्गतिरेवात्र, साधनं प्रथमं स्मृतम्।।२२।।
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसा चतुर्थं साधनं भवेत्।।२३।।
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुध्या मायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च।।२४।।
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते।।२५।।
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादि सहितं तथा।।२६।।
अष्टमं नवमं तत्त्व; विचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा।।२७।।

हे भामिनि! (शबरि!) भक्ति का पहला साधन सत्सङ्ग ही है। मेरे जन्म-कर्मों की कथा का कीर्तन करना दूसरा साधन है। मेरे गुणों की चर्चा तीसरा, गीता उपनिषदादि की व्याख्या चौथा, अपने गुरुदेव की भगवद्बुद्धि से निष्कपट सेवा पाँचवीं, पवित्रस्वभाव, यमनियमादि का पालन तथा मेरी पूजा में प्रेम यह छठा भक्ति का साधन है। मेरे मन्त्र का पुरश्चरणादिपूर्वक जप करना सातवाँ साधन, मेरे भक्तों की मुझसे भी अधिक पूजा करना, सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी भावना करना, बाह्य पदार्थों में वैराग्य और शम-यमादि की सम्पन्नता आठवाँ साधन है। तत्त्व का निरन्तर विचार नौवाँ साधन है। हे भामिनि इस प्रकार ये नौ प्रकार की भक्ति जिस किसी में हो वह मुक्त हो जाता है। उपर्युक्त कथन भगवान् श्रीराम का शबरी के प्रति है।

भगवान् गणपति, भगवती भारती (सरस्वती) और भगवान् व्यास, जो शब्दस्वरूपधारीमूर्ति हमारे गुरु हैं, ऐसे भूतात्माओं में प्रकट-प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देनेवाले शान्तानन्द निजात्मा के लिये मेरा नमस्कार है।

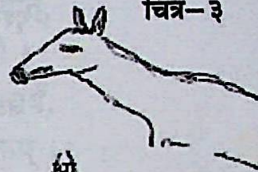
चित्र—१



चित्र—२



चित्र—३



मीनं कच्छपं भूदारं नृसिंहं वटुविग्रहम् ।
नौमि रामद्वयं कृष्णं बुद्धं कल्किस्वरूकम् ।।
द्वेवनचर द्वेवारिचर तीन विप्र नृप तीन ।
या विधि दश अवतार हरि, धरि बहु लीलाकीन ।।



कलावत्रापि दोषाढ्ये, विषयासक्तमानसः ।
कृत्वापि सकलं पापं, गोविन्दं संस्मरञ्शुचिः ।। (सि.स.ना.शांकरभाष्य)

व्याख्या—यहाँ भगवान् हरि के दशावतार को प्रणाम किया जा रहा है—वे भगवान् हरि के दश अवतार कौन-कौन से हैं ? पहले इसका कथन किया जा रहा है—मीन (मत्स्यावतार), कच्छप, भूदार (सूकर), नृसिंह, वटु (वामन), रामद्वय अर्थात् परशुराम एवं राम (दाशरथि), कृष्ण, बुद्ध और कल्कि ये हरि के दस अवतार विग्रह हैं, ऐसे विग्रहावतार हरि के दश रूपों को मैं नमस्कार करता हूँ। भगवान् के इन दस विग्रहावतारों में दो वनचर, दो वारिचर (जलचर), तीन विप्र, तीन नृप हुए हैं।

व्याख्या—मुक्ति के चार साधन यहाँ कहे गये हैं। (१) आजीवन रूद्री पाठ का पारायण, (२) आजीवन भगवन्नाममन्त्र का संकीर्तन, (३) आजीवन ओम् ब्रह्म की उपासना और (४) आजीवन काशी तीर्थ क्षेत्र में निवास।

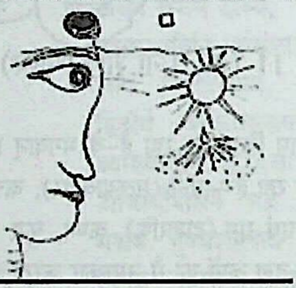
विषयों में आसक्त मानसवाले प्राणी सकल पाप को करके भी कलियुग में यदि पापी भगवान् के 'श्री गोविन्द' नाम का भावपूर्ण स्मरण करता है तो वह शुद्धान्तःकरण प्राप्त कर मोक्ष का भागी बन जाता है।

अपिचेत्सुदुराचारो, भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। (गी. ९/३०)
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।। (गी.९/३१)

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—हे अर्जुन ! यदि कोई अतिशय दुराचारी भी है और वह अनन्यभाव से भक्तिपूर्वक मुझ श्रीकृष्ण का भजन करता है तो उसे साधु ही समझना चाहिये। क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला समझ लिया है कि ईश्वरार्चन से बढ़कर कुछ भी नहीं है। ऐसा वह साधक शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।



यावत्पिण्डो गुडस्य स्फुरति मधुरिमैवास्ति सर्वोपि तावान्,
तावत्कर्पूर पिण्डः परिणमति सदामोद एवात्र तावान् ।
विश्वं यावद्विभाति द्रुमनगरारामचैत्याभिरामम्,
तावच्चैतन्यमेकं प्रविकसति ततोऽन्ते तदात्मावशेषम् ।। (शतश्लो. ६२)



प्रमेयादित्रयं सार्धसार्धं,
भानुनाघटकुड्यवत् ।
येन भाति स एवाहं,
प्रमेयादि विलक्षणः ।। (अद्वैतानु.)

व्याख्या—माया दृश्या, जडा, आश्रिता और अचित् रूपा है। वह तमो प्रधानरूपा तथा ईश्वर के अधीन होने से परतन्त्रा भी है—"माया विम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर:" । (पञ्चदशी तत्त्वविवेक प्रकरण–१६) "तम: प्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।" (पं.द.१८) माया में प्रतिफलित जो चिदात्मा है, ऐसे माया विम्ब को वशीकृत करके सर्वज्ञत्वादिगुण सम्पन्न ईश्वर है। इसलिये माया परतन्त्रा है। तम: प्रधानप्रकृति से आकाशादि पञ्चभूत की उत्पत्ति प्राज्ञ (अल्पज्ञ) जीवों के भोग के लिए ईश्वर की आज्ञा से होती है। इसलिए वह माया तम: प्रधानरूपा है। वह चेतन नहीं है अचित् है और अचित् चिदाश्रय होता है। इसलिए माया चिदाश्रिता है। अचित् होने से वह स्वभाव से ही जडरूपा है। विकारी होने से माया का सारा विकार ही दृश्य जगत् है। अत: वह दृश्यारूपा है।

गुड़ के यावत् पिण्ड है तावत् मधुरिमारूप ही है यावत् कर्पूर पिण्ड होता है तावत् वह आमोद को उत्पन्न करता है। यावत् विश्ववृक्ष, नगर, आराम (बगीचा) चैत्य (चबूतरा) रूप में अभिरामता दिखाई दे रहा है तावत् एक अद्वितीय चैतन्यमात्र का प्रकाश है। क्योंकि अन्त में जो शेष बच जाय वही अवशिष्ट आत्मा है, जो चैतन्यस्वरूप है। (शतश्लोक ६३)

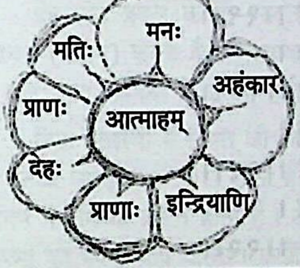
जिस प्रकार प्रमेयादित्रय के साथ-साथ सूर्य के द्वारा घट कुड्यवत् प्रतीत होता है, अर्थात् प्रमेय घटवस्तु का प्रकाशक सूर्य जिस प्रकार है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् जिससे प्रकाशित होता है वह प्रमेयादि से विलक्षण आत्मा मैं हूँ। (अद्वैतानु.)

यावत्सौख्यं एतान्ते निमिषमिहमनस्यैकताने रसे स्यात्,
स्थैर्यं यावत्सुषुप्तौ सुखमनतिशयं तावदेवाथ मुक्तौ ।
नित्यानन्दः प्रशान्ते हृदि तदिह सुखस्थैर्ययोः साहचर्यं,
नित्यानन्दस्य मात्रा विषयसुखमिदं युज्यते तेन वक्तुम् ।।

(शतश्लोकी-७४)

उत्तमादीनि पुष्पाणि वर्तन्ते सूत्रके यथा ।
उत्तमाद्यास्तथा देहा वर्त्तन्ते मयि सर्वदा ।।
यथा न स्पृशेत्सूत्रं पुष्पाणामुत्तमादिता ।
तथानैकं सर्वगं मां देहानामुत्तमादिता ।।

(अद्वतानुभूति)



देहेन्द्रियप्राणमनो
बुद्ध्यज्ञानानि भासयन् ।
अहंकारं तथा भामि,
चैतेषामभिमानिनम् ।(अद्वैतानुभू. ३८)

व्याख्या–इस जागतिक यावत्सुख में जब तक मन की एकतानता है तब तक निमिष मात्र का रस (आनन्द) प्राप्त होता है। सुषुप्तिकाल में जब तक स्थैर्य होता है सुख तभी तक प्राप्त होता है। मुक्ति में अतिशय आनन्द तावत् होता है यावत् मुक्ति की स्थिति होती है। परन्तु हृदय के प्रशान्त होने पर सुख और स्थैर्य का नित्यानन्द नित्य रूप से प्राप्त होता है। उस नित्यानन्द की मात्रा असीम है। विषय सुख का तो जब तक उससे सम्बन्ध है तभी तक होता है। इसलिए उस सुख को क्षणिक सुख ही कह सकते हैं। (शतश्लोकी-७४)

जिस तरह अनेक प्रकार के फूलों को चुनकर उसे सुन्दर सूत्र (धागे) में पिरोकर मनोरम माला तैयार किया जाता है, उसी प्रकार मेरा यह देह उत्तम अङ्गों से सर्वदा निर्मित होता है। माला की उत्तमता को उसके अन्तः प्रविष्ट सूत्र यथा स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार अनेक सुन्दर अङ्गों से निर्मित यह सुन्दर देह सर्वव्यापी मुझ आत्मा को कदापि स्पर्श नहीं करता है। यह आत्मा निर्लिप्त-निरञ्जन-अनवयव-सर्वग और निष्पाप एवं अनवद्य है और असंग है। (अद्वैतानुभूतिः ३०-३१)

व्याख्या–देह, इन्द्रियों का संघात (समूह), प्राण, मन, बुद्धि तथा अज्ञान से भासमान होता हुआ



देहत्रयमिदं नित्यमात्मत्त्वेनाभिमन्यते ।
यावत्तावदयं मूढो नाना योनिषु जायते ।। (अद्वैतानुभूतिः–४३)

निद्रादेहजदुःखादि,
र्जागद्देहं न संस्पृशेत् ।
जाग्रद्देहज दुःखादिः
तथात्मानं न संस्पृशेत् ।।(अद्वैतानु. ४४)

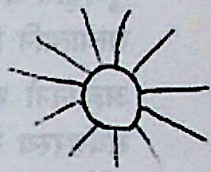
जो अहंकार है को ही जीवात्मा अहं का आलम्बन जानता है। जबकि यथार्थ में ऐसा नहीं है। अहं का आलम्बन मात्र आत्मा ही हो सकता है क्योंकि सर्वाश्रयत्व आत्मा में ही है। कहा है कि—

सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम् ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुप जायते ।।१९।।
तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन द्विधा ।
मनो विमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ।।२०।।
रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानि जज्ञिरे ।।२१।।
तैः सर्वैं सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पञ्चधा ।
प्राणोऽपानःसमानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ।।२२।।
बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ।।२३।।
स्यात्पञ्चीकृत भूतौ देहः स्थूल संज्ञकः ।।३४।। (पञ्चदशी तत्त्ववि.प्र.)

इसका अर्थ है उन आकाशादि पाँचों तत्त्व के सत्त्वांश से श्रोत्र (कान), त्वग् (चर्म), आँख, रसना और घ्राणेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। उन आकाशादि के सत्त्वांशों के वृत्ति भेद से मन और बुद्धि की उत्पत्ति होती है। मन विमर्श करता है और बुद्धि वस्तु का निश्चय करती है। इसी प्रकार आकाशादि पाँचों भूतों के रजोंश से क्रमशः वाक् (वाणी), पाणी (हाथ), पाद (पैर), पायु और उपस्थ (जननेन्द्रिय एवं मलद्वार) कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। उन आकाशादि पाँचों भूतों के कारणता को प्राप्त प्राण वृतिभेद से पाँच प्रकार (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) के होते है। इस प्रकार उन ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि के साथ प्रकृति के विकारभूत सत्रह तत्त्वों से उसके संघातभूत यह शरीर है; जिसमें अज्ञानवश जीवात्मा को आत्मा का अध्यास होता है। जिस स्थूल देह में आत्माध्यास होता है वह पञ्चीकृत पंचभूतों से बना होता है। (अद्वैतानुभूति ३८)

हित्वायं स्वाप्निकं देहं जाग्रदेहमपेक्षते।
जाग्रदेहं प्रबुद्धोऽयं हित्वात्मानं यथा तथा।। (अद्वैतानु. ४७)
प्रत्येकस्मिन् परमाणौ रजः सत्त्व तमोगुणाः।





गुणपाशं समादाय घूर्णन्ते परमाणवः।। (पूर्णज्योतिः)
तोयाश्रयेषु सर्वेषु, भानुरेकोऽप्यनेकवत्।
एकोप्यात्मा तथा भाति, सर्वक्षेत्रेष्वनेकवत्।। (अद्वैतानुभू.-५२)



देह तीन प्रकार के हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारणदेह। इन तीनों देहों में जीवात्मा आत्मा का उपचार (प्रयोग) करता है और यावत् उन शरीरों में आत्माभिमानी बना रहता है तावत् वह मूढ़ होता है और नाना योनियों में उत्पन्न होते रहता है तथा मरते रहता है। (अद्वैतानुभूति-४३)

निद्रा अवस्था में स्थित जीवात्मा को जो दुःख होता है अर्थात् स्वप्नावस्था में दृष्ट अनिष्ठ स्वप्न से उत्पन्न भयरूप जो दुःख होता है, वह दुःख जाग्रत् अवस्था में स्पर्श नहीं करता अर्थात् वह दुःख जागने पर मिथ्या प्रतीत होता है। उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में होनेवाले नाना प्रकार के देहज दुःख आत्मा का स्पर्श नहीं करता। क्योंकि यह आत्मा व्यापक है और वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर तदाकारता को प्राप्त होता है। श्रुति इसी बात को कहती है—"स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः"। वह आत्मा (ब्रह्म) इस शरीर की रचना अनन्तर नख-शिख पर्यन्त उसमें प्रविष्ट हो गया। इसलिए सुख-दुखादि प्रकृति के विकारभूत शरीर का धर्म है आत्मा का नहीं ऐसा जानना चाहिये। श्रुति आत्मा के सम्बन्ध में कहती है "स आनन्दमयः पुरुषः" वह आत्मा आनन्दमय पुरुष है। (अद्वैतानुभूति-४४)

व्याख्या—जिस प्रकार स्वप्नावस्था में दुःस्वप्न के दुःख से व्याकुल जीव स्वाप्निक देह को त्याग कर जाग्रत् देह की अपेक्षा करता है उसी प्रकार जीवात्मा आत्मज्ञान के प्रबुद्ध (उत्पन्न) होने पर उस दुःखमूल देह भाव को त्याग कर आत्मदेह की अपेक्षा करता है। क्योंकि सकल दुःख की निवृत्ति आत्मबोध के अनन्तर ही सम्भव है। (अद्वैतानुभूति-४७) पाँचों भूतों में जो परमाणु हैं उसमें सत्त्व-रज और तमोगुण व्यावृत्त (व्याप्त) हैं और वे गुणों के पाश को लेकर परमाणुओं को घूर्णित करता रहता है। (पूर्णज्योतिः)

नदी, कूप, खाई, घट, झील और तालाब आदि सभी प्रकार के जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। उन उपाधि के अन्तर्गत जल में अनेक सूर्य प्रतिविम्ब होते हैं, परन्तु विम्बभूत सूर्य एक ही होता है। उसी प्रकार सभी क्षेत्र (शरीर) में आत्मा का प्रतिबिम्ब अनेक होते हुए भी बिम्ब (आत्मा) एक ही है।

विराडादि त्रयं भाति यस्मिन् साक्षिणि सत्यवत्।
स एव सच्चिनन्दलक्षणोऽहं स्वयंप्रभः ।।
गुणवृत्ति त्रयं भाति परस्पर विलक्षणम्।
सत्यात्मनि शिवे यस्मिन् स एवाहं निरंशकः ।। (अ.अ.-८०)

अज्ञानिनो भवति दुःखमनेन क्लृप्तं,
सर्वेश्वरस्य न खलु प्रतिभासतोऽपि।
सर्वज्ञतादिगुणजातममुष्य नास्य,
संसारिणः स्फुरति समन्वितस्य ।। (संक्षेप शा.२/१७३)
अज्ञानिनःनित्यमुक्तनिरतिशयानन्दस्वरूपस्फुरणशून्यस्य जीवस्य।(मधुसू.टी.)
अपांनाथे यथा तोयं वीचिरूपेण नृत्यति।
चिति सिन्धौ तथा ब्रह्म जीवरूपेण नृत्यति ।। (पूर्णज्योतिः)
शालग्रामं च तुलसीं खड्गं चैकत्र एव च।
यो रक्षति महाज्ञानी स भवेच्छ्रीहरेः प्रियः ।। (देवीभा. ९/२४)

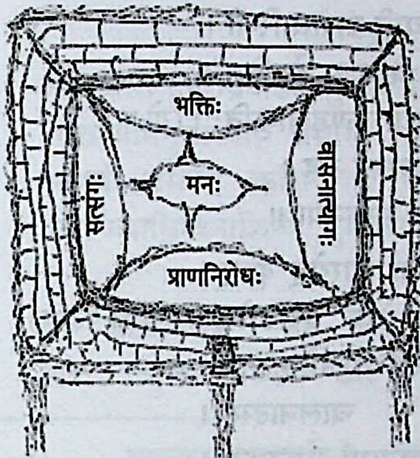
इसलिए जीवात्मा में भिन्नता-अनेकता दिखाई देता है। प्रतिविम्ब का बोध मिथ्या है, क्योंकि प्रतिविम्ब विम्ब नहीं होता है। अत: विम्ब-आत्मा की उपासना ही यथार्थ है। इससे इतर बुद्धि भ्रान्ति मात्र है। यहाँ ऊपर मूल में विभिन्न प्रतीक चित्रों को अंकित करना यथार्थ बोध को सफल बनाने लिए है।(अद्वैतानुभूति-५२)

व्याख्या-परमार्थ बुद्धि से जिस साक्षी ब्रह्म में विराड्, हिरण्यगर्भ, वैश्वानर आदि अनेक नामरूप परिकल्पित कर सत्यरूपसे व्यवहत किये जाते हैं, सर्वसाक्षी सर्वप्रकाशक और स्वयं प्रकाशरूप सद्ब्रह्म वह मैं हूँ। जिस सत्यात्मा शिवस्वरूप ब्रह्म में गुणों (सत्त्व-रज-तम) की तीन वृत्तियाँ परस्पर में विलक्षण रूप से शोभा पाती है, वही अखण्ड ब्रह्म स्वरूप मैं हूँ। (अद्वैतानुभूति-८०)

अन्तःकरण में प्रतिविम्बित जीवात्मा उसके सुख-दुःख से प्रभावित होकर मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा अनुभव करते हैं, परन्तु सर्वेश्वर प्रतिभासित (प्रतिविम्बित) होते हुए भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं करते हैं। इसमें कारण यह है कि जीव का अन्तःकरण अविद्यात्मक है और जीव अविद्या के वशीभूत होता है, परन्तु सर्वज्ञादिगुण सम्पन्न ईश्वर उस अविद्या को अपने वश (अधीन) में किये हुए हैं। इसलिए संसारी जीव जगद्वस्तु से सम्बन्ध होते ही सुख-दुख के स्फुरण से प्रभावित होते हैं। (संक्षेप शारीरिक २/१७३)

ऐसा इसलिए होता है कि वह अज्ञानी जीवात्मा नित्यमुक्त स्वभाव, निरतिशयानन्द जो उसका स्वस्वरूप है उसके स्फुरण से रहित होते हैं इसलिये जीव का वैसा स्वभाव होता है। (मधुसूदनी टीका)

अधिपति वरुण जलनिधि (समुद्र) में जिस तरह जल के तरङ्ग के रूप में नृत्य करते हैं, उसी प्रकार चित्समुद्र में ब्रह्म जीवरूप से नर्तन करते हैं। (पूर्णज्योति)



मनः स्ववेगं जहाति शनैः ।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं, कृत्वां दृढं विन्यसेत् ।
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियाचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरम्,
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ (गोरक्ष पद्धतिः)

जो महाज्ञानी मानव शालग्राम शिला, तुलसी और शङ्ख को एक जगह पर स्थापित कर रक्षित करता है, अर्थात् शालग्राम शिला के ऊपर तुलसी चढ़ाता है और तुलसीपूरितजल शङ्ख में पूरित कर उनके (शालग्रामके) सम्मुख त्रिपदी पर स्थापित कर उसे संरक्षित रखता है, वह महाज्ञानी पुरुष भगवान् श्रीहरि के प्रिय भक्त (दास) होता है। (देवीभागवत ९/२४)

व्याख्या—संयम-नियम पूर्वक यथा शास्त्र निर्दिष्ट आसन-प्राणायाम-प्रत्याहारादि पूर्वक प्राण के निरोध करने पर वासनात्याग की क्षमता जीव में धीरे-धीरे उत्पन्न होती है। वासना त्याग के परिपाक से सत्पुरुषों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और अनुराग के परिपाक से सत्सङ्ग होता है तथा सत्सङ्ग से भक्ति की उत्पत्ति होती है। भक्ति से मन अपना अनादि वेग को त्याग देता है। मन के वेग के त्यागने पर परमा भक्ति का उदय होता है, जिससे मन का परमात्मा में विलय हो जाता है और मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या—गुदा और उपस्थ दोनों के मध्य (गुदा से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से दो अंगुल नीचे) योनिस्थान कहलाता है। वामपाद के मूल को पार्णिभाग पर दृढ़ता पूर्वक रखकर दक्षिण पाद को मेढ्रेन्द्रिय के ऊपर भाग में रखे और हनु (चिबुक) को हृदय के समीप स्थिर करके। (हृदय और चिबुक के मध्य चार अंगुल का अन्तर होना चाहिये) विषयों से चक्षु आदि इन्द्रियों को परावृत करके अचल दृष्टि से दोनों भौंहों के मध्य स्थान को देखना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास सिद्ध होने पर मोक्ष का प्रतिबन्धक कपाट का भेदन हो जाता है (नाश हो जाता है)। यही सिद्धयोगियों का आसन है।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्ति रष्टधा कुण्डलाकृतिः । (गो.प.)
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेत् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ (गोरक्ष पद्धति)
भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चि; त्सुषुम्नायां समुद्गता ।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं त्यजेत् ।
प्राणो याति सुषुम्नायां स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्यात् विशेषतः ।
इयं तु मध्यमानाड़ी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसन प्राणसंयाम मुद्राभिः सरला भवेत् ॥ (गो.प.)

सिद्धयोगियों के आसन होने के कारण इसे सिद्धासन कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"आस्तेऽत्र, आस्यतेऽनेनेति वा आसनम्, सिद्धनां योगिनां आसनमिति सिद्धासनम् ।" (गोरक्षपद्धति)

कुण्डली उद्बोधन से उत्पन्न गायत्री प्राणों को धारण-पोषण करनेवाली होती है । वही प्राणविद्या और महाविद्या के नाम से योग मार्ग में विख्यात है । जो कुण्डलीशक्ति से उत्पन्न गायत्री को इस स्वरूप से जानता है वही वेद का ज्ञाता (योग विद्या के ज्ञानी) कहा जाता है ।

कन्द के उर्ध्व भाग में कुण्डलीशक्ति अष्टावृत्त कुण्डलाकृतरूप से रहती है । (गोरक्ष पद्धति)

वह कुण्डली मन और वायु तथा ज्ञान के योग द्वारा प्रबुद्ध (जागरित) होती है और सूई के समान गुण अर्थात् जैसे सूई गुण (धागे) को लेकर उर्ध्व गमन करती है उसी प्रकार वह अपान वायु से प्रबुद्ध कुण्डलिनी को मन और बुद्धि के योग से सुषुम्ना मार्ग के द्वारा उर्ध्वगमन कराती हुई ब्रह्मस्थान को प्राप्त करती है, जिसे मोक्ष कहा जाता है । (गोरक्ष पद्धति)

व्याख्या—यहाँ वज्रासन का लक्षण दिया गया है—यदि वज्रासन करना हो तो दोनों हाथों से दोनों पैर को पकड़कर गुल्फदेश में रखे और दृढ़ता पूर्वक मूलकन्द को दबावे, तो वज्रासन हो जायगा । मूलकन्द नाभि के अधोभाग में है यह ध्यान रखना चाहिये । यथा—

महामुद्रा–

वक्षोन्यस्त हनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा ॥
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेत् ।
एषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥

(गोरक्ष पद्धतिः)

न पथ्यमपथ्यं वा रसा सर्वेपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पियूषमिव जीर्यते ॥

अपानादूद्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रस्य तावता ।
देहमध्यं मनुष्यानां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ।।

(त्रिशिख ब्रा.उ.मं. भाग-६६)

भानु का आकुञ्चन (नाभिदेशस्थ सूर्य) करके कुण्डली का चालन करना चाहिये। इस प्रकार कुण्डली के चालन करने से मृत्यु का भय नष्ट हो जाता है—

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिः, तां तु संचालयेत् बुधः ।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्ति चालनमुच्यते ।। (यो.कु.उ. १/७)

कुण्डली शक्तिरूपा है, इसलिए विद्वान् साधक-योगी उसका चालन करे। अपने स्थान (मूलकन्द) से अथवा कुण्डली के स्थान से दोनों भौंहों के मध्य शक्ति का चालन (गमनागमन) ही शक्ति चालन कहलाता है। इस शक्ति का दो मुहूर्त तक चालन करने से साधक मृत्यु आदि के भय से छूट जाता है। फिर वह निर्भीक साधक कुण्डली शक्ति को कुछ उर्ध्वगति करके सुषुम्ना में प्रवेश कराने का प्रयास करे। उस साधक के प्रयास से कुण्डलिनी उस सुषुम्ना के मुख (प्रवेश मार्ग) को निश्चितरूप से भेदन कर देती है। इस प्रकार प्राणवायु के साथ वह कुण्डली उस सुषुम्ना में स्वयं प्रवेश कर जाती है। ऐसा करनेवाला योगी सिद्धि का भाजन बन जाती है। कुण्डली का चालन करके भस्त्रा को विशेषरूप से अवश्य करना चाहिये। यह सुषुम्ना नामक जो मध्यमा नाड़ी है, उसके उक्त प्रकार के दृढ़ अभ्यास से आसन (स्वस्तिकादि) प्राणसंयाम (प्राणायाम) मुद्रा (महामुद्रा) आदि के यौगिक कर्म से वह सरल (ऋज्वी) हो जाती हैं।

महामुद्रा–हनु को वक्षस्थल पर रखकर उसे देर तक पीडित करे (दबावे) और योनि को वाम अंघ्रि के गुल्फभाग से पीड़ित करे एवं दोनों हाथ से प्रसारित दाहिने पाद पकड़े। इसी क्रम में पूरक प्राणायाम के द्वारा दोनों कुक्षि को वायु से भरकर मन को उससे बाँधकर पुनः रेचन करे। ऐसा करने से सकल व्याधि का नाश करनेवाली यह महती मुद्रा होती है ऐसा मुद्राओं के ज्ञाता योगीजन का कथन है। (गोरक्ष पद्धति)

क्षयकुष्ठगुदावर्त गुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥
पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्दहतःसर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः जायते द्विपुटाश्रया ॥
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महाक्लेशादयो दोषा क्षीयन्ते मरणादयः ॥

(गोरक्षा पद्धति)

जो महामुद्रा के अभ्यासी होते हैं उसके लिये पथ्य–अपथ्य का कोई विचार नहीं रह जाता। इसलिये कि उनके द्वारा खाये-पीये कटु-अम्ल-तीक्ष्ण-कषाय आदि सभी पदार्थ सहजरूप से पच जाते हैं। नीरस (वासी) भी रसयुक्त (ताजा) के समान पचनशील हो जाते हैं। ऐसे योगी (दुर्जर-अपचनशील) अन्न अथवा घोर विष भी क्यों न खाया हो अमृत के समान उसे सुपाच्य हो जाता है।

जो महामुद्रा के अभ्यासी योगी हैं उनको क्षयरोग (राजरोग), कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्मरोग और अजीर्ण भोजन से उत्पन्न होनेवाले एवं उस अन्न को खाने से बढ़नेवाले महोदर–ज्वर आदि रोग नहीं होते। अगर हुए होते हैं तो वे सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

अब महामुद्रा क द्वितीय प्रकार की विधि को कहते हैं—वामपाद के मूल (पार्ष्णि) से योनिस्थान (गुदा और मेढ्र के मध्यभाग) को पीड़ित करके दाहिने पैर को प्रसारित (फैला) करके प्रसारित पैर के अंगूठा को तर्जनी (दोनों) से दृढ़ता पूर्वक पकड़कर तानने से महामुद्रा की क्रिया प्रारम्भ होती है।

कण्ठदेश में जालन्धरबन्ध क्रिया करके वायु को उर्ध्व गतिमान् करे। योनिपीडन और जिह्वाबन्धन से मूलबन्ध होता है यह साम्प्रदायिकों (योग-सम्प्रदायिकों) का कथन है। इस प्रकार अभ्यास करने पर जैसे दण्डे से मारने पर मृत सर्प आसानी से दण्डायमान अर्थात् सीधा हो जाता है, उसी प्रकार कुण्डली दण्डाकार सीधी हो जाती है और सुषुम्ना के पुटद्वय (मुख) में प्रविष्ट हो जाती है। कुण्डली अपने स्वभाव से सर्प की कुण्डली के समान रहती है, उसे प्रयोजनार्थ सरल करने के लिये यह विधि यहाँ दी गई है। प्रयोजन सिद्धि के लिये आगे की उपाय यह है कि—कुण्डली के सीधी हो जाने पर कुम्भीकृत वायु का धीरे-धीरे रेचन करना चाहिये। यहाँ यह ध्यान रहे कि वेग पूर्वक रेचन कदापि न करे अन्यथा हानि सम्भव है। इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच तथा शोक मोह आदि एवं जड़ा-मरण आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

(गोरक्ष पद्धति)

खेचरी–

चित्तं चलति नो यस्मा, ज्जिव्हा चरति खे यतः।
तेनेयं खेचरी सिद्धा, सर्वसिद्धैर्नमस्कृता॥
विन्दुमूलं शरीराणां, शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणां, आपादतलमस्तकम्॥
खेचर्या मुद्रया येन, विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते विन्दुः, कामिन्या लिङ्गितस्य च॥
यावद्बद्धा नभोमुद्रा, तावद्विन्दु र्न गच्छति॥
चलितोऽपि यदा विन्दुः, सम्प्राप्तश्च हुताशनम्।
ब्रजत्यूर्ध्वं हृतो शक्त्या, निरुद्धो योनिमुद्रया॥

व्याख्या–जब चित्त की गति रूक जाय और जिह्वा लम्बिका के पास छिद्र में विचरण करे तो उसे सिद्धों द्वारा नमस्कृत खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

शरीर का मूल बिन्दु (वीर्य) होता है और उसमें विभिन्न प्रकार की शिराएँ प्रतिष्ठित रहती हैं। वे शरीर को सम्पूर्ण रूप से प्रभावित करके आपादमस्तक बलैश्वर्य प्रदान कर परिपुष्ट करती रहती है। यहाँ बिन्दु के सम्बन्ध में उससे विशेष परिचय करना आवश्यक है। प्राय: लोग विन्दु के सम्बन्ध में अनाप-सनाप कहकर लोगों को भ्रमित कर देते हैं और वे जिज्ञासु विन्दु के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। अत: विन्दु के सम्बन्ध में कहते हैं—

मनसा मन आलोक्य, तत्त्यजेत् परमं पदम्।
मन एव हि विन्दुश्च, उत्पत्तिस्थितिकारणम्॥५॥
मनसोत्पद्यते विन्दु, र्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।
न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥६॥ (योग कुण्डली उप.–अ. ३)

विन्दु मन से ही उत्पन्न होता है, इसलिए मन ही विन्दु है ऐसा कहा जाता है। विन्दु से ही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और लय होता है। अत: भारतीय मनीषियों ने विन्दु के क्षरण को रोकने के लिए ब्रह्मचर्यादि-पालन का महत्त्व बताया है।

एवं समभ्यसेद्वायुं, स ब्रह्माण्डमयो भवेत्।
विन्दुं वायुं तथा चक्रं, चित्तं चैव समभ्यसेत्॥ (यो.कु.उ. ३/१३)

खेचरी विधिः—

छेदन चालन दोहैः, कलां तावद्वर्धयेत्।
स्पृशति यावद् भ्रूमध्यं सिद्ध्यति खेचरी तदा॥
स्नुहीपत्र निभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
प्रथमेऽह्नि रोममात्रं छिन्द्यात् घर्षयेत् ततः॥
पथ्या सैन्धवयोश्चूर्णं, सप्तमेऽह्नि पुनस्तथा।
एवं क्रमेण षणमासं नित्यं युक्तः समाचरेत्॥
कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥

इस प्रकार प्राणाभ्यास पूर्वक साधक ब्रह्माण्डमय (विराड्रूप) हो जाय और विन्दु, वायु तथा चक्र एवं चित्त का एकीभाव (लय) करने का अभ्यास करे।

गुदमेढ्रान्तरालस्थं, मूलाधारं त्रिकोणकम्।।१६८।।
शिवस्य जीवरूपस्य, स्थानं तद्धि प्रचक्षते।
यत्र कुण्डलिनी नाम, पराशक्ति प्रतिष्ठिता।।१६९।।
यस्मादुत्पद्यते वायु, र्यस्माद्वह्निः प्रवर्तते।
यस्मादुत्पद्यते विन्दु, र्यस्मान्नादः प्रवर्तते।।१७०।।

(योगशिखोपनि.अ. १)

मेढ्र और गुदा के मध्य त्रिकोणाकार (त्रिकोण) चक्र है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं, वहीं शिवात्मा जीव का निवास स्थान है। वहीं पर कुण्डलिनी नामक पराशक्ति प्रतिष्ठित है। उसी कुण्डली से वायु की उत्पत्ति होती है और वहीं से वह्नि का प्रवर्तन भी होता है। वहीं से विन्दु की भी उत्पत्ति होती है और नाद का प्रवर्तन भी वहीं से (कुण्डलिनीचक्र से) होता है।

यत्र विन्दुश्च नादश्च सोमसूर्याग्निवायवः।।११।। (यो.शि.उ.अ. ३)

जहाँ पर विन्दु, नाद, सोम, सूर्य, अग्नि और वायु को लय किया जाता है वह परमाक्षर ब्रह्म सबका हेतु है।

स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति, त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः।
स्थूलं शुक्लात्मकं विन्दुः सूक्ष्मं पञ्चाग्निरूपकम्।।२८।।

विषै र्विमुच्यते योगी, व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं, पिवेदमरवारुणीम् ॥
गोशब्देनोदिताजिह्वा, चन्द्रसारोहि वारुणी ॥(गो.प.)

सोमात्मकः परः प्रोक्तः, सदा साक्षी सदाच्युतः ।।२९।। (यो.शि.उ.अ.५)

ब्रह्म के त्रिविध रूप हैं—स्थूल-सूक्ष्म और परम। स्थूल रूप शुक्लात्मक विन्दु (वीर्य) है। सूक्ष्म पञ्चाग्निरूपवाला (मूलाग्नि, वडवाग्नि, पार्थिवाग्नि, वैद्युदाग्नि और सूर्याग्नि) है। यहाँ ध्यान रहे कि ये पाँचों अग्नियाँ शरीरान्तर्गत प्रतिष्ठित है, जिसे योगीजन सम्यग् जानते हैं। परमरूप ब्रह्म सोमात्मक है, जो साक्षी मात्र से भासता है और सदा अच्युत (च्युति रहित) स्वरूप है।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास करके जिसने जिह्वा को ऊपर भाग में स्थित विवर में मुद्रित (संलग्न) कर लिया है ऐसे साधक योगी का कामिनी को आलिङ्गित करने पर भी विन्दु (वीर्य) का क्षरण नहीं होता है।

जब तक साधक योगी नभोबद्ध अर्थात् तालु को मुख में स्थित कर ऊर्ध्व विवर में संलग्न किये रहता है तावत् विन्दु (वीर्य) का क्षरण नहीं होता है।

यदि विन्दु चलित हो चुका है अर्थात् स्खलित होने की स्थिति में आ चुका है और हुताशन (योनि मण्डल) को प्राप्त हो चुका है तो भी साधक मेढ्र आकुञ्चन रूप योनिमुद्रा के द्वारा (वज्रोली मुद्रा द्वारा) उसे बाँध कर और उस विन्दु को खींचकरके उर्ध्व (सुषुम्ना मार्ग से विन्दु स्थान के प्रति) गति कर विन्दु स्थान को प्राप्त करा देता है और उसका वीर्य स्खलित नहीं होता।

खेचरी विधि—छेदन, चालन और दोहन से कला (जिह्वा) की अभिवृद्धि अर्थात् ब्रह्मविवर प्रविष्टि की योग्यता होती है। उक्त क्रिया के द्वारा साधक का जबतक भ्रूमध्य स्थित विवर का स्पर्श होता रहता है तावत् खेचनी मुद्रा की सिद्धि होती रहती है।

साधक प्रथम दिन स्नुही (गुडा) पत्र के सदृशपत्र के सुतीक्ष्ण-स्निग्ध एवं निर्मल शस्त्र से रोममात्र जिह्वामूलशिरा का छेदन करके फिर उस पर पथ्या और सैन्धव (सेंधा नमक) के चूर्ण का घर्षण करे। पुनः वह साधक इसी प्रकार सातवें दिन करे। इसी प्रकार छः महीना तक इस क्रिया के करने पर रसनामूलाग्र (जिह्वा का अग्रभाग) की शिरा जो कपालकुहर प्रविष्ठि में रसना संयोग का प्रतिबन्धक है, वह नष्ट हो जाता है और कपाल विवर में रसनाग्र की प्रविष्टि होने लगती है। अभ्यासी साधक ब्रह्मविवर में जिह्वाग्र प्रवेशन का छः महीना तक अभ्यास करे।

साधक योगी इसके बाद जिह्वा के अग्रभाग जो पराङ्मुखी है उसको प्रत्यङ्मुखी (सम्मुखी) करके तीन नाडियों का जो मार्ग है उस त्रिपथ कपालकुहर में योजित कर दे अर्थात् जिह्वा को कपाल कुहर (रन्ध्र) में ऊपर की ओर लगावे तो यह खेचरी मुद्रा कहलाती है। इसी विवर को योगमार्ग में व्योमचक्र भी कहा जाता है। इसी को हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार कहा है—

कपाल कुहरे जिह्वा, प्रविष्टा विपरीतगा।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि, र्मुद्रा भवति खेचरी ।। (३/३२)

अर्थात् कपाल कुहर में उलटी जिह्वा प्रविष्ट कराकर के दोनों भौंहों के मध्य दृष्टि के स्थिर करने से खेचरी मुद्रा होती है।

जो योगी खेचरी मुद्रा का अभ्यस्त है वह विभिन्न प्रकार के विष के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और उसे किसी प्रकार की व्याधि तथा जरा-मरण का भय नहीं रह जाता है।

यहाँ मूल में कहा गया है कि साधक योगी गोमांस का भक्षण और वारुणी का पान नित्य करे। प्रश्न यह है कि योगमार्ग में भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय पर बहुत ही विचार पूर्वक संयम किया जाता है, फिर इसका अर्थ क्या होना चाहिये। कहते हैं—गो शब्द से जिह्वा को यहाँ ग्रहण किया गया है और वारुणी शब्द से चन्द्रसार (गले में जो लम्बिका है उसके ऊपर छिन्द्र से गलित चन्द्रामृत) का अर्थ ग्रहण किया जाता है। अतः जिह्वा का विपरीत अर्ध्वगमन (विवर संलग्नता) रूप कर्म ही गोमांस भक्षण है और चन्द्रसार (चन्द्रामृत रस) पान ही वारुणी पान है। अतः हठ योग प्रदीपिका में कहा है—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं, पिवेदमरवारुणीम्।

कुलीनं तमहं मन्ये, इतरे कुलघातकाः ।। (३/४७)

नित्यं सोमकलापूर्णं, शरीरं यस्य योगिनः।

तक्षकेनापि दष्टस्य, विषं तस्य न सर्पति ।। (३/४५)

इन्धनानि यथा वह्नि, स्तैलवर्ति च दीपकः।

तथा सोम कलापूर्णं, देही देहं न मुञ्चति ।। (३/४६)

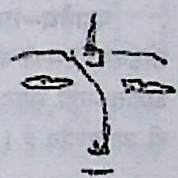
अर्थात् गोमांस (मुखोर्ध्वविवरसंलग्नजिह्वाकर्म) नित्यभक्षण करना चाहिये तथा चन्द्रसार (**सोम** = चन्द्र, **सार** = अमृतरस) का पान भी नित्य करना चाहिये। जो ऐसा अभ्यास करता है वही कुलीन अर्थात् तन्त्रयोग मार्ग का आश्रय करनेवाला वास्तविक योगी है। इससे इतर जो कुलमार्ग में मत्स्य-मांसादि का भक्षण और मद्यपान का सेवन करता है वह कुलमार्ग (कौल मार्ग का) घातक-उच्छेदक है। ऐसे लोग पाखण्डमात्र का आडम्बर करनेवाले है, जो घोर नरक के भागी हैं तथा समाज में धर्म के नाम पर मद्य और मांस का प्रसार करते रहने से राष्ट्र द्रोही हैं। आज कितने ही लोगों को गलत-खान-पान का आदत लगाकर वे उनके भविष्य को अन्धकार में ढकेलते रहते हैं। अतः ऐसे तान्त्रिकयोगी, फकीर, त्यागी, साधु नाममात्रधारी और आचरण से पतित लोगों से समाज को सावधान रहकर अपने सनातनधर्म के परिपालन में तत्पर रहने की आवश्यकता है। (गोरक्ष पद्धति)

केवलकुम्भकः—

द्वाराणां नवकं निरुध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितम् ।
नीत्वाकाशमपानवह्नि सहितं शक्त्या समुच्चालितम् ॥
आत्मस्थानयुतस्त्वनेन विधिवद्विनस्य मूर्ध्निधुवम् ।
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते ॥ (गोरक्ष पद्धति)

महाबन्धः—

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोपरि च संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥
धारयित्वा यथा शक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥
जयं तु सर्वनाडीना, मूर्ध्वगतिनिरोधकः ।
त्रिवेणी सङ्गमं धत्ते, केदारं प्रापयेन्मनः ॥



केवलकुम्भकः—

व्याख्या—साधक वायु को पीकर अर्थात् पूरकोपरान्त कुम्भक विधि से नवों द्वारों का निरोध करके दृढ़ता पूर्वक वायु को धारण पुनः वाम पार्ष्णि का दक्षिण तरफ (योनि स्थान के पास) रखे। पुनः आत्मस्थान से विधिवत् संयोग करके यह स्थिति जब तक बनी रहती है तब तक साधक महान् योगियों द्वारा प्रशंसनीय होते हैं। (गोरक्ष पद्धति)

महाबन्धः—अब महाबन्ध के सम्बन्ध में लिखते हैं—साधक वाम पाद (वायाँ पैर) को पार्ष्णि ("तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः" इत्यमर कोशात्) योनिस्थान (गुदा मेढ़ के अन्तराल) में संयोजित कर करके पुनः अपान वायु को कुण्डलिनी के साथ आकाश अर्थात् हृन्मध्य में संयोजित कर पुनः चालन विधि से शक्ति का चालन करे। इस आत्मस्थान (हृन्मध्य) में मूर्ध्नि को संलग्न करे। उसके बाद हृदयदेश में वायु पुरित (कुम्भक) करके और चिबुक को उस पर दृढ़ता पूर्वक स्थापित करे। पुनः योनि को पीडित तथा आकुञ्चन करके मन के मध्य में नियोजित करे। फिर यथा शक्ति कुम्भक धारण करके धीरे-धीरे रेचक करे। इस तरह वामाङ्ग भाग में सम्यग् अभ्यास करके पुनः दक्षिणाङ्गभाग में उसी प्रकार अभ्यास करे। दोनों अङ्गों में अभ्यास की तुल्यता एक जैसी हो यह साधक ध्यान रखे। इस विधि को करने से सभी नाड़ियों का निरोध पूर्वक उन पर विजय प्राप्त हो जाता है तथा त्रिवेणी संगम को प्राप्त कर मन केदार (ब्रह्म) को प्राप्त होता है।

महावेधः—

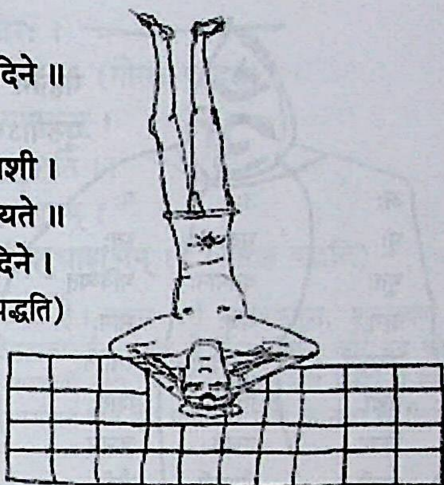
महाबन्धस्थितो योगी, कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य, निवृतं कण्ठमुद्रया ॥
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताड्येच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥
सूर्य सोमाग्नि सम्बन्धो जायते चामृताय वै ।
वलिपलित वेपघ्नः........................ ॥

महावेध—राजदन्तस्थजिह्वा में बन्ध करने से शरीरस्थ बहत्तर हजार जो नाड़ियाँ है (सुषुम्ना को छोड़कर) उसकी जो वायु की ऊर्ध्वगति तथा अधोगति होती है, उसका निरोधक (प्रतिबन्धक) होता है अर्थात् नाड़ी समूह का बन्ध होता है। इस महाबन्ध की सिद्धि की महिमा योगी-सिद्ध साधकों में बहुत ही आदरणीय है। इसकी महिमागान में हठायोगप्रदीपिका का कथन है—

महावेधोऽयमभ्यासान्महा सिद्धिप्रदायकः ।
वलिपलित वेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ।।३/२९।।

अर्थात् इस महावेध (महाबन्ध) के अभ्यास करने पर महासिद्धि (अणिमाणि) प्राप्त होती है और वलि (वृद्धावस्था में शरीर के चर्म संकोच), पलित (वृद्धावस्था के प्रभाव से केश-बाल का सफेद होना), वेप (शरीर का कम्पन) को नष्ट कर देता है। अतः साधक-श्रेष्ठजन इसका अभ्यास करते हैं।

महामुद्रा में स्थित होकर योगी एकाग्रबुद्धि (एकतानता) से नासापुटों के द्वारा वायु को ग्रहण करके जालन्धरमुद्रा (कण्ठमुद्रा) से प्राणों की गति को जिस-तिस प्रकार से निश्चल निरुद्ध करके अर्थात् कुम्भक करके, दोनों हाथ को समानरूप से समतल भूमि पर रख करके पुनः दोनों स्फिचों ("स्त्रयां स्फिचौ कटिप्रोथौ" इत्यमरः) को भूमि पर लगे दोनों हाथ के बल योनिस्थान में लगे पार्ष्णि और भूमि पर से उठाये हुए स्फिचों से योनि स्थान का शनैः-शनैः ताडन करे। इस प्रकार की क्रिया करने पर सुषुम्नानाड़ी के पुटद्वय (मुख) में सूर्य (पिङ्गला), सोम (इडा) की वायु सुषुम्ना नाड सुषुम्ना के मध्य में चली जाती है और स्फुरित होने लगती है। इस क्रिया के करने से सूर्य-सोम और अग्नि अर्थात् इडा-पिङ्गला और सुषुम्ना में अधिष्ठित नाड़ी का ग्राह्य सम्बन्ध बन जाता है अर्थात् उसके वायु से उसका सम्बन्ध बन जाता है (तीनों का एकीभावलय हो जाता है) और ऐसा होने पर जरा-मरण के भय से साधक छूट जाता है, क्योंकि मूल में "जायते अमृताय वै" कहा है। इस प्रकार की यौगिक किया से शरीर की झुर्री-बाल का पकना और शरीर कम्पन दोष नष्ट हो जाते हैं।



एतत्त्रयं महागुह्यं (महा मु.व वेधाः)
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥

विपरीतकरणीमुद्रा–

अर्ध्वं नाभेरधस्तालोरुर्ध्वभानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।
(गोरक्ष पद्धति)

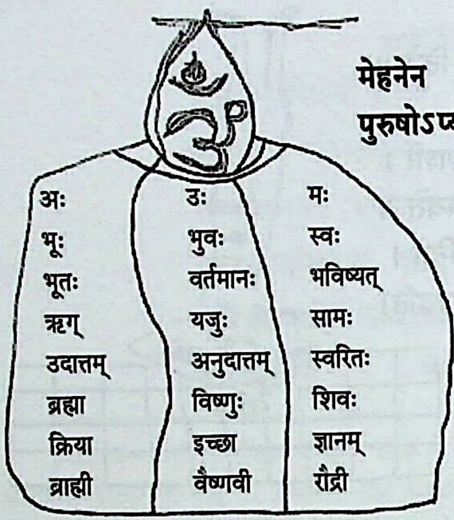
व्याख्या–ये महामुद्रादित्रय जो पूर्व में कहा जा चुका है अत्यन्तगुह्य अर्थात् महारहस्य का है और इसका अभ्यास प्रतिदिन-प्रति प्रहर के हिसाब से आठ वार करने से साधक पुण्यसमूह का धारक, पाप समूह का नाशक हो जाता है। वह जिस प्रकार वज्र से किसी वस्तु को चूर्णं (नष्ट) करने में कोई कठिनाई नहीं होती उसी प्रकार सुलभता से पाप समुदाय को नाश करने में समर्थ हो जाता है। यथा कहा है कि—

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणमादिगुणप्रदम्।। (हठयोग प्रदीपिका ३०)

विपरीतकरणी मुद्रा–साधक नाभिप्रदेश को ऊपर करके (जैसा ऊपर चित्र में है) तालुभाग को नीचे करके भानु[१] (दहनात्मक सूर्य) को ऊपर और शशी[२] (अमृतात्मा चन्द्र) को नीचे करके यथा-यथा अभ्यास करता है तथा तथा विपरीतकरणी सिद्ध होती है। परन्तु यह विपरीतकरणी गुरु के निर्देश और कृपा से प्राप्त होती है। अब उसकी क्रमिक क्रिया को कहते है—इस क्रिया को करनेवाले साधक अल्पाहार (आहार से कम भोजन) न करे बल्कि पुष्टाहार और पूर्णाहार का सेवन करे, अन्यथा इस क्रिया के करने पर क्षणमात्र में देह का दहन कर देता है। अतः साधक पौष्टिक एवं पूर्णआहार का सेवन करते हुए प्रथम दिन शिर को नीचे करके और पैर को ऊपर करके कुछ काल अभ्यास करे। इस क्रिया में साधक को अपने को कटिप्रदेश पर अवलम्बित करना चाहिये। इस प्रकार बाहुमूल से आरम्भ कर कूर्परपर्यन्त, स्कन्धपर्यन्त, गलपृष्ठ, एवं शिरभागों से भूमि का आलम्बन करने से अधःशिर होता है। इस क्रिया में पैर ऊपर की ओर होता है तथा शिर नीचे होता है। (गोरक्ष पद्धति)

---

१. पिङ्गला, २. इडा।



वज्रोली–

मेहनेन शनैःसम्य, गूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ।।
(गोरक्ष पद्धति)

वज्रोली–मेहन (स्त्रीसंग के अनन्तर विन्दु क्षरण) होने से स्त्री अथवा पुरुष साधक सम्यक् (यत्नपूर्वक) मेढ़ के आकुञ्चन का अभ्यास करे, जिससे (मेढ़ के आनुञ्चन से) विन्दु (वीर्य) का उर्ध्व गमन हो जाता है वीर्य क्षरण नहीं होता है। इस प्रकार साधक वा साधिका वज्रोली की सिद्धि प्राप्त करते है।

प्रणवओम्–अब ओंकार ब्रह्म की साधना को कहते हैं—प्रणव 'ॐ' शब्द को कहते हैं। यह तीन वर्ण "अ, उ, म" का सम्मिलित वर्णसमूहरूप है। 'अ' भूलोंक का वाचक 'उ' भुवर्लोक एवं वर्तमानकाल और 'म' स्वर्लोक तथा भविष्यत्काल वाचक रूप है। 'अ' ऋग्वेद, 'उ' यजुर्वेद और 'म' सामवेद स्वरूप है। 'अ' ब्रह्मा, 'उ' विष्णु और 'म' शिवस्वरूप अर्थात् 'ओम' त्रिदेव है। 'अ' ब्रह्म की क्रियाशक्ति, 'उ' इच्छाशक्ति और 'म' ज्ञानशक्ति है। अतः हम कह सकते हैं कि 'अ' ब्राह्मीशक्ति, 'उ' वैष्णवीशक्ति और 'उ' रौद्रीशक्ति है। इसलिये योगचूड़ामणि उपनिषद् के "प्रणवार्थ रूप ब्रह्म" आख्यान में कहा है—

"राजसो ब्रह्मा, सात्त्विको विष्णुः, तामसो रुद्र इति। एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमं संबभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ, रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्र प्रथमजा बभूवुः।

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्, सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु, ह्यवस्थासु अधोमुखः ।।७३।। (योग चूड़ामणि उपनिषद्)
अकारो राजसो रक्तो, ब्रह्मा चेतन उच्यते।
उकारः सात्त्विकः शुक्लो, विष्णुरित्यभिधीयते ।।७५।।
मकारः तामसः कृष्णो, रुद्रश्चेति तथ्योच्यते।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा, प्रणवात्प्रभवो हरिः ।।७६।।
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः, प्रणवो हि परो भवेत्।
अकारे लीयते ब्रह्मा, उकारे लीयते हरिः ।।७७।।
मकारे लीयते रुद्रः, प्रणवो हि प्रकाशते। (यो.चूड़ा.उपनिषद्)

पद्मासनं समारुह्य, समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते, जपेदोंकारमव्ययम् ।। (गोरक्ष पद्धित)
आसनेन रुजं हन्ति, प्राणायामेण पातकम् ।
विकारं मानसं योगी, प्रत्याहारेण मुञ्चति ।।
धारणाभिमतो धैर्यं, ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति, त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ।। (गोरक्ष पद्धति)

अकार वर्ण राजसगुण, रक्तवर्ण, चेतनरूप ब्रह्मा है। उकार वर्ण सात्त्विकगुण, शुक्लवर्ण, विष्णुरूप है। मकारवर्ण तामसगुण, कृष्णवर्ण, रुद्रदेवतारूप है। प्रवण से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की उत्पत्ति हुई है। अत: वे प्रणव में ही लीन होते हैं। अकार में ब्रह्मा, उकार में विष्णु और मकार में रुद्र का लय होता है। इसलिये प्रणव ॐ ब्रह्म ही सर्वत्र प्रकाशित होते है। पूर्वार्जित पापों के नाश के लिये प्रणव ब्रह्म मन्त्र का जप आवश्यक है—

ततो रहस्युपाविष्टः, प्रणवं लुप्तमात्रया ।
जपेत् पूर्वार्जितानां तु, पापानां नाशहेतवे ।।६३।।
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः, प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन, सिद्धिरारम्भसंभवा ।।६४।। (यो.तत्त्वोपनि०)

साधक सभी प्रकार के पूर्वार्जित पापों को नष्ट करने के लिये एकान्त (निश्छद्म) देश में यथानुकूल विहित आसनारुढ़ होकर बैठ जाय और सर्वविघ्नहर-सर्वदोषहा प्रणव मन्त्र 'ॐ' का जप करे और सतत अभ्यास करने पर सिद्धि का द्वार खोले। प्रणव के अवयव से परिचय कराने के लिए आपको योग-चूड़ामणि उपनिषद् की ओर ले चलें—

"अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो
लोकास्त्रयो गुणास्त्रयोऽक्षराणि एवं प्रणवः प्रकाशते ।"
अकारो जाग्रति नेत्रे, वर्तते सर्वजन्तुषु ।
उकार कण्ठतः स्वप्ने, मकारो हृदि सुप्तितः ।।७४।।

अकार-उकार और मकार जो तीन वर्ण हैं यही ऋग-यजु:-साम वेद, भू:-भुव:-स्व: लोक हैं। सत्त्व-रज-तम तीनों गुण हैं, इसलिए प्रणव ही सर्वत्र प्रकाशित हो रहे हैं। अकार जाग्रत अवस्था है और वह सभी जन्तुओं के नेत्र में रहता है। उकार स्वप्नावस्था है जो कण्ठदेश में स्थित है और मकार सुषुप्ति अवस्था है जो सभी जन्तुओं के हृदय देश में स्थित है। यही कोष्ठकगत विवरण का अभिप्राय है। कोष्ठक ऊपर मूल (प्रतीकचित्र) में दिया गया है।

ओंकारजपविधिः—पद्मासन लगाकर बैठकरके शरीर (घड़) और शिर को सम (सीध) में करके फिर एकान्त दृष्टि से नासाग्र को देखते हुए अव्ययब्रह्म ओंकार का जप करे। (गोरक्ष पद्धति)

आसनादिका अभ्यासफल—आसन के अभ्यास से शरीरगत रोग नष्ट होते हैं, प्राणायाम के अभ्यास से नाडीगत पाप नष्ट होते हैं और प्रत्याहार के अभ्यास से मानसरोग अर्थात् मानस विकार नष्ट होते हैं। धारणा से धैर्य का उदय होता है। ध्यान से अद्भुत चेतन भाव का प्राकट्य होता है एवं समाधि से शुभाशुभ कर्म त्याग पूर्वक मोक्ष का लाभ होता है। (गोरक्ष पद्धति)

प्राणायामः–

प्राणांश्चे दिडया पिवेत्परिमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्,
पीत्वा पिङ्गलया समीरमथो बध्वा त्यजेद्वामया।
सूयाचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायताम्,
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥ (गो.प.)



प्राणायाम–

व्याख्या–यहाँ पर प्राणायाम के अभ्यास की विधि दी जा रही है—साधक प्रथम इडा अर्थात् नाक के वाये छिद्र से वाह्यवायु को जितना खीचने में समर्थ हो उतना अन्दर खीचे। इस क्रिया को पूरक कहते हैं। वह साधक पुनः अन्य छिन्द्र अर्थात् नाक के दाहिने छिद्र से उस पूरित वायु को बाहर छोड़े। यह क्रिया रेचक कहलाती है। नाक के वायें छिद्रभाग को इडा और दाहिनेभाग के छिद्रभाग को पिङ्गला कहते हैं। ये दोनों इडानाडी और पिङ्गलानाडी के नाम से भी योग साधना क्षेत्र में प्रसिद्ध है। इडा को चन्द्र या चन्द्रनाडी तथा पिङ्गला को सूर्य या सूर्यनाड़ी कहा जाता है। इसको ध्यान में रखकर हम प्राणायाम विधि के विवेचन में आगे बढ़ रहे हैं—प्रथम आवृत्ति के प्राणायाम में हम इडा से वायु को हृदयदेश में खीचकर कुछ देर रूकने के बाद पिङ्गला से उस वायु को रेचित किये थे। इन दोनों क्रिया के मध्य वायु का हृदय देश में ठहराव को हम कुम्भक कहते हैं। अब पुनः पूर्व की क्रिया के विपरीत पिङ्गला (नाक के दाहिने छिद्र) से बाहर के वायु को खींचकर कुछ काल रूककर वामभागस्थ छिद्र अर्थात् इडा से उसका पुनः रेचन (त्याग) करना चाहिये अर्थात् अभ्यास करे। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के द्वारा दोनों बिम्ब (सूर्य और चद्र) का ध्यान करना चाहिये। इस तरह एक बार चन्द्र (इडा) से पूरक क्रिया, कुम्भक क्रिया और पिङ्गला से रेचन क्रिया, दूसरी वार सूर्य (पिङ्गला) से पूरकक्रिया, कुम्भकक्रिया और इडा (चन्द्र) से रेचन करने का अभ्यास करते रहना चाहिये। इस विधि से अभ्यास करने पर योगी साधक का नाड़ी समूह तीन महीने बीतने के बाद शुद्ध हो जाती है।

पाठकगण मूल में प्रतीक चित्राङ्कण को भी देखें जिससे समझने में सुविधा होगी। प्रतीक चित्र इसी अभिप्राय में दिया गया है ताकि समझने से सुलभता हो। (गोरक्ष पद्धति)

यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतो मुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्म, यातायातं न विद्यते ॥ (गो.प.)
सम्बद्धासनमेढ्रमन्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटा,
द्द्वाराण्यंङ्गुलिभि र्निषम्य पवनं वक्त्रेण सम्पूरितम्
ध्यात्वा वक्षसि वह्न्यपान सहितं मूर्ध्निस्थितं धारयेत्,
एवं याति विशेषतत्त्व समतां योगीश्वरस्तन्मयः ॥ (गो.प.)
गगनं पवने प्राप्ते, ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां, तदा सिद्धिरदूरतः ॥ (गो.प.)
प्राणायामेन युक्तेन, सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन, सर्वरोगस्य सम्भवः ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा, सुखं यद्वायुधारणम् ।
स वै केवल कुम्भकः ॥
कुम्भके केवले सिद्धे, राजयोग पदं लभेत् ।
कुम्भकात्कुण्डली बोधः, सुषुम्नानिर्गला भवेत् ॥ (गो.प.)

व्याख्या–जिस समाधि में परम ज्योति स्वरूप, अनन्त, व्यापक, ब्रह्म विराजते हैं, उस निरञ्जन ब्रह्म के दर्शन (आत्मत्त्वेन साक्षात्कार) कर लेने पर साधक योगी के लिये कोई भी क्रिया, कर्म, यातायात, देन-लेन आदि जागतिक व्यवहार शेष नहीं रह जाता अर्थात् सकल व्यवहार निष्प्रयोज्य हो जाता है। (गोरक्ष पद्धति)

साधक योगी आसन में बैठाकर और अपने दोनों पार्ष्णिभाग को जघनान्त मेढ्र को पीड़ित कर, दोनों हाथ की अङ्गुलियों से दोनों कान, नाक और आँखों को बन्द कर, पूरक प्राणायाम पूर्वक मुख को वायु से प्रपूरितकर, हृदय देश में वह्नि सहित अपान वायु का आकुञ्चन करके पुनः मूर्ध्निस्थ करके सभी भौतिक पञ्चतत्त्व का शक्ति में लय करने से समता को प्राप्त होकर तन्मय हो जाता है। (गोरक्ष पद्धति)

पवन के गगन अर्थात् परमात्मा ब्रह्म में लय हो जाने पर अथवा विन्दु में लय हो जाने पर महान् ध्वनि की उत्पत्ति होती है। वह ध्वनि घटानाद, झाँझ, मजीरा, मृदङ्ग, वीणा आदि में से किसी की हो सकती है। इस स्थिति को प्राप्त होने पर साधक के लिये सिद्धि दूर नहीं रह जाती है। (गोरक्ष पद्धति)

प्राणायाम परायण साधक के सभी रोग क्षय हो जाते हैं। अयुक्ताभ्यास अर्थात् विधिहीन अभ्यास से सभी प्रकार के रोगों की सम्भावना बनी रहती है। अतः यथा विहित विधि से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। अन्यथा हानि हो सकती है। रेचक और पूरक प्राणायाम को छोड़कर जो सुख पूर्वक वायु का धारण करना रूप कर्म होता है वह केवलकुम्भक कहलाता है। केवलकुम्भक के सिद्ध हो जाने पर राजयोग पद की प्राप्ति होती है। केवलकुम्भक से ही कुण्डली जागृत होती है और सुषुम्ना की अर्गला (अवरोध) दूर हो जाती है अर्थात् सुषुम्ना का मुहँ खुल जाता है। (गोरक्ष पद्धति)

कुम्भकप्राणरोधान्ते, कुर्य्याच्चित्तं निराश्रयम्।
एवमभ्यासयोगेन, राजयोगपदं व्रजेत्॥
(गो.प.)

वपुः कृषत्वं वदने प्रसन्नता, नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
आरोग्यता विन्दु जयोऽग्निदीपनम्, नाडी विशुद्धि र्हठयोगलक्षणम्॥
(गो.प.)

प्रत्याहारः

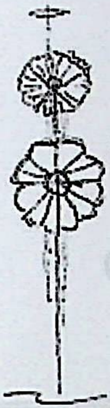
यथा तृतीयकालस्थो, रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी, विकारं मानसं तथा॥
सर्वमात्मेति विज्ञाय, प्रत्याहरति योगवित्॥
चन्द्रामृतमयीं धारां, प्रत्याहरति चन्द्रमा।
यत्प्रत्याहरणं तस्याः, प्रत्याहारः स उच्यते॥
नाभिदेशे वसत्येको, भास्करो दहननात्मना।

व्याख्या—साधक योगी कुम्भक प्राणायाम के द्वारा प्राण का रोध करके चित्त को निराश्रित करे। इस प्रकार अभ्यास के योग (युक्ति) से राजयोग पद प्राप्त होता है। (गोरक्ष पद्धति)

हठयोग की सिद्धि हो जाने पर साधक में जो लक्षण दिखाई पड़ता है उसे कहते हैं—उस साधक का शरीर कृश (दुबला) हो जाता है, मुख पर प्रसन्नता (प्रसाद) की रेखाएँ स्पष्ट दीखती है, उसका नाद (ध्वनि) स्फुट रूप से प्रकट होता है, दोनों आखें सुनिर्मल हो जाती हैं और शरीरादि में रोग का अभाव होने से आरोग्यमय जीवन हो जाता है। विन्दु (वीर्य) पर वह जय प्राप्त कर लेता है तथा मन्द जठराग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है एवं नाडियों में जो पूर्व से मल (पाप) जमे रहते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। यही उस हठयोगी का लक्षण होता है। (गोरक्ष पद्धति)

प्रत्याहार

जिस प्रकार दिन के तृतीय प्रहर में सूर्य अपनी प्रभा (तेज किरण) का प्रत्याहरण कर लेता है। उसी प्रकार तृतीयाङ्ग अर्थात् प्रत्याहार का अभ्यासी योगी बाह्य जगत् के विषयों से मन को प्रत्याहरित (हटा) कर अपने विकार को क्षीण कर देता है। यह सर्वजगत् आत्मा ही है ऐसा साधक विनिश्चय करके इन्द्रियों और मन को जगत्प्रपञ्च से पृथक् कर लेता है यह भी प्रत्याहार है। चन्द्रामृतमयी धारा को चन्द्रमा प्रत्याहरित करती है और चन्द्रमा के द्वारा चन्द्रामृतमयी धारा का प्रत्याहरण करने के कारण उसे प्रत्याहार कहते हैं, उसी प्रकार किसी भी प्रकार के प्रत्याहरण को प्रत्याहार कहा जाता है।



अमृतात्मा स्थितो नित्यं, तालुमूले च चन्द्रमा ॥
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो, ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ॥ (गो.प.)

त्रिधाबद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥ (गो.प.)
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते । (गो.प.)
अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः ।
कुण्डलिन्या सामयुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषात् ॥

नाभि देश में एक (अद्वितीय) दहनात्मक सूर्य वास करता है; और अमृतात्मा चन्द्रमा तालुमूल में नित्य निवास करती है। वह तालुमूलस्थ अधोमुख चन्द्रमा अमृत की वर्षा करती है और नाभि देशस्थ उर्ध्वमुख रवि (सूर्य) उसको ग्रहण (पान) करता है। (गोरक्ष पद्धति)

अनाहत चक्र

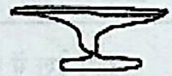
वृष (वाग्पुरुष) तीन जगह बँधा हुआ है और महाध्वनि करके बोलता है। यहाँ वाणी के वृष का रूपक दिया गया है। गो शब्द वाणी, गौ (जाति), पृथिवी, इन्द्रिय, जिह्वा आदि अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। वह तीन जगह कौन-कौन है ? (क) नाभिस्थान (मणिपूरक चक्र) में, (ख) हृदयदेश (अनाहत चक्र) में और (ग) कण्ठप्रदेश (विशुद्ध चक्र) में वह बँधा है। वाणी का मुख्य उद्भवस्थान यही तीन देशस्थान है। जहाँ (हृत्कमल में) अनाहचक्र है योगीजन इसे बखूबी से जानते हैं। प्रतीक चित्र में तीन चक्र का अङ्कण किया गया है आप पाठकगण—अपनी सुविधा हेतु उसे देखें और समझने का प्रयत्न करें। (गोरक्ष पद्धति)

चित्त में जो शुद्ध सात्त्विक चिन्ता की जाती है, उस सात्त्विक चिन्ता को ही ध्यान कहा जाता है। (गोरक्ष पद्धति)

साधक पृथ्वी पर सुखासन में बैठकर चेतना को अन्तःकरण में स्थापित करे और चक्षु को बाहर की ओर ही रहने दे और फिर कुण्डलिनी से समायुक्त होकर ध्येय का ध्यान करे। ऐसा करने वाला साधक योगी सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है।

साधक वस्ति प्रदेश–पेडूभाग में षड्दलकमलचक्र अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र में सुन्दर माणिक्य के समान प्रभावाली शक्ति से युक्त आत्मा का ध्यान करे। उक्त चिन्तनकाल में चक्षु की दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित रखना चाहिये। ऐसा अभ्यास करनेवाला योगी सुखी होता है।

स्वादिष्ठाने षट्पत्रे सन्माणिक्य समप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ॥
तरुणादित्य संकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥ (गो.प.)


हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ (गो.प.)
यदा संक्षीयते प्राणो, मानसं च प्रलीयते ।
यदा समरसत्वं च, समाधि सोऽभिधीयते ॥ (गो.प.)
यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।

समस्त नष्ट संकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥
प्रत्येकः परमाणुस्तु, जीव देहो न संशयः ।
प्रत्येकस्मिन्पराणौ च, भुवनानि चतुर्दश ॥ (पु.ज्यो.)
ससीमं देहिनो ज्ञानम् .... ॥

साधक तरुण (युवा) आदित्य (मध्यकालीन सूर्य) के समान शोभायमान मणिपूरक चक्र में अवस्थित आत्मा का ध्यान करे । ध्यानकाल में एकाग्रदृष्टि नासाग्रपर रखे । ऐसा अभ्यास करने पर योगी जगत् को संक्षुब्ध कर देता है । (गो.प.)

व्याख्या—हृदयरूपी आकाश में स्थित शम्भु (शिव) मध्यकालीन सूर्य के समान प्रचण्ड प्रकाश से प्रकाशित है । साधक को नासाग्रभाग में दृष्टि को एकाग्र करके उस शिव का ध्यान करते हुए ब्रह्ममय हो जाना चाहिये । (गोरक्ष पद्धति)

जब प्राणवायु का क्षय हो जाता है और मन की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियाँ क्षीण हो जाती है तथा जब साधक ध्याता-ध्येय में समरसत्व (अभेद) भाव प्राप्त कर लेता है, तो उसको समाधि कही जाती है । (गोरक्ष पद्धति)

जब साधक का जीवात्मा-परमात्मा का द्वन्द्वभाव (द्वैतबुद्धि) तथा ध्याता-ध्येय का भेद मिट जाय, एक मात्र अद्वितीय परमात्म भाव में ही साधक स्थित हो जाय एवं सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाय तो उसे समाधि कहते हैं । प्रत्येक परमाणु जीवात्मा का देह ही है, इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार प्रत्येक परा अणु में चौदह भुवन का निवास है । यह जीव क्यों नहीं उसे देख और समझ पाता है ? कहते है—देहधारी जीवात्मा का ज्ञान एक सीमा (ससीम) में ही रह कर उसका अनुभव और दर्शन कर पाता है । उसे असीम ज्ञान नहीं होता इसलिये स्वभावप्राप्त गुण के अनुसार इसका अनुभव नहीं कर पाता है । उसे असीम ज्ञान नहीं होता इसलिये इसका अनुभव नहीं कर पाता है । (पूर्णज्योति)

पिङ्गलेडा वहि मेंरो, सुषुम्ना मेरुमध्यतः ॥ (पू.ज्यो.)
मूलाधाराशिराब्जस्थ, द्वादशरान्तमवेहि ।
सुषुम्नावस्थिता नाडी, मोक्षमार्गस्वरूपिणी ॥

कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलमायाम विस्तारं मुनि पुङ्गव? ॥
कुक्कुटाण्डवदाकारं भूषितं तु त्वगादिमिः ॥ (जाबाल द.उ.)
सुषुम्नाग्निमयी दीप्ता पापानां कालरूपिणी ।
विज्ञानालयरूपा सा संसेव्या वीतरागिना ॥
इडा वै शङ्खचन्द्राभा, सितरक्ता तु पिङ्गला ।
सुषुम्ना लोहिता रम्या, योगगम्या सुलक्षणा ॥ (पू.ज्यो.)
शक्ति चैतन्य केन्द्राणि, तानि चक्राणि कायके ।
मूलं निर्माणमार्गस्य कुण्डल्याधारकस्तथा ॥
.... मूलाधार इतिप्रोक्तम् ।।

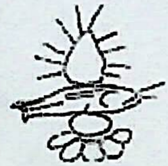
पिङ्गला और इडा नाड़ी मेरु (रीढ) के दोनों ओर अर्थात् वाये भाग में इडा और दाहिने भाग में पिङ्गला स्थित है और सुषुम्ना नामक नाडी मेरु (रीढ) के मध्य में स्थित है। यह सुषुम्ना मूलाधारचक्र के कमल की शिरा में स्थित होती हुई द्वादशकमलचक्र पर्यन्त स्थित रहती है। यह मोक्षमार्गस्वरुणी है।
(पूर्ण ज्योति)

व्याख्या–हे मुनिश्रेष्ठ ! मूलाधारचक्र से नौ अङ्गुल पर मूलकन्द है। वह चार अङ्गुल परिमाण में विस्तृत है तथा मुर्गी के अण्डे के समान आकारवाला है और वह त्वगादिकों से विभूषित है।
(जाबाल द.उ.)

वहाँ अग्निमयी सुषुम्ना प्रदीप्त है जो सभी प्रकार के पापों के लिए कालरूपा है। वह सुषुम्ना सकल ज्ञान-विज्ञान के आलयरूपा है, इसलिये राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर लेनेवाले योगीजन उसकी उपासना करते हैं। उसके वामभाग में इडा नामक नाडी शङ्ख के समान धवल और चन्द्रमा के समान सुशीतल एवं निर्मल प्रकाशवाली है। सुषुम्ना के दाहिने भाग में रक्तवर्ण वर्णवाली पिङ्गला नामक नाडी है। वह रक्तवर्ण सुन्दर सुषुम्ना योगमार्ग को प्राप्त करानेवाली है। शरीर में जितने भी चक्र हैं उनकी चेतना शक्ति सुषुम्ना ही है तथा वह कुण्डलिनी का आधार एवं निर्माणमार्ग (मोक्षमार्ग) का मूल कारण है। इसे मूलाधार इसीलिए कहा जाता कि यह सभी प्रकार के चक्रों, नाड़ियों एवं कुण्डली आदि का धारक है। हंस (परमात्मा) के निवास स्थान महाचक्र कहा जाता है, जो विद्युल्लता के समान तेजस्वी

हंसस्थानं महाचक्रं, विद्युल्लेखेव भास्वरम् ।
स्वादिस्थानमिदं पद्मं, प्राणस्थानमनारतम् ॥
स्पन्दनोऽयं चित्तेर्जीवः, जीवस्य मानसं रथः ।
मानसस्य रथः प्राणः, प्राणः स्पन्दमयो मतः ॥ (पू.ज्यो.)
ध्येयासक्तं मनो ध्येयं, यदा पश्यति केवलम् ।
वेत्ति नो किञ्चिदप्यन्यद्, ध्यानमेतन्निगद्यते ॥ (पू.ज्यो.)

काम संकल्परूपेण, वर्तते मानसं नृणाम् ।
मानसस्य समीरस्य, विलयो यः परात्मनि ।
समाधिना स एव स्यात्, निर्वाणस्यैककारणम् ॥



मानसे शंकरे लीने, प्राणश्च नैव वेपते ॥ (पू.ज्यो.)
शिवे यस्य परा प्रीतिः, स एव भक्त उच्यते ।
शिवे यस्य परा भक्ति, र्योगे नास्ति प्रयोजनम् ॥

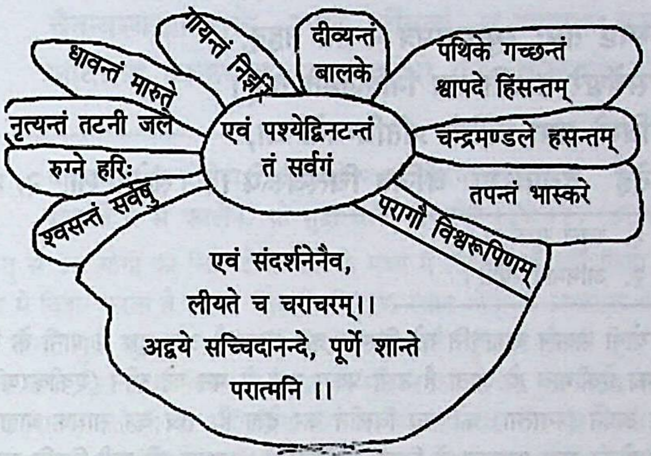
है। ऐसा स्वादिस्थान (स्वाधिष्ठान) पद्मचक्र प्राण का मूल स्थान है जो उसमें रत नहीं रहता अर्थात् उससे भिन्न है।

चित्त का जो स्पन्दन (स्फुरण) है वही जीव है एवं जीव का मानस-चित्तवृत्ति ही रथ है और मानस (चित्तवृति) का रथ प्राण है क्योंकि प्राण स्पन्दमय है। (पूर्णज्योति)

जो साधक ध्येयासक्त मनवाला है वह जब केवल अद्वितीय परमात्मा का ध्यान करता है और उसका दर्शन करता है तो परमात्मा को छोड़कर अन्य वस्तु को नहीं देखता है—नहीं जानता है। जब साधक योगी को केवल ध्येय मात्र का दर्शन होने लगता है तो उसी को ध्यान कहा जाता है।
(पूर्णज्योति)

व्याख्या—उस परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, ज्योतिमय, जगत्प्रकाशक शिवशंकर में सकल मनोवृत्ति के लय हो जाने से प्राणवायु में कम्पन (स्पन्दन) नहीं होता। यह स्वाभाविक है कि जीवात्मा मानव में विभिन्न जागतिक कामनाएँ मानसिकरूप में संकल्परूप से रहते हैं, जो परमात्म दर्शन में प्रतिबन्धक होते है। उन मानस संकल्पों का और प्राणों का परमात्मा में समाधि के द्वारा लय करना जो कृत्य है वही एक मात्र निर्वाण (मोक्ष) का कारण होता है। शिव में मानसिक सकल चित्तवृत्ति के लय हो जाने पर प्राण (वायु) का स्पन्दन (चञ्चलता) नहीं होता अर्थात् वह स्थिर हो जाता है। (पूर्णज्योति)

जिस साधक को शिव में पराप्रीति है वही भक्त कहलाता है और जिस साधक योगी को शिव में पराभक्ति प्राप्त होती है, उसे योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं रह जाती है।



सिद्धत्येव सदायोगः, परब्रह्मसुचिन्तनात् ॥
मद्यं स्यादुन्मनीभावः, मासं मुद्रा तु खेचरी।
मीनमिन्द्रियग्रामः स्यात्, मुद्रा दुःसंगमुद्रणम् ॥
कुण्डलिनी शिवसंयोगः, मैथुनं योगिनां मतम् ॥

जो साधक-योगी-भक्त बालक में क्रीडन करता हुआ, पथिक में गमन करता हुआ, श्वापद (जानवर) में हिंसा करता हुआ, चन्द्रमण्डल में हँसता हुआ, सूर्य में तपता हुआ, वायु में धावन करता हुआ, नदी के जल में नृत्य करता हुआ, सभी भूतों में श्वास लेता हुआ और रुग्न (रोगी) में हरि को निवास करता हुआ तथा पुरोवर्ति वस्तुओं में विश्वरूपधारी परमात्मा का दर्शन करता हुआ दर्शन करता है और उन चराचर विश्वरूप, सर्वात्मा, सर्वव्यापक, अद्वय, सच्चिदानन्द, पूर्णशान्त, परात्मा में जिसकी दृष्टि होती है, उसका वह नित्य योगाभ्यास (यहाँ परमात्मा बुद्धि से सर्ववस्तु में दृष्टि रखना योग कहा है) निश्चय ही सिद्ध होता है। क्योंकि वह साधक परब्रह्म का वास्तविक रूप से सुचिन्तन करता है। इसलिए उसे सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है।

व्याख्या—उन्मनी भाव को मद्य कहते हैं और खेचरी मुद्रा को मांस कहते हैं। इन्द्रियों के समूह को मीन कहते है तथा इन्द्रियों का दुःसंग त्याग ही मुद्रा कहा गया है। इसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति का शिव के साथ संयोग को योगीजन मैथुन कहते हैं। यहाँ पाठक की सुविधा हेतु उन्मनीभाव और खेचरी मुद्रा को कहना आवश्यक समझ में आ रहा है। अत: उन्मनी भाव क्या है प्रथमत: उसको कहते हैं—

विस्मृत्य सकलं वाह्यं, नादे दुग्धाम्बुवन्मनः।
एकीभूयाय सहसा, चिदाकारो विलीयते ।।३९।।
उदासीनस्ततो भूत्वा, सदाभ्यासेन संयमी।
उन्मनीकारकं सद्यो, नादमेवावधारयेत् ।।४०।।
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य, सर्वचेष्टा विवर्जितः।
नादमेवानुसंधानादे चित्तं विलीयते ।।४१।।

स्पष्टं तमः स्फुरणमत्र न तत्र तद्वत्,
सर्वेश्वरे तदिति तत्र निषिद्ध्यते तत् ।
विम्बे तमो नितिते प्रतिविम्बके वा,
देहे द्वयावरण वर्जित चित्स्वरूपे ।। (संक्षेप शा. २/१७६)

१. स्थूलं सूक्ष्मं च।
२. अभिमान रहिते।

जब साधक योगी सकल वाह्यवृत्ति को विस्मृत कर जाता है और दूध में पानी के मिला देने से जिस प्रकार दोनों का ऐकीभाव हो जाता है उसी प्रकार नाद में मन को लीन (एकीकरण) करके फिर चिदात्मा में सहसा अपने (स्वात्मा) को जब विलीन कर देता है, तब वह साधक बाह्य और मानस विषयों से उदासीन होकर सदा अभ्यास में निरत हो जाता है। साधक की यही स्थिति उन्मनी अवस्था का कारक होता है और वह सभी चिन्ताओं को त्याग कर तथा सभी चेष्टाओं से रहित होकर नाद का ही अनुसंधान करते हुए चित्त का नाद में लय कर देता है। और भी—

सर्वावस्था विनिर्मुक्तः, सर्वचिन्ताविवर्जितः ।।५१।।
मृतवत्तिष्ठते योगी, स मुक्तोनात्र संशयः ।
शङ्खदुन्दुभिनादं च, न श्रृणोति कदाचन ।।५२।। (नादविन्दूपनिषद्)
काष्ठवज्जायते देह, उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ।
न जानाति स शोतोष्णं, न दुःखं न सुखं तथा ।।५३।।

वह नादोपासक योगी सभी अवस्थाओं से विनिर्मुक्त हो जाता है। वह सभी प्रकार की चिन्ता से विवर्जित तथा मृतवत् चेष्टा रहित हो जाता है। वह शंख, दुन्दुभि आदि वाद्य यन्त्रों की ध्वनि नहीं सुन पाता और अपने देह को काष्ठवत् स्पन्द रहित है। उसे उन्मनी अवस्था प्राप्त होने से शीत-उष्ण, सुख-दुःख के अन्तर का बोध नहीं रह जाता। अतः ऐसे योगी जो उन्मनीभाव को प्राप्त हो गया है वह जीते (शरीर रहते) हुए ही मुक्त है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

उपर्युक्त यही उन्मनीभाव मद्य है और इसी का पान (ग्रहण) मद्यपान है। इससे इतर मद्य का सेवन घोर पाप और अज्ञानमूलक है।

अब मांस के सम्बन्ध में कहते हैं। खेचरी मुद्रा को ही मांस कहा जा चुका है। खेचरी मुद्रा क्या है ? कहते हैं—

चित्तं चरति खे यस्मात्, जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम, मुद्रा सिद्धै र्निरूपिता ।।४१।।
खेचर्या मुद्रितं येन, विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
तस्य न क्षरते विन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ।।४२।।

चैतन्यस्याज्ञानशक्ते रनादे, र्जीवत्वं तु व्यञ्जकं कल्पयन्तः।
जीवारुढं व्यक्तमज्ञानमाहुः, जीवो मूढः कल्प्यतेऽतो बहुज्ञैः ।।
(संक्षेप शा. २/१९२)

पीड्यते न स रोगेण, लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन, यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।।४०।। (हठयोगदीपिका)

जिस हेतु से उस योगी का चित्त दोनों भौंह के मध्य में विचरता है और जिह्वा मुख के उर्ध्वभाग स्थित ब्रह्मरन्ध्र में विहार करता है अथवा चित्त के विचरण स्थान भौंहों के अन्तराल में विचरता है, इसी कारण से इसे खेचरी मुद्रा का नाम कपिलादि सिद्धों ने दिया है। जिसने खेचरी मुद्रा का अभ्यास किया है और तालु के ऊपर छिद्र (ब्रह्म विवर) में जिह्वा को संलग्न कर खेचरी मुद्रा सिद्ध कर लिया है, उसके विन्दु का क्षरण (पतन) कामिनी को आलिङ्गित करने पर भी नहीं होता है। वह किसी भी रोग से पीड़ित नहीं होता और शुभाशुभ कर्म के फल से लिप्त नहीं होता। वह काल (मृत्यु) से बाधित नहीं होता है, जो खेंचरी मुद्रा जानता है। यह खेचरी ही मांस है ऐसा जानना चाहिये। खेंचरी के सम्बन्ध में विचार इससे पूर्व के पृष्ठों में लिखा जा चुका है। विशेष जानकारी के लिये पाठक वहाँ देख सकते हैं।

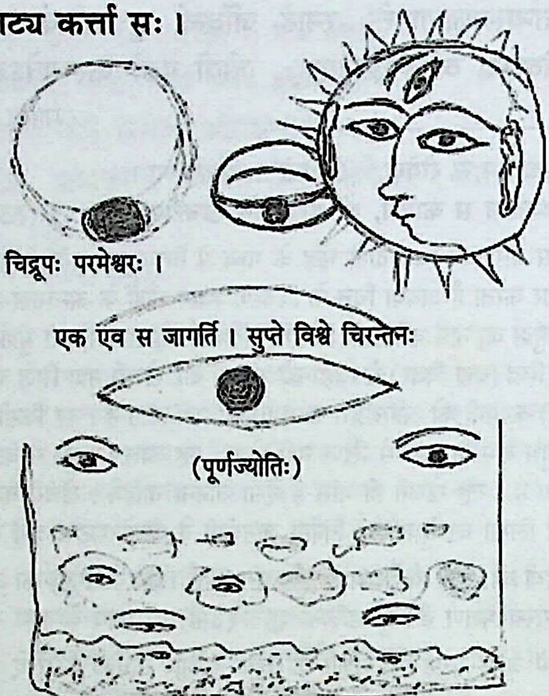
इसी प्रकार इन्द्रियों का समूह ही मत्स्य है और इन्द्रियग्राम (इन्द्रिय समूह) का अपने-अपने कारण में उत्तरोत्तर लय ही मत्स्य भक्षण है। कुण्डलिनी शक्ति (उमा) का शिव के साथ संयोग मैथुन है।

तन्त्रागम शास्त्र में जगह-जगह पञ्च मकार की चर्चा है और साधकों के लिए अपरिहार्य कृत्य के रूप में उसे वहाँ-वहाँ स्थापित किया गया है। चूँकि जगह-जगह वह रूपक में अथवा अन्य अलंकारिक भाषा में उद्धृत है, इसलिए अस्थिर बुद्धि एवं इन्द्रियों के गुलाम कथित साधक उसका अन्यथा रूप से इन्द्रिय पोषक अर्थ करके स्वयं और अन्य को अज्ञानान्धकार में ढकेलते हैं। अतः ऐसे असाधु स्वभाव के लोगों से सनातन धर्मी एवं श्रद्धालुओं को बचने का प्रयास करना चाहिये।

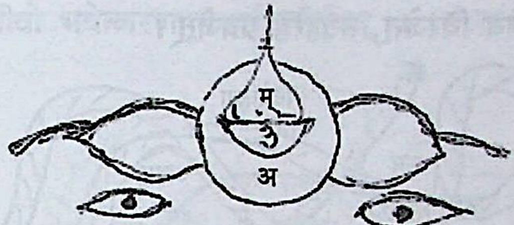
यहाँ (जगत् में) पर तम (अज्ञान) स्पष्टतया दिखाई दे रहा है, परन्तु सर्वेश्वर बोध होने पर उसका (अज्ञान का) बाध (निषेध) हो जाता है। क्योंकि विम्ब में तम का लेश भी नहीं रहता है ऐसा हम ईश्वरवादी का मत है। परन्तु वे प्रतिवादी प्रतिविम्ब अर्थात् जगत्सृष्टि में वैसा मानते हैं। यह आत्मा (परमात्मा) तो दोनों प्रकार के देह अर्थात् स्थूलदेह और सूक्ष्मदेह के अभिमान से रहित चित्स्वरूप है। तात्पर्य है कि साधक जब परमात्म साक्षात्कार कर उसके चित्स्वरूप में स्थित हो जाता है तो उसे जगत्सृष्टि में स्पष्ट रूप से तम का स्फुरण तो होता है, परन्तु सर्वेश्वर परमात्मा में का विनिश्चय ऐसा (तम का रहना) नहीं होता, वहाँ तो सर्वथा तम निषिध्य होता है। तम का स्फुरण प्रतिविम्ब में सम्भव होता है विम्ब चिदात्मा में कदापि नहीं। (संक्षेप शारीरक २/१७६)

चेतन का अज्ञानशक्ति के साथ अनादि सम्बन्ध है। विद्वान् लोगों का मत है कि उसी मन सम्बन्ध का व्यञ्जक जीव है। जीवारुढ़ आदि के व्यक्त अज्ञान है। अतः जीव मूढ़ है, इस सम्बन्ध में बहुज्ञ (विद्वान्) लोग बहुत सा विचार रखते है। (संक्षेप शारीरक २/१९२)

। संसार नाट्य कर्त्ता सः ।



व्याख्या–वह परमा संसाररूपी नाटक का कर्ता है, क्योंकि परमेश्वर का संसार संरचनारूप कर्म नाटक, सृष्टि नाट्य और उनका तत्सम्बन्धी कर्तृत्व ही कर्तापन है। यथा सुवर्ण से निर्मित अङ्गुलीयक (अंगूठी) सुनार का कर्म है। सुवर्ण धातु को आकार-प्रकार देकर वह अङ्गुलियक-कवच-कुण्डलादि का निर्माण करता है; यह उनकी विशिष्टकला है और पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो यह एक नाटक है। नाटक में पात्र का निर्माण, चरित्र का अभिनय ही नाटक श्रेणी में आते है। यथार्थतः नाटक का पात्र किये गये अभिनय को नहीं जीता है। वह समझता है कि यह राम का अभिनय करनेवाला पात्र वास्तविक में सोहन है और सीता का अभिनय करनेवाली मनोरमा है। सुनार सुवर्णधातु से निर्मित कवच-कुण्डलादि नाट्य का यथा कर्त्ता है तथा ईश्वर भी जगन्नाट्य वस्तु के कर्ता हैं। प्रतीक चित्राङ्कण का तात्पर्य इसी को कहने के लिए है। जिस प्रकार सुर्वण से निर्मित वस्तु में मात्र सुवर्ण होते है, उसी प्रकार जगद्वस्तु में मात्र चिद्रूप परमेश्वर मात्र हैं। सुवर्ण से कुण्डलादि और चित् से संसार की उत्पत्ति दार्ष्टान्तिक समझ बढ़ाने के उद्देश्य मात्र के लिए यहाँ दिया गया है। इसे इदमित्थं रूप में यह समझें कि विकारांश मिथ्या होता और विकार्यांश सत् होता है। स्थूलांश-आकारांश-प्रकारांश मिथ्या और सूक्ष्मांश सत् होता है। विकारांश नाट्य-नाटक है इसलिये मिथ्या है, लीला मात्र है, परन्तु वह ईश्वर की कला है। चिद्रूप परमेश्वर सार्वकालिक सत् है।



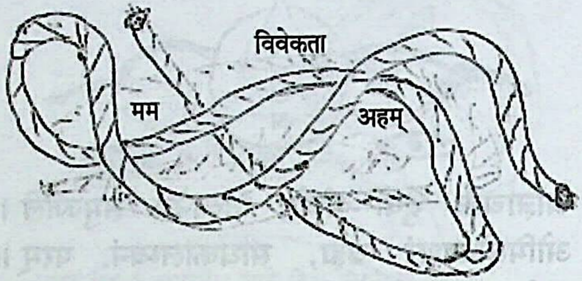
आज्ञाचक्रे भ्रुवो र्मध्ये, दिव्यनेत्रे समुज्जले।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, साधकालम्बनं परम्॥
सूर्यमण्डल संकाशो ह्यकारस्तत्र राजितः।
उकारश्चन्द्रसंकाश, स्तस्यमध्ये व्यवस्थितः॥
मकारो वह्नि संकाश, स्तस्य मध्ये विधूमकः।
अर्धमात्राह्यनुच्चार्या, स्थिता तत्प्रणवोपरि॥
सा प्रदीपशिखातुल्या, विद्युल्लेखेव भास्वरा।
शिवरूपा महासूक्ष्मा, मनस्तत्र विलीयते॥
मानसे विलयं प्राप्ते, भाति ब्रह्म महत्तमम्॥

(पू.ज्यो.)

यह जगत्सृष्टि अज्ञानरूपी रात्रि से आच्छादित होने से निद्रा में है और परमेश्वर प्रकाशक-चेतन-ज्ञान स्वरूप होने से निद्रा रहित है। वह सार्वकालिक अखण्ड दीप के समान सदा प्रकाश प्रदान करते रहता है। अतः इस जगत् के प्रत्येक योनि में अज्ञानावृत जीव सुप्त है। सुप्तावस्था ही प्रलय है और जाग्रत अवस्था ही सृष्टि है। इसीलिये गीता में कहा है "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" जब विश्व सो जाता है अर्थात् उसका कारण में प्रलय हो जाता है, तो एक ही वह चिरन्तन पुरुष परमात्मा जगे रहते हैं। जिसमें सभी जीव सुप्त हो जाय वही प्रलय है, उसी को महानिद्रा या महानिशा भी कहते है। प्रतीक चित्र के माध्यम से उक्त तथ्य को प्रकट करने का प्रयास किया गया है। (पूर्णज्योति)

व्याख्या–दोनों भौंहों के बीच में आज्ञाचक्र है, जो दिव्य समुज्वल नेत्र से समुल्लसित है। वहाँ साधक योगियों के परम आलम्बन का विषय एकाक्षर ओम् ब्रह्म का स्थान है। उस एकाक्षर ब्रह्म ओम् में जो अकार है वह सूर्यमण्डल के समान प्रकाशमान अर्थात् दीप्त है। उसमें चन्द्रमा की कान्तिवाला उकार व्यवस्थित हैं। उस ब्रह्म ओम् के मध्य में घूम रहित वह्नि के समान कान्तिवाला मकार है। उस ओम प्रणव ब्रह्म के ऊपर में अनुच्चार्या (जो उच्चारण में नहीं आता) अर्धमात्रा स्थित है। वह दीपशिखा के तुल्य तथा विद्युल्लेखा के सदृश भास्वर है। वह अर्धमात्रा अतिसूक्ष्मा और शिवरूपा है और साधकयोगीजन इसी में मन को विलीन करते हैं। मानस वृत्ति के विलय हो जाने पर यहीं महत्तम ब्रह्म प्रकाशित होते हैं। (पूर्णज्योति)

यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत् ।



छित्त्वा मायामयं पाशं, वनं गच्छति संयमी ।
सर्वं तस्य विनिःक्षिप्य, देहं गेहं परात्मनि ॥ (पूर्णज्योति)

व्याख्या—जिस दिन सत्त्व गुण का उदय हो जाय और यह विवेक उत्पन्न हो जाय कि—इस जगत् का सम्बन्ध बन्धन है और यह आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, उसी दिन उसी वक्त मानव को सन्यस्त हो जाना चाहिये। संसार के वस्तुओं में 'अहम्' और 'मम' का व्यवहारबुद्धि ही बन्ध-पाश है, जो बन्धरहित आत्मा को बाध कर जकड़ देता है और जीवात्मा मानव 'अहं-मम' के परिणाम स्वरूप कर्ता-भोक्ता आदि रूप से बँध कर उसके फलाफल का भागी बनता है। इसलिए वाराहोपनिषद् में कहा है—

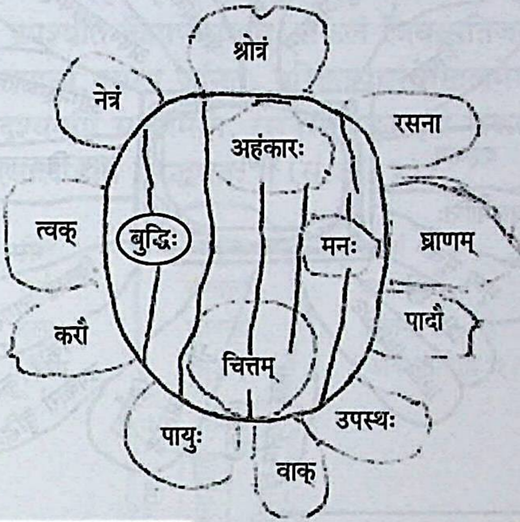
द्वे पदे बन्धमोक्षाय, निर्ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तु, निर्ममेति विमुच्यते ।। (वाराहोपनिषद अ. २)

मम और निर्मम ये—दो ही पद हैं, जिसमें एक तो बाँधता है और दूसरा बन्धन काटता है। वस्तुओं में 'मम' बुद्धि जीवात्मा को बाँधता है, इसलिए पाश को काटने के लिये ब्रह्मविद्या–गुरु और श्रुति वाक्यों में समादर भावना की आवश्यकता होती है। ये जगत् के स्वरूप का निर्णय करने लिये तत्पर रहते हैं। जगत् क्या है ? कहते हैं—

अस्ति भाति प्रियं रूपं, नाम चेत्यंश पञ्चकम् ।
आदित्रयं ब्रह्म रूपं, जगद्रूपं ततो द्वयम् ।।

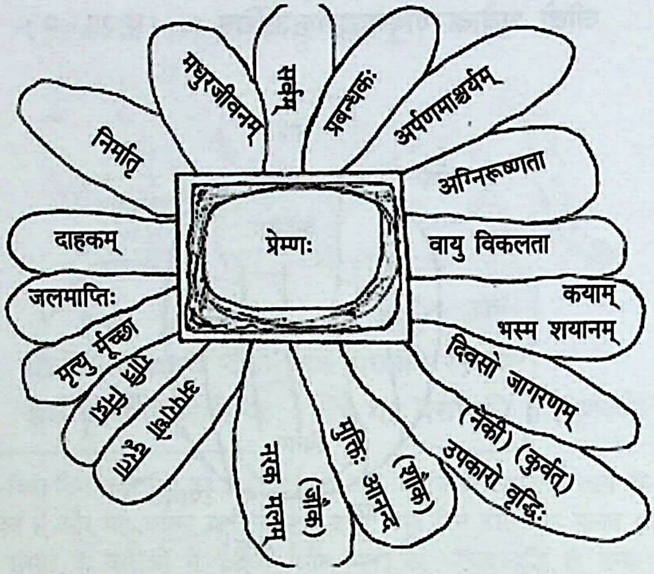
अस्ति (सत्ता), भाति (प्रतीति), प्रिय (आत्मीयता) ये तीन ब्रह्म के रूप है और शेष–नाम और रूप जगत् के रूप हैं। जो जगत् के रूप हैं वे मायिक हैं। अत: मायामय पाश को काट कर योगी लोग तप करने और आत्म साक्षात्कार के लिये वन की ओर प्रस्थान करते हैं। वह संसार के देह-गेह आदि सारी वस्तुओं को असत् जानकर त्याग देते है और त्याग कर परात्मा ब्रह्म चिन्तन में निमग्न हो जाते है। प्रतीक चित्र में पाश और उसमें उलझन को दर्शाया गया है। जिसे काटना-छेदना और खोलना कठिन है। इस अभिप्राय को कहने के लिये ही चित्र में पाश को दर्शाना आवश्यक था। इसलिए मानव-जीवात्मा को जब भी सांसारिक प्रपञ्च की मिथ्या प्रतीति हो जाय, उसी दिन इस देह-गेह को परात्मा में निक्षिप्त कर और गृहस्थाश्रम त्याग करके सन्यस्त हो जाना चाहिये। (पूर्णज्योतिः)

जीवो भवेत्करणपूगवशीकृताचित् ।। (सं.शा. २)



व्याख्या–प्रतीक चित्र के माध्यम से कहा गया है कि—जीवात्मा करणों (ज्ञानेन्द्रियादिकों) से परिपूर्ण-परिपुष्ट देह संघात है। वे इन्द्रियाँ कौन-कौन सी हैं जिससे परिपूरित होकर शरीर संघात (समूह) में अहं (आत्मा) का आलम्बन होता है ? कहते हैं—जीव पञ्चज्ञानेन्द्रि (नेत्र, श्रोत्र, जिह्वा, त्वचा और घ्राण) पञ्चकर्मेन्द्रिय (दोनों हाथ, दोनों पैर, पायु, उपस्थ और वाणी), अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के संघात (समूह) रूप शरीर में स्वात्म निरूपित होकर जीवत्व को प्राप्त है। जीव का ज्ञान ससीम होने के कारण ससीम शरीर को अहंकाराश्रय मानता है और अपने शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव उस आत्मा को नहीं जानता। इसलिये जीवत्वभाव को प्राप्त होता हुआ जनन-मरण के अनन्तचक्र में भ्रमते रहता है। (सं.शा. २)

अब प्रेम के सम्बन्ध में लिखते हैं। प्रेम का क्या लक्षण होता है ? जिसमें प्रेम का उदय होता है उसका व्यवहारादि कैसा है ? कहते हैं—वह व्यक्ति जिसमें प्रेमलक्षणा भक्ति का उदय होता है तो सर्वसृष्टि को ईश्वर का स्वरूप परमात्मरूप से देखता और अनुभव करता है। इसीलिए शाण्डिल्यभक्तिसूत्र—**"द्वेषादयस्तु नैवम् ।।४५।।** के द्वारा कहा गया कि उसे किसी के प्रति द्वेषादिभाव नहीं होते। वह सेवक भाव को प्राप्त होकर केवल सेवादि का प्रबन्ध करता है। अतः वह अपने को प्रबन्धक (सेवक) मात्र जानता है। उसका त्याग–समर्पण आश्चर्यकारी होता है—**"लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्"** ।। (नारद भक्ति सूत्र–६१) प्रेमी भक्त का विचार है—सम्पूर्ण लौकिक वस्तुओं को प्रभु को समर्पित करो। लोकहानि की चिन्ता मत करो। वह लौकिक-वैदिक सभी कर्मों और उससे प्राप्त फलों को भी ईश्वर को अर्पित कर देता है। उसके शरीर में प्रिय वियोग के ताप से अग्नि



के समान उष्णता बनी रहती है, वायु के समान विकलता बनी रहती है। उसका रहने का स्थान कोई चौकी पलङ्ग नही होता बल्कि वह भस्म-धूलि आदि की शय्या पर ही सोता-बैठता रहता है। उसके लिये जागरण ही दिन है। नेकी करके लोक बर्द्धन करना ही उसका स्वभाव बन जाता है। उसका शौक भक्ति के आनन्द में मग्न रहना ही होता है। उसका जौक (त्याज्य) अपने पूर्व में किये गये कर्मों को स्मरण कर तज्जनित (उससे उत्पन्न) मल (पाप) को धोकर शुद्धात्मा होकर प्रभु मिलन चाहता है—

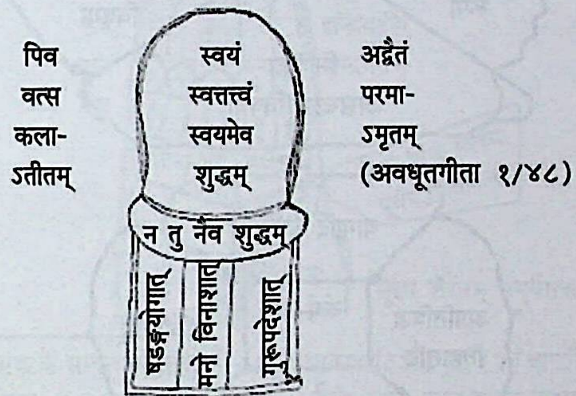
''ताभ्यः पावित्र्यमुपाक्रमात्'' ॥ (शाण्डिल्य भक्ति सूत्र-५९)

उस भक्त का गौणी भक्तियों के द्वारा पवित्रता (पापक्षयपूर्वक अन्तःकरण की शुद्धि) होती है, ऐसा वह मानता है। वह प्रेमी (प्रभु) से अपनी दूरी को अपना अपराध मानता है। उसकी निद्रावस्था ही उसके लिये रात्रि होती है। प्रभु से येन-केन प्रकारेण मिलन की चातुर्यता ही जीवन का उद्देश्य और वही प्रेम का उत्कृष्ट लक्षण होता है। वह प्रेम में पागल प्रतीत होनेवाला भक्त प्रभु को पाकर—

''यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, आत्मारामो भवति'' ।।६।। (नारदभक्तिसूत्र)

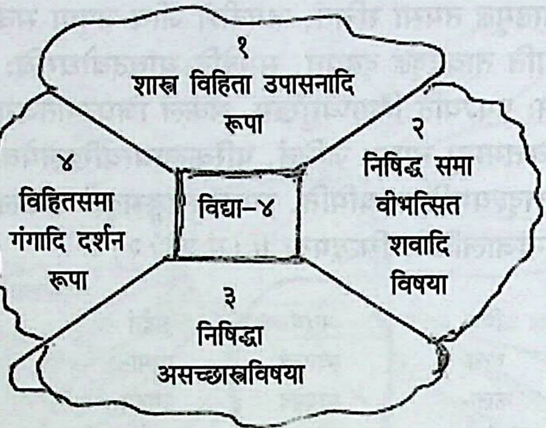
मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम हो जाता है तथा वह अपना यह पुनर्जन्म मानता है। वह जल प्रवाह के समान भक्ति प्रवाह में जहाँ-तहाँ घूमते रहता है, क्योंकि प्रत्येक भूतात्मा (जीवात्मा) में उसे प्रभु ही दिखाई देता है। उसे जब तक प्रभु का सानिध्य नहीं मिलता तब तक उसका ह्रदय दहकते रहता है। वह जगन्निर्मातृ प्रभु से मिलकर मधुर जीवन की कामना रखता है। प्रेमलक्षणा भक्ति के यह संक्षेपतः वर्णन चित्रगत कोष्ठक में अंकित कथन के अनुसार कहा गया है।

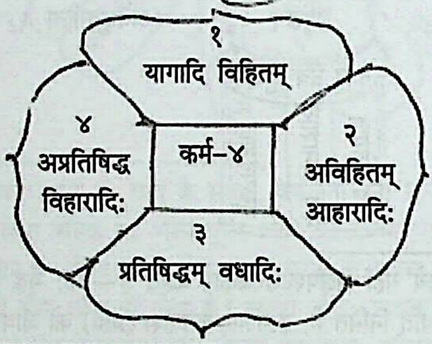
तव गाढमूढ तमसा रचितं, जगदीश जीव वपुषा सकलम्।
प्रतिभाति तावददृढं दृढवत्, समुदेति यावदबोधरविः॥
न मुनिः प्रपश्यति किमप्यसुखम्, सकलं जिघत्सतिजगत्स्वचिता।
तत्र चित्तमात्म तमसा जनितं, परिकल्पयत्यखिलमेव जगत्॥
न चित्तदृश्यमपि सत्यमिति, रसनाभुजङ्गसदृशं सकलम्।
जगदिन्द्रजालमिति सिद्धमतः॥ (सं.शा./२)



व्याख्या–भेदवादियों के लिये यहाँ सक्षेपशारीरककार कहते हैं—ओः मूढ़ तुम्हारी बुद्धि प्रगाढ़ अन्धकार (अज्ञान) से रचित है अर्थात् निर्मित है, इसलिए जगदीश (ब्रह्म) को जीवरूपमें अलग-अलग शरीर (वस्तु) के रूप से मानते हो। जो क्षणिक है उसे भी शाश्वत समझते हो। जबतक अज्ञान रवि का उदय तुम्हारे अन्तकरण में उदित है तब-तक तुम दृढ़भाव से उसी अनेकवाद को समझोंगे। परन्तु जब ज्ञानरवि का उदय होगा तो सम्पूर्ण अज्ञानमेघ को उच्छेद करने वाले अद्वैत ब्रह्म वहाँ उपस्थित हो जायगा और सकल संशय का उच्छेद हो जायेगा। मुनि-महात्मा-योगीजन सांसारिक किसी भी सुख को सुख नहीं मानते। वे लोग सम्पूर्ण जगत् वस्तु को अपने मन की कल्पनामात्र से उत्पन्न है ऐसा देखता और मानता है। वे तो सम्पूर्ण सृष्टि के वस्तु को परमात्मा का स्वरूप ही जानता है। वे अपने चित्तगत दृश्य को असत् स्वीकार कर सकल भौतिक मोहक वस्तुओं को रसनाभुजङ्ग (मृत्यु को उत्पन्न करनेवाला) तथा इन्द्रजाल के वस्तु के समान दृष्ट वस्तु को मिथ्या मानता है। (सं.शा./२)

व्याख्या–उस परमात्म तत्त्व को जानने के लिये अवधूत स्वरूप ईश्वर कहते हैं—हे वत्स वह परमात्मस्वरूप आत्मा स्वयं से स्वत्तत्त्व में अवस्थित है, शुद्ध (अपापरूप) स्वरूपवाला है, अतः उस कलातीत–अद्वैत-परमामृत का पान करो। उस परमामृत के पान का क्या उपाय है ? कहते हैं—उस अमृत स्वरूप (ब्रह्म) का पान–षडङ्गयोग के अभ्यास से, मन के विनाश करने पर और गुरु के उपदेश का श्रद्धापूर्वक श्रवण मनन निदिध्यासनादि करने पर ही होगा। उस अमृत के पान से स्वयं शुद्ध





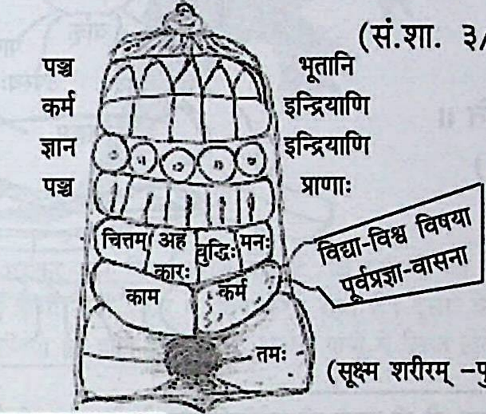
(सकलपाप रहित) हो जाओगे। अन्यथा शुद्ध होने का कोई उपाय नहीं है और ऐसा नहीं करने पर सदा अशुद्ध (पापसहित) जीवन रह जायगा। (अवधूत गीता १/४८)

व्याख्या–विद्या चार प्रकार की हैं—(१) शास्त्र विहिता (सम्मत) उपासनादिरूपा, (२) निषिद्धसमा-वीभत्सित शवादि विषया, (३) निषिद्धा–असच्छास्त्र विषया और (४) विहित समा-गंगादि दर्शनरूपा। इन विधाओं के चारों स्वरूपों को जानना चाहिये, अन्यथा धर्मपरायण जीवन की धारा बाधित होगी अर्थात् जो अविहित है भ्रान्तिवश उसे विहित व्यवहार का समझ जाना स्वाभाविक है। प्रतीक चित्र के माध्यम से पाठक विशेष चिन्तन कर सकते हैं।

जिस प्रकार विद्या के चार स्वरूप ऊपर कहे गये हैं; उसी प्रकार कर्म के भी चार स्वरूप हैं—(१) विहित–यागादिक कर्म, (२) अविहित–आहारादि रूप, (३) प्रतिषिद्ध–वधादिक कर्म और (४) अप्रतिषिद्ध–विहारादिक कर्म। कर्म को सम्यक् प्रकार से जानना जीवन के लिए उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार विद्या को जानना आवश्यक है। प्रतीक चित्र द्वारा इसी बातों को कहा गया है।

कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथाऽपराणि,
बुद्धीन्द्रियाणी मन आदि चतुष्टयं च।
प्राणादि पञ्चकमथो वियदादिकं च,
कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः॥

(सं.शा. ३/१६)



(सूक्ष्म शरीरम् -पुर्यष्टकम्)

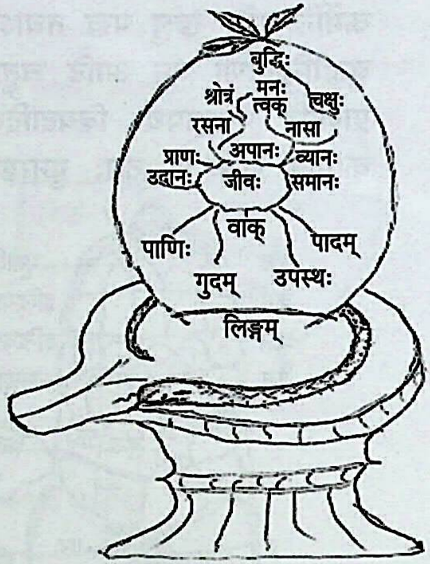
व्याख्या—अब पुर्यष्टक के सम्बन्ध में कहते हैं—(१) आकाशादि पञ्चभूत, (२) वागादि पञ्चकर्मेन्द्रिय, (३) श्रवणादि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, (४) प्राणादि पञ्चप्राण, (५) बुद्धि आदि अन्तःकरण चतुष्टय, (६) काम, (७) कर्म और (८) तम (अविद्या), इन आठ सामग्रियों से पुर्यष्टक निर्मित है। इसी को सूक्ष्मशरीर भी कहते हैं। पञ्चवशीकार ने कहा है—

तम प्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥१८॥
सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥१९॥
तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा।
मनो विमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥२०॥
रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियानि तु।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥
तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पञ्चधा।
प्राणाऽपानः समानश्चौदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

(तत्त्व विवेक प्रकरण)

अर्थात् ईश्वर की आज्ञा से तमः प्रधान प्रकृति प्राज्ञ जीवात्मा के भोगादिक सामग्री की संरचना के उद्देश्य से आकाशादि पञ्चभूतों की सर्वप्रथम सृष्टि की। भूतसृष्टि के बाद भौतिक सृष्टि के उद्देश्य से तमः प्रधान प्रकृति उन आकाशादि पञ्चभूतों के सत्त्वांश से श्रोत्रादि पञ्चज्ञानेन्द्रियों की संरचना की। पुनः उनके

इह तावदक्ष दशकं
मनसा, सह बुद्धिः
सत्त्वमथ वायुगणः ।
इति लिङ्गमेतद-
मुना पुरुषः,
खलु संगतो
भवति जीव इति ॥
(सं.शा. ३/२०)



सत्त्वांश से अन्तःकरण की भी रचना की, जो वृत्ति भेद से दो प्रकार की है—(१) विमर्शरूप मन और (२) निश्चयात्मिका बुद्धि। उस वियादादि के रजोंश से बागादि पञ्चकर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। उन सभी के रजोंश के साथ होकर प्राणादिकों की रचना हुई।

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ।।२३।। (पं.द.त.वि.प्र.)

पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह सामग्रियों से निर्मित यह लिङ्गशरीर है। जिसे सूक्ष्मशरीर कहते हैं। इसी को ऊपर पुर्यष्टक कहा जा चुका है। पुर्यष्टक इसलिये कहते हैं कि—इन तत्त्वों से आठ पुर के समूह की उत्पत्ति (निर्माण) हुई है। विद्या विश्वविषया होती है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् वस्तु को विषय करनेवाली होती है। अतः समष्टि सृष्टि को अहंत्वेन ग्रहण करती है। परन्तु पूर्वप्रज्ञा जो वासनारूपा है, वह जीवात्मा को वशीकार करके व्यष्टि को ही विषय करने को बाध्य करती है। अतः जीवात्मा ससीम ज्ञानवाला होता है।

(संक्षेपशारीरक ३/१६)

व्याख्या—इस शरीर में अक्ष अर्थात् पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय इन दशों के साथ मन, बुद्धि और पञ्चप्राण इन सत्रह तत्त्वों से बना यह लिङ्ग शरीर है। इस लिङ्गशरीर की सङ्गति से पुरुष (आत्मा) जीव संज्ञक कहलाता है। इस विषय को पूर्णतया समझने के लिये प्रतीक चित्र बने हैं, जिसके सम्यक् अवलोकन से कोई भ्रान्ति नहीं रह जाती है। (सं.शा. ३/२०)

एको लोभो महाग्राहो,
लोभात्पापं प्रवर्तते ।।
(महाभा.)



व्याख्या--लोभ सबसे भयंकर और विशालकाय ग्राह है, जो प्राणियों को बलपूर्वक ग्रसित कर लेता है। लोभग्राह से ग्रसित प्राणी नाना प्रकार के पाप करते रहते हैं। दूसरों के धनापहरण, परस्त्री गमन, मिथ्या अभिभाषण, प्राणियों का प्राण हरण आदि अनन्त पापों में लिप्त होते रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

काममाश्रित्य दुष्पूरं, दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्, प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।। (श्रीमद्भग.१६/१०)
आशापाशशतैर्बद्धा, कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।। (श्रीमद्भग.१६/१२)

वे प्राणी लोभग्राह से ग्रसित होकर ही आशा की अनन्त फाँसियों में स्वात्मा को बाँधकर काम-क्रोध के परायण (वशीभूत) होते हुए विषय भोगों के इच्छुक अन्याय पूर्वक धनादि अर्जन करते रहते हैं। वे दम्भ-मान और मद के अधीन होकर किसी प्रकार भी पूर्ण नहीं होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेते है और अज्ञान के वशीभूत मिथ्या सिद्धान्त का आश्रय लेकर भ्रष्ट आचरण को धारण करके विचरते रहते है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते, विवृद्धे भरतर्षभः ।। (गी. १४/१२)

हे अर्जुन ! रजोगुण के बढ़ने से लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धि पूर्वक सकामभाव से कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगों की लालसा-ये सबके सब उत्पन्न होते हैं।

काम-क्रोध-मद लोभादि के आचरण से मन चञ्चल हो जाता है, स्थिर नहीं रह पाता। इसलिये वह प्राणी विवेक पूर्वक कार्य नहीं करते और ऐसे चञ्चल मन को वश में करना कठिन हो जाता है—.

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ।। (गी. ६/३४)

हे अर्जुन ! यूँ मन के बहुत चञ्चल हो जाने पर वह मंथनस्वभाववाला मन, बड़ा दृढ़ और बलवान् हो जाता है। अतः उसे वश में करना मैं वायु को रोकने जैसा दुष्कर कार्य समझता हूँ।

जो लोभी है, कामी है वह अज्ञान के वशीभूत प्राणी अपना भला-बुरा नहीं समझ पाता है और—

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ।। (गरुड़ पु.प्रे.ख. ६/३५)

भगवान् की मायारूपी स्त्री को देखकर वह अजितेन्द्रिय पुरुष उसकी भावभङ्गिमा से प्रलोभित होकर महामोहरूप अन्धतम अग्नि में पतङ्गा की भाँति गिर कर आत्मनाश कर लेता है।

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ।। (ग.पु.प्रे.ख. ६/३६)

हिरण, हाथी, पतिङ्गा, भौंरा और मछली ये पाँचों क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध तथा रस–इन पाँच विषयों में से किसी एक में आसक्त होने पर मारे जाते हैं, फिर प्रमादी-पापी-लोभी कामी जीव तो पाँचों इन्द्रियों से पाँचों विषयों का भोग करनेवाला होता है, इस स्थिति में वह क्यों नहीं मारा जायगा ?

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गः तेषू पजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ।। (गी. २/६२)
क्रोधाद्भवति सम्मोहः, सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। (गी. २/६३)

श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! विषयों का चिन्तन करनेवाले कामी पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों में लोभवश कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न उपस्थित होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़भाव, मूढ़भाव से स्मृति में विभ्रम, स्मृति में विभ्रम से बुद्धि (ज्ञानशक्ति) का नाश और बुद्धिनाश के अनन्तर वह स्वयं नष्ट (स्थिति से गिर जाना) हो जाता है।

लोभ से बढ़कर दुर्गुण कोई नहीं है—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः,
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं जनेन महिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः,
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ।। (नीतिशतक–४४)

जिस व्यक्ति को लोभ ग्रसित कर लिया उसे अन्य दुर्गुण की क्या आवश्यकता है ? जिसे पिशुनता (परोक्ष में परदोष सूचकता) है उसे पातक (ब्रह्म हत्यादि पाप) से क्या लाभ है ? यदि सत्यभाषण अथवा समदर्शित्व है उसे तप करने की क्या आवश्यकता ? यदि मन में शुचिता (रागद्वेषादि राहित्य) है तो तीर्थ सेवा करने से क्या प्रयोजन ? सौजन्यता (सज्जनत्व) यदि प्राप्त है तो परिजन का क्या प्रयोजन ? यदि महिमा (महत्त्व) है तो मण्डन (कुण्डलादि आभूषण) की क्या आवश्यकता ? यदि सद्विद्या (अनवद्यविद्या) प्राप्त है तो किसी धन की क्या आवश्यकता है ? यदि अपयश (अपकीर्ति) है तो मृत्यु (मरण) की क्या आवश्कता ? कुछ भी नहीं।

अतः लोभ का तिरस्कार्यत्व जीवन के लिए आवश्यक है। वह लोभ ग्राह (मकर) के समान है और मानव को जब ग्रसता है तो उससे उबरना मुश्किल होता है, इसलिये कहा है—"लोभः पापस्य कारणम्"।

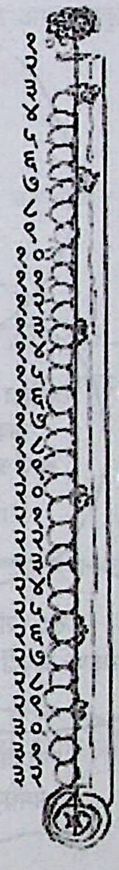
व्याख्या—पीठ की रीढ़ की हड्डियों में बत्तीस मनके हैं और इडा-पिङ्गला एवं सुषुम्ना तीन नाड़ियाँ हैं—

पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत ।
सहमस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रष्ठिता ।।१०।। (दर्शनोपनि. ४)

अर्थात् पृष्ठ के मध्य वीणादण्ड के समान अस्थि (हड्डी) के साथ रहकर मस्तक पर्यन्त सुषुम्ना नामक नाड़ी प्रतिाष्ठत है।

सुषुम्नाया इडा सव्ये, दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ।।१३।। (दर्शनोपनि. ४)

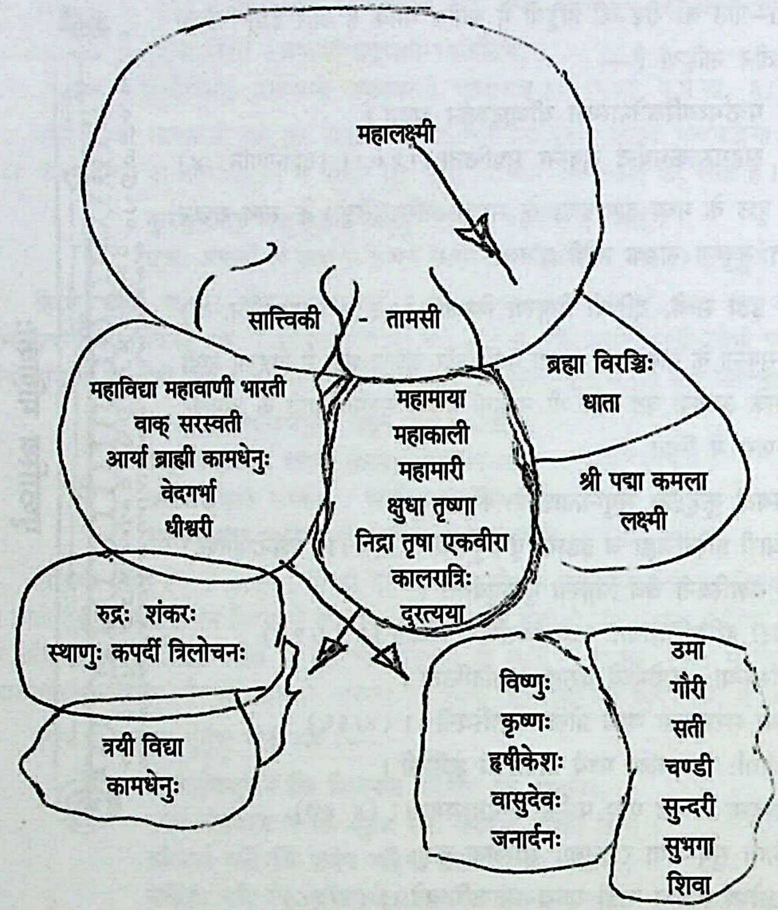
अर्थात् सुषुम्ना के वाम भाग में इडा नाड़ी और दक्षिण भाग में पिङ्गला नाड़ी स्थित है। इसके अलावा कई और भी नाड़ियाँ है जो सुषुम्ना नाड़ी के अगल-बगल, आस-पास में स्थित है—



पृष्ठास्थि मणिकाः

सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च इडाया पृष्ठपूर्वयोः ।।१४।। (दर्शनोपनिषद्)
पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गला पृष्ठपूर्वयोः ।
कुहोश्च हस्तिजिह्वायाः मध्ये विश्वोदरा स्थिता ।। (४/१५)
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता ।
पूषाया सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी ।। (४/१६)
गान्धार्याः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी ।
अलम्बुसा स्थिता पायु पर्यन्तं कन्दमध्यमा ।। (४/१७)
पूर्वभागे सुषुम्नाया राकायाः संस्थिता कुहूः ।
अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाड़ी याम्यनासान्तमिष्यते ।। (४/१८)

सुषुम्ना नाड़ी के पार्श्वभाग में सरस्वती और कुहू नामक नाड़ी है। इडा नाड़ीपृष्ठ के पूर्व की ओर गान्धारी और हस्तिजिह्वा नामक नाड़ियाँ स्थित है। पिङ्गलानाड़ी के पृष्ठभाग में पूर्व की ओर पूषा और यशस्विनी नामक नाड़ियाँ स्थित है। कुहू और हस्तिजिह्वा के मध्य में विश्वोदरा नामक नाड़ी है। यशस्विनी और कुहू के मध्य में वरुणा नाड़ी है। पूषा और सरस्वती नाड़ियों के मध्य में यशस्विनी नामक नाड़ी है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य में शङ्खिनी नाड़ी है। अलम्बुसा कन्दमध्यस्थान से पायु पर्यन्त है। सुषुम्ना और राका के पूर्वभाग में कुहू नाड़ी स्थित है। ये नाड़ियाँ नीचे से ऊपर दक्षिण नासान्त पर्यन्त है। पृष्ठवंश (रीढ़) में क्रमशः नीचे (मूलाधारचक्र) से ऊपर तक नौ चक्र (१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) नाभिचक्र, (४) हृच्चक्र, (५) कण्ठचक्र, (६) तालुचक्र, (७) भ्रूचक्र),



---

(८) आज्ञाचक्र और (९) आज्ञाचक्र हैं। इन नाड़ियों की स्थितियों को प्रसंगात् यहाँ कहना पड़ा है। मुख्य विषय पीठ की रीढ़ की हड्डी की मणिका की संख्या बतीस है इतना ही कहना संक्षिप्त था, परन्तु सम्पूर्णता से विषय वस्तु की समझ को महत्वकारी मानकर उसे विस्तार दिया गया। चित्र में रीढ और मणिकाएँ बनी हैं और उसकी संख्या भी वहीं उधृत है, उसे देखें।

व्याख्या—यहाँ प्राधानिक (प्रधानप्रकृति) के रहस्य को कहा जा रहा है—त्रिगुणात्मिका महालक्ष्मी देवी सम्पूर्ण सृष्टि की मूलरूपा है—

सर्वस्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी ।
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा, व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता ।।४।। (प्रा. रहस्य)

महालक्ष्मी ने जगत् को शून्य देख कर केवल तमोगुण उपाधि के द्वारा एक अन्य उत्कृष्ट रूप को धारण किया—

शून्यं तदखिलं लोकं विलोक्य परमेश्वरी ।
वभार परमं रूपं तमसा केवलेन हि ।।७।। (प्रा. रहस्य)

वह उत्पन्न तामसी देवी ने महालक्ष्मी से कहा–आप मेरा नाम और कर्म बतलाइये।

सा प्रोवाच महालक्ष्मीं तामसी प्रमदोत्तमा ।
नाम कर्म च मे मातर्देहि तुभ्यं नमो नमः ।।१०।। (प्रा. रहस्य)

उन भगवती महालक्ष्मी ने उस प्रमदोत्तमा तमसी देवी का नाम इस प्रकार प्रदान किये—(क) महामाया, (ख) महाकाली, (ग) महामारी, (घ) क्षुधा, (ङ) तृषा, (च) निद्रा, (छ) तृष्णा, (ज) एकवीरा, (झ) कालरात्रि, और (ञ) कुरत्यया। पुनश्च—

महामाया महाकाली महामारी क्षुधा तृषा ।
निद्रा तृष्णा चैकवीरा कालरात्रिर्दुरत्यया ।।१२।। (प्रा. रहस्य)

महालक्ष्मी ने तामसी देवी (महाकाली) से इस प्रकार कहकर उसके अनन्तर शुद्ध सत्त्वगुण उपाधि के द्वारा दूसरा रूप धारण किया—

तामित्युक्त्वा महालक्ष्मी, स्वरूपमपरं नृप ।
सत्त्वाख्येनातिशुद्धेन, गुणेन्दुप्रभं दधौ ।।१४।। (प्रा. रहस्य)

उस शुद्ध सत्त्वगुण उपाधि से उद्भूता श्रेष्ठ नारी (सरस्वती) ने महालक्ष्मी से अपना नाम देने को कहा—

अक्षमालाङ्कुशधरा, वीणापुस्तकधारिणी ।
सा बभूव वरानारी, नामान्यस्यै च सा ददौ ।।१५।। (प्रा. रहस्य)

उन सर्वाद्या महालक्ष्मी देवी ने उन सत्त्वगुण प्रधाना देवी का यह नाम रखा—१. महाविद्या, २. महावाणी, ३. भारती, ४. वाक्, ५. सरस्वती, ६. आर्या, ७. ब्राह्मी, ८. कामधेनु, ९. वेदगर्भा और १०. धीश्वरी। इनका भी दस नाम दिया गया। तदनन्तर—

महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती ।
आर्या ब्राह्मी कामधेनु र्वेदगर्भा च धीश्वरी ।। १६।। (प्रा. रहस्य)

आद्याशक्ति पराम्बा महालक्ष्मी ने उन तामसी महाकाली तथा शुद्ध सत्त्वप्राधान सरस्वती देवी से कहा—देवियों ! तुम दोनों अपने-अपने गुणों के योग्य स्त्री पुरुष के जोड़े उत्पन्न करो—

अथोवाच महालक्ष्मी र्महाकालीं सरस्वतीम् ।
युवां जनयतां देव्यौ मिथुने स्वानुरूपतः ।।१७।। (प्रा. रहस्य)

इतना कहकर वह महालक्ष्मी देवी ने पहले स्वयं ही स्त्री पुरुष का एक जोड़ा उत्पन्न किया—

इत्युक्त्वा ते महालक्ष्मीः ससर्ज मिथुनं स्वयम्।
हिरण्यगर्भौ रुचिरौ स्त्रीपुंसौ कमलासनौ।।१८।।
ब्रह्मन् विधे विरिञ्चेति धातरित्याह तं नरम्।
श्रीः पदमे कमले लक्ष्मीत्याह माता च तां स्त्रियम्।।१९।।

उन स्त्री पुरुष की मिथुन जोड़ी में पुरुष को महालक्ष्मी माता ने—१. ब्रह्न्!, २. विधे!, ३. विरिञ्च! और धातः! कहकर सम्बोधित की और उस स्त्री को १. श्रीः! २. पद्मे! ३. कमले! और लक्ष्मि! नामों से सम्बोधित किया।

इसके अनन्तर महाकाली ने एक जोड़ा (स्त्री-पुरुष) उत्पन्न किया। जिसमें पुरुष—१. रुद्र, २. शंकर, ३. स्थाणु, ४. कपर्दी और ५. त्रिलोचन के नाम से प्रसिद्ध हुआ और स्त्री के—१. त्रयी, २. विद्या, ३. कामधेनु, ४. भाषा और ५. अक्षरा एवं ६. स्वरा ये नाम हुए—

नीलकण्ठं रक्तबाहुं श्वेताङ्गं चन्द्रशेखरम्।
जनयामास पुरुषं महाकाली सितां स्त्रियम्।।२१।। (प्रा. रहस्य)
स रुद्रः शंकरः स्थाणुः कपर्दी च त्रिलोचनः।
त्रयी विद्या कामधेनुः सा स्त्री भाषाक्षरा स्वरा।।२२।। (प्रा. रहस्य)

इसके अनन्तर सत्त्वप्रधाना देवी सरस्वती ने गौरवर्ण की स्त्री और कृष्ण वर्ण के पुरुष को प्रकट किया। उनमें पुरुष के नाम—१. विष्णु, २. कृष्ण, ३. हृषीकेश, ४. वासुदेव और जनार्दन हुए और उन स्त्री का नाम—१. उमा, २. गौरी, ३. सती, ४. चण्डी, ५. सुन्दरी, ६. सुभगा और ७. शिवा, जो उपर्युक्त नाम से प्रसिद्ध हुई—

सरस्वती स्त्रियं गौरीं कृष्णं च पुरुषं नृप।
जनयामास नामानि तयोरपि वदामि ते।।२३।। (प्रा. रहस्य)
विष्णु कृष्णो हृषीकेशो वासुदेवो जनार्दनः।
उमा गौरी सती चण्डी सुन्दरी शुभगा शिवा।।२४।। (प्रा. रहस्य)

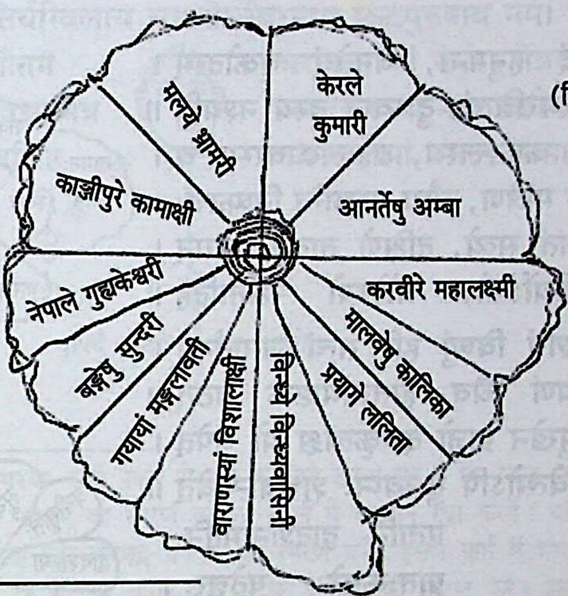
उपर्युक्त प्राधानिक रहस्य को सम्यक् रूप से कहा गया है, ताकि प्रतीक चित्र को देखकर और उसका मनन कर प्राधानिक सृष्टिक्रम के रहस्य को समझा जा सके। इस रहस्य को जाननेवाले ज्ञानी होते हैं। अज्ञानीजन तो इस रहस्य को कदापि नहीं जान पाते—

चक्षुष्मन्तो नु पश्यन्ति नेतरेऽतद्विदोजनाः।।२५।। (प्राधानिक रहस्य)

चित्ते ब्रह्मकला नाम, शक्तिः सर्वशरीरिणाम् ।। (देवी भा. ७/५५)

द्वादशशक्तिपीठानि–

(त्रिपुरा रहस्ये)



व्याख्या–सभी शरीरधारियों के चित्त में ब्रह्मकला है जिसे शक्ति नाम से भी जाना जाता है। भारतवर्ष में ब्रह्मकला शक्तियाँ जिसे शिव की कला शक्ति शिवा कहते हैं। वे द्वादश पीठें इस प्रकार निम्नलिखित प्रदेशों में संस्थित हैं—

१. मलयदेश में	–	भ्रामरी देवी
२. केरलदेश में	–	कुमारी देवी,
३. आनर्तदेश में	–	अम्बा देवी,
४. करवीरदेश में	–	महालक्ष्मी
५. मालवदेश में	–	कालिका देवी,
६. प्रयागतीर्थ में	–	ललिता देवी,
७. विन्ध्यपर्वतक्षेत्र में	–	विन्ध्यवासिनी देवी,
८. वाराणसीतीर्थ में	–	विशालाक्षी देवी,
९. गयातीर्थ में	–	मङ्गलावती देवी,
१०. बङ्गदेश में	–	सुन्दरी देवी,
११. नेपालदेश में	–	गुह्यकेश्वरी देवी
१२. काञ्चीपुर में	–	कामाक्षी देवी।

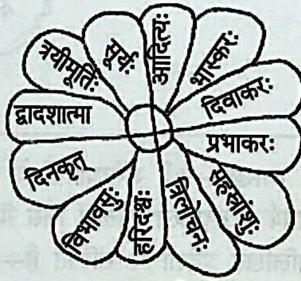
दुःस्वप्ननिवारणमन्त्रः—

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं दुर्गतिनाशिन्यै महामायायै स्वाहा ॥(ब्रह्मवैवर्त पु. कृष्णजन्म खण्ड)
108 जपः ।



रामं स्कन्दं हनुमन्तं, वैनतेयं वृकोदरम् ।
शयने यः स्मरेन्नित्यं, दुःस्वप्नं तस्य नश्यति ॥
आदौ चौर कफल्लस्य, ब्रह्मलब्धवरस्य च ।
तस्य स्मरण मात्रेण, चौरा गच्छन्ति निष्फलाः ॥
धनुः पञ्चशतं सव्ये, दक्षिणे तावतः शरान् ।
विभ्रत्कार्तवीर्योऽसौ, चौरेभ्यो रक्षतादिह ॥

अच्युतं केशवं विष्णुं हरिं सत्यं जनार्दनम् ।
हंसं नारायणं चैव ह्येतन्नामाष्टकं पठेत् ॥
शुचिः पूर्वमुखेन प्राज्ञो दशकृत्वश्च यो जपेत् ।
निष्पापो भवेत्सोऽपि दुःस्वप्नः शुभवान्भवेत् ॥



एतानि द्वादशनामानि,
प्रातःकाले पठेन्नरः ।
दुःस्वप्ननाशनं सद्यः,
सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥

व्याख्या—दुःस्वप्न निवारण मन्त्र—यदि किसी को बार-बार दुःस्वप्न आता हो तो वह—"ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं दुगतिनाशिन्यै महामायायै स्वाहा ॥" इस मन्त्र को १०८ वार (एक माला) जप कर शयन करे, तो दुःस्वप्न का निवारण हो जायगा।

दुःस्वप्न निवारण के और भी विकल्प यहाँ दिये जा रहे हैं—दुःस्वप्न देखनेवाले व्यक्ति सोने से पूर्व इस श्लोक को १०८ बार जपें—राम, स्कन्द, हनुमान्, वैनतेय, वृकोदर का नित्य स्मरण करके सोये तो उसके दुःस्वप्न नष्ट हो जाते हैं।

चौर निवारण मन्त्र—सोने से पूर्व प्रथम कफल्लक (चोर) का और ब्रह्मलब्धवर का स्मरण करके सोये तो चोरी करने घर में आये चोर चोरी में निष्फल हो जाते हैं।

दूसरा विकल्प यह है कि—पाँच सौ धनुषों को वाये कन्धे में धारण करनेवाले और दाहिने कन्धे के तरकश में उतने ही शरों को धारण करनेवाले वह कार्तवीर्य हमारे घर में शोभायमान होकर (भ्रमन करते हुए) हमारी चोरों से रक्षा करे। यह मूल श्लोक का अर्थ है। जप तो मूल श्लोक मन्त्र का ही सोने से पूर्व करें।

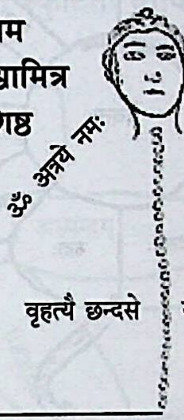
उमा उषा च वैदेही, रमा गङ्गेति पञ्चकम्।
प्रातरेव स्मरेन्नित्यं, सौभाग्यं वर्धते सदा ॥ (पद्म पु.)

ॐ तिर्यग्विलाय चमसोर्ध्वबुध्नाय छन्दपुरुषाय नमः शिरसि

ॐ गौतम भरद्वाजाभ्यां नमः। नेत्रयोः।

ॐ विश्वामित्र जमदग्निभ्यां नः। श्रोत्रयोः।

ॐ वशिष्ठ कश्यपाभ्यां नमः। नासापुटयोः।



वृहत्यै छन्दसे नमः अनूक्ते

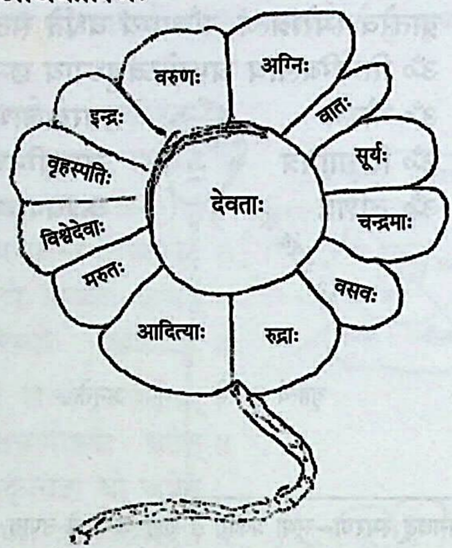
यात्रा में भगवद् स्मरण—सभी प्रकार से रक्षा के लिये उपाय यह है कि स्थल (यात्राकालिक) में श्री भैरव और श्री वामन भगवान् का स्मरण करे तो स्थल में भगवान् रक्षा करेंगें। यदि पैदल रास्ता चल रहे हों तो—श्री नारसिंह और वीरभद्र भगवान् का स्मरण करें। इससे मार्ग में भगवान् रक्षा करते हैं। यदि जलयात्रा में हों तो भगवान् वाराह एवं नन्दीश (शिव) को स्मरण करें। इससे जलमार्ग में भगवान् रक्षा करते हैं। इसी प्रकार सभी ओर से भगवान् शंकर और भगवान् केशव हमारी रक्षा करें प्रार्थना करनी चाहिये। जिससे भगवान् शंकर और केशव हर ओर से आपकी रक्षा करेंगें।

व्याख्या—यहाँ नित्य सौभाग्य वर्धन के लिये उपाय दिये गये हैं। सौभाग्य कांक्षिनी स्त्रियां प्रात:काल सो के उठने पर—(१) उमा, (२) उषा, (३) वैदेही (सीता), (४) रमा और (५) गंगा इन पाँचों देवियों का स्मरण किया करे तो उनके सौभाग्य का वर्धन होगें।

व्याख्या—यहाँ पर न्यास विधि का प्रयोग है। न्यास का अर्थ—रखना, प्रस्थापन करना, सुरक्षित रखना, आधार में आधेय का आधान आदि होते हैं। यहाँ शिरोभाग के ऊपर में "ॐ तिर्यग्विलाय चमसोर्ध्वबुध्नाय छन्द पुरूषाय नम:" इस मन्त्र से छन्द पुरुष की स्थापना करनी चाहिये। दोनों नेत्रों में "ॐ गौतमभरद्वाजाभ्यां नम:" इस मन्त्र से गौतम और भरद्वाज ऋषि का स्थापन (न्यास) करना चाहिये। दोनों श्रोत्रों (कानों) में "ॐ विश्वामित्रजमदग्निभ्यां नम:" इस मन्त्र से विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि का स्थापन करना चाहिये। दोनों नासा पुटों में "ॐ वशिष्ठकश्यपाभ्यां नम:" इस मन्त्र से वशिष्ठ और कश्यप ऋषि का स्थापन करना चाहिये। इसी प्रकार "अत्रये नम:" मन्त्र से अत्रि ऋषि को जिह्वा में स्थापित करना चाहिये। सबसे अन्त में "वृहत्यै छन्दसे नम:" इससे अनूक्त[1] स्थान में स्थापना करे।

१. जिस स्थान को यहाँ नहीं कहा जा सका है उसे अनूक्त कहते है।

ईश्वरस्य विश्वसंचालका अधिकारिणः—



व्याख्या—यहाँ पर ईश्वर के विश्व संचालक अधिकारी देवताओं के नाम दिये जा रहे हैं— १. अग्नि, २. वायु, ३. सूर्य, ४. चन्द्रमा, ५. वसुगण, ६. रुद्रगण, ७. द्वादश आदित्य, ८. मरुद्गण, ९. विश्वेदेवगण, १०. वृहस्पति, ११. इन्द्र और १२. वरुण। ईश्वर इन द्वादश देवताओं को विश्व संचालन के लिए अधिकारी नियुक्त किये हैं। इन्हीं द्वादश देवताओं के नेतृत्व से विश्व का सम्यक् संचालन होता है।

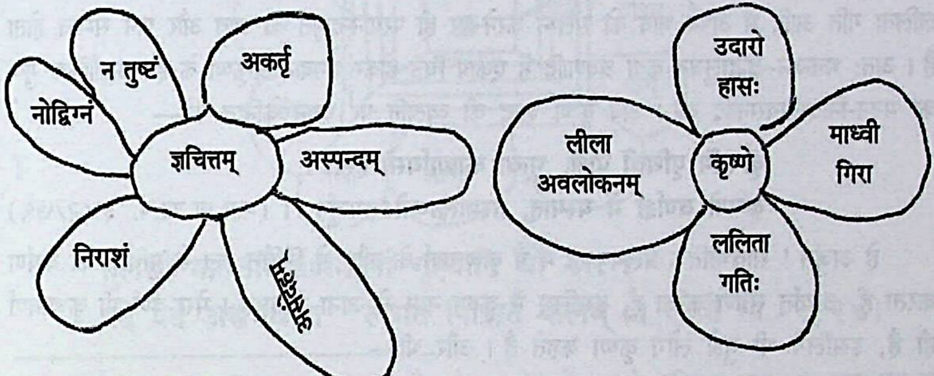
दुःस्वप्ननाशकः—जो सोने पर प्रायः दुःस्वप्न देखा करता है, वह व्यक्ति शयन से पूर्व शुद्ध होकर पूर्वमुख होकर—१. अच्युत, २. केशव, ३. विष्णु, ४. हरि, ५. सत्य, ६. जनार्दन, ७. हंस और ८. नारायण इन आठ देवताओं का दस-दस वार नाम जपता है, तो वह प्राज्ञ निष्पाप हो जाता है और उसके द्वारा देखा गया दुःस्वप्न शुभद (शुभफल को प्रदान करनेवाला) हो जाता है।

दुःस्वप्न नाशन हेतु दूसरा विकल्प है कि–जो व्यक्ति दुःस्वप्न देखता हो वह प्रातः काल स्नानध्यानादि कर्म करके सूर्य नारायण भगवान् के इन द्वादश नामों से स्तुति करे—१. सूर्य, २. आदित्य, ३. भास्कर, ४. दिवाकर, ५. प्रभाकर, ६. सहस्राशु, ७. त्रिलोचन, ८. हरिदश्व, ९. विभावसु, १०. दिनकृत् (दिनकर), ११. द्वादशात्मा और १२. त्रयीमूर्ति।

इन द्वादश नामों का पारायण जो नर करता है, उसके दुःस्वप्न-देखना सदा के लिये नष्ट हो जाता है और वह नर सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करता है। प्रतीक कोष्ठक में नामों का उल्लेख समझने के लिये दिया गया है।

शलाग्रामाः समाः पूज्याः समेषु द्वितयं न हि।
विषमेष्वेक एव हि।
खण्डिता स्फुटिता वापि शालग्रामशिला शुभा॥

(पद्म पराण)



शालग्राम पूजन विधि—शालग्राम शिला समान संख्या (समसंख्य) की ही पूजा करनी चाहिये, सम संख्या से अधिक संख्या की पूजा नहीं करनी चाहिये। परन्तु यह केवल गृह में ही लागू है। क्योंकि—

गृहे लिङ्गद्वयं नार्च्यः, शालग्रामद्वयं तथा।
शाक्तित्रयं च नैवार्च्य, गणेशयत्रमेव च।।
शालग्रामाः समाः पूज्याः, समेषु द्वितयं न हि।
विषमा नैव पूज्याः, विषमेष्वेक एव हि।।
शालाग्रामशिलाभग्ना, पूज्यनीया सचक्रका।
खण्डिता स्फुटिता वापि, शालग्रामशिला शुभा।। (इति वाराहपाद्मयोः)

शालाग्राम चक्राङ्कित, स्फुटित, भग्न, खण्डित जैसा भी हो पूज्य और शुभद होते हैं। जबकि—

गृहेऽग्निदग्धा भग्नाश्च, नार्चाः पूज्या बसुन्धरे।
एतासां पूजनान्नित्यं, उद्वेगं प्राप्नुयाद्गृही।। (वाराहे)

घर में अग्निदग्ध और भग्न प्रतिमा का पूजन निषिद्ध है। इसलिए भगवान् वराह देवी वसुन्धरा से कहते हैं—हे वसुन्धरे! इन अग्निदग्धादि प्रतिमाओं की घर में पूजा करने से गृहस्थ उद्वेग को प्राप्त करता है। (पद्म पु.)

आत्मा अकर्ता, अक्रिय, सन्देहरहित, आशा रहित, उद्वेग रहित, अखण्ड है। यह उपदेश मिथिला के राजा जनक जी को महात्मा अष्टावक्र जी ने दिया है। (अष्टावक्र गीता)

भगवान् श्रीकृष्ण की लीला अवलोकन करते समय या भागवतादि सद्ग्रन्थ के अध्ययन करते समय अथवा कथा श्रवण करते समय, उनमें (श्रीकृष्ण में) उनका उदार हास, माध्वी (मीठी) गिरा (वाणी), उनकी ललिता गति आदि में अपने भाव को संलग्न करने पर ही परमानन्दामृत का श्राव और पान सम्भव होता है। अतः भक्तजन–श्रद्धालुजन कथा श्रवणादि में एकाग्र चित्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण के इन अलौकिक गुण का मनन-निदिध्यायसनादि करे। अब कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान केन्द्रित करे—

कृषामि पृथिवीं पार्थ, भूत्वा कार्ष्णायसो हलः।
कृष्णो वर्णश्च में यस्मात्, तस्मात्कृष्णोऽहमर्जुन।। (महा.भा.शा.प. ३४२/७९)

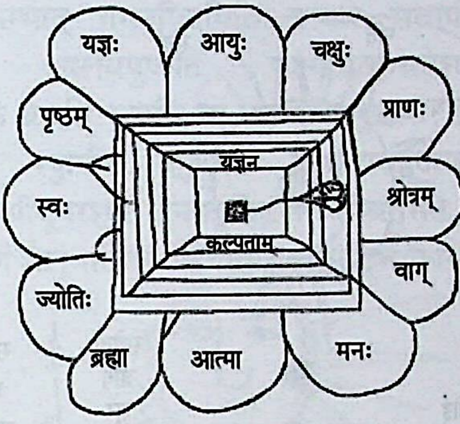
हे अर्जुन! सार्वभौतिक प्रलयकाल में मैं कृष्णवर्ण के लौह से निर्मित हल से पृथिवी का कर्षण करता हूँ, अर्थात् संहण करता हूँ, इसलिए मैं कृष्ण नाम से जाना जाता हूँ। मेरा वर्ण भी कृष्णवर्ण ही है, इसलिये भी मुझे लोग कृष्ण कहते हैं। और भी—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो, णश्च निवृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगच्च, कृष्णो भवति शाश्वतः।। (महा.भा.उ.प. ७०/५)

'कृष्' शब्द जनन वाचक है और 'ण' वर्ण निवृत्ति अर्थात् आनन्द (ब्रह्म) वाचक है और कृष् एवं ण के संयोग में वह विष्णु के सद्भाव की उपस्थिति है, इसलिये कृष्ण शाश्वत पुरूषोत्तम ब्रह्म हैं। अथवा सत्तार्थक कृष् धातु से कृष्ण शब्द बनाने पर—जहाँ केवल आनन्द की सत्ता हो वह कृष्ण है। अथवा कृष् धातु जब जननार्थक होगा तो अर्थ होगा सम्पूर्ण जनन (सृष्टि) का निवृत्ति (लय) जहाँ पर हो वह श्रीकृष्ण हैं।

कृषिस्तद्भक्तिवचनो, नश्च तद्दास्य वाचकः।
भक्तिदास्य प्रदाता यः, स च कृष्णः प्रकीर्तितः।।
कृषिश्च सर्ववचनो नकारो बीजमेव च।
स कृष्णः सर्वसृष्ट्यादौ, सिसिक्षन्नेक एव च।। (देवीभाग. ९/२/२४/२५)

'कृष्' शब्द भक्ति वाचक और 'ण' दास्यवाचक है और भगवान् श्रीकृष्ण अपने सेवकों को अपनी भक्ति एवं दास्य भाव को प्रदान करते हैं इसलिये वे श्रीकृष्ण नाम से प्रसिद्ध हैं। अथवा 'कृष्' शब्द सम्पूर्ण सृष्टि का वाचक है और 'ण' उस सृष्टि के बीज का वाचक है। अतः श्रीकृष्ण प्रत्येक प्रकार की सृष्टि के बीज रूप से उसमें प्रविष्ट हैं या कृष्ण के बीज होने के कारण सारी सृष्टि उसी में स्थिर-स्थित है।



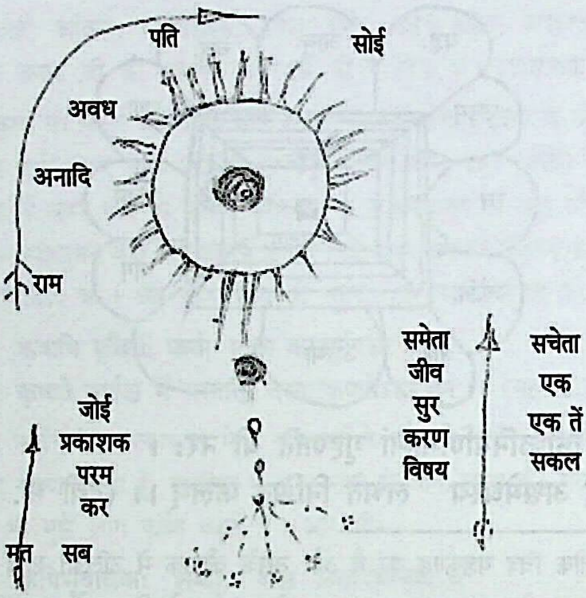
तुलसी काष्ठनिर्माणमालां गृहणति यो नरः ।
पदे पदे अश्वमेधस्य लभते निश्चितं फलम् ।। (देवी भा. ९/२४)

व्याख्या—प्रतीक चित्र यज्ञकुण्ड का है और उसके कोष्ठक में उल्लित शब्द के द्वारा उन-उन शब्द वाच्य अर्थ यज्ञ के द्वारा प्राप्तव्य फल वाञ्छित है—हे विष्णु देवता ("यज्ञो वै विष्णुः" इतिश्रुतिः) मैं जो यह यज्ञ कर रहा हूँ या जो यज्ञ सम्पन्न किया हूँ, उस यज्ञ के प्रभाव से मेरी आयु वृद्धि को प्राप्त होवे, चक्षु की ज्योति का वर्धन हो, प्राण बलिष्ठ होवे, श्रोत्र की श्रवण शक्ति बढ़े, वाणी मधुरा-सत्य का उच्चारण करनेवाली और श्रेष्ठत्व को प्राप्त करे, मन उत्तम लोकोपकारी संकल्पवाला हो, आत्मा निर्मल और बलिष्ठ हो, इस यज्ञ के फल स्वरूप अखण्ड वेद (ब्रह्म) का ज्ञान मुझे प्राप्त हो, मुझे परमात्म ज्योति की प्राप्ति हो, इस यज्ञ से मुझे स्वर्ग की प्राप्ति हो, इस यज्ञ से संसार के सर्वश्रेष्ठ सुख (पृष्ठ) की प्राप्ति हो अथवा मेरे पृष्ठभाग में स्थित रीढ़ मजबूत हों ताकि कर्म करने में सक्षम हो सकूँ। इस यज्ञ के करने से और बड़ा यज्ञ अर्थात् महायज्ञ करने का सामर्थ्य मुझे प्राप्त हो—

"आयुर्व्वज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पताञ्चक्षुर्व्वज्ञेन कल्पताᳬश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां व्वाग्यज्ञेनकल्पताम्मनो यज्ञेनकल्पतामात्मायज्ञेन कल्पतां ब्रह्मायज्ञेनकल्पताञ्ज्योतिर्व्यज्ञेन कल्पताᳬस्वर्व्यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्"

यह मन्त्र इन्हीं उपर्युक्त प्रतीक चित्र के कोष्ठकगत अर्थों का प्रतिपादक है। शुक्ल यजुर्वेदीय यह मन्त्र बहुत ही उपयुक्त और व्यवहार ग्राह्य वाञ्छाप्रद है।

जो नर तुलसी के काष्ठ से निर्मितमाला को धारण करता है, उसके प्रत्येक पद के गमन (चलने) पर अश्वमेध यज्ञ का फल निश्चित प्राप्त होता है। (देवीभागवत ९/२४)



व्याख्या–जिस प्रकार सूर्य सकल पदार्थ का प्रकाशक है, उसी प्रकार सम्पूर्ण लोक का परम प्रकाशक राम जी ही हैं। इसे इस क्रम से जानें कि—विषय (शरीर) करण (इन्द्रिय) का प्रकाशक (चेतनता प्रदान करनेवाला) है। यदि शरीर न रहे तो करण में चेतना नहीं दिखती। अत: विषय (देह) करण का प्रकाशक कहा है। करण (इन्द्रिय) को उसके देवता प्रकाशित करते हैं और इन्द्रिय के देवता को जीव अर्थात् जीवात्मा प्रकाशित करते हैं। यहाँ अद्वैत मत में जीवात्मा को भी आत्मा (परमात्मा–ब्रह्म) प्रकाशित करता है। क्योंकि अन्त:करण में प्रतिविम्बित आत्मा ही जीव संज्ञक होता है। अत: प्रतिविम्ब स्वप्रकाश वा परम प्रकाश नहीं हो सकता। परमप्रकाश तो परब्रह्म परमात्मा ही हैं, क्योंकि वह विम्ब है। अतएव सर्वविम्बस्थानी ब्रह्म ही परम प्रकाशक हैं। यह तो एक दूसरे को प्रकाशन करने की बात हुई। परन्तु सबका जो प्रकाशक है और जिसका कोई प्रकाशक नहीं है अर्थात् जो स्वयंप्रकाश स्वरूप है, वही परमप्रकाश होता है और वह है अवध अर्थात् अजर-अमरों में अग्रगण्य भगवान् श्रीरामजी। अथवा जिसका कभी बाध न हो अर्थात् जो सत्य हो, वही अवध (श्रेष्ठ) ब्रह्म है। वह ब्रह्म श्रीराम अनादि हैं, इसलिए अनन्त भी वहीं हैं। जिसके आदि का निर्धारण न हो उसके अन्त का भी निर्धारण नहीं हो सकता। उपयुक्त प्रतीक चित्र द्वारा भगवान् श्रीराम की महिमा बताई गयी है।

(रामचरित मानस)



प्राक्पश्चादस्ति कुम्भाद् गगनमिदमिति प्रत्यये सत्यपीदं,
कुम्भोत्पत्तावुदेति प्रलयमुपगते नश्यतीत्यन्यदेशम्।
नीते कुम्भेन साकं व्रजति भजति वा तत्प्रमाणानुकारौ, इत्थं
मिथ्या प्रतीतिः स्फुरति तनुभृतां विश्वतस्तद्वदात्मा॥ (शतश्लोक ६१)

यद्वत्पीयूषरश्मौ दिनकरकिरणै र्विम्बितैरेति सान्द्रं,
नाशं नैशं तमिस्त्रं ग्रहगतमथवा मूर्छितैःकांस्य पात्रे।



तद्वत् बुद्धौ परात्मद्युतिभिरनुपदं विम्बिताभिः समन्तात्,

भासन्ते हीन्द्रियास्य प्रभृतिभि
रनिशं रूपमुख्याः पदार्थाः॥
(शतश्लो. ५३)



व्याख्या—जिस प्रकार कुम्भ (घट) के उत्पन्न होने से पूर्व भी आकाश था और घटध्वंस के बाद भी आकाश की सत्ता पूर्ववत् रहती है। घटध्वंस से आकाश में किसी भी प्रकार की विंकृति नहीं देखी जाती। घट उत्पत्ति कालानन्तर घट उत्पन्न हुआ यह प्रत्यय सर्वजनीन होता है। परन्तु घट को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर कुम्भ (घट) के साथ आकाश जाता है अर्थात् गमन करता है यह जो प्रमाणानुकार प्रतीति है मिथ्या है। क्योंकि आकाश के व्यापक और निरवयव होने से सह गमनत्व या सहभजनत्व सम्भव नहीं है। ठीक उसी प्रकार आत्मा के व्यापक एवं निरवयव होने के कारण शरीरधारियों में आत्मा चलता है, खाता है, पीता है जैसी प्रतीति भी मिथ्या बौद्धिक स्फुरण मात्र है। (शतश्लोकी ६१)

व्याख्या—जिस प्रकार पीयूषरश्मि (चन्द्रमा) में सूर्य किरणों के पड़ने पर उसका विम्ब गाढ़ा हो जाता है तथा वही किरण अन्य ग्रहों पर पड़ने पर कहीं नाश, कहीं निशाभाव, कहीं तामिस्त्र (घोरान्धकार) को प्राप्त होता है अथवा जिस प्रकार कांश्य पात्र में सूर्य किरण पड़ने पर उसमें एक प्रकार की द्युति की प्रतीति होती है; उसी प्रकार जीवात्मा में आत्मद्युति के किरण के पड़ने पर प्रतिविम्ब प्रकाश से इन्द्रियाँ विभिन्न स्वरूप के पदार्थ को भासित (प्रकाशित) करती हैं। (शतश्लोकी ५३)

पूर्णा-आत्मा-नात्मभेदात्त्रिविधमिह, परं बुद्ध्यवच्छिन्न-
मन्यत्, तत्रैवाभासमात्रं गगनमिवजले त्रिप्रकारं विभाति ।

अम्भोऽवच्छिन्नमस्मिन् प्रतिफलनमतः पाथसोन्तर्बहिश्च,
पूर्णावच्छिन्न योगे व्रजति लयमविद्या स्वकार्यैः सहैव ॥

(शतश्लो. ५४)

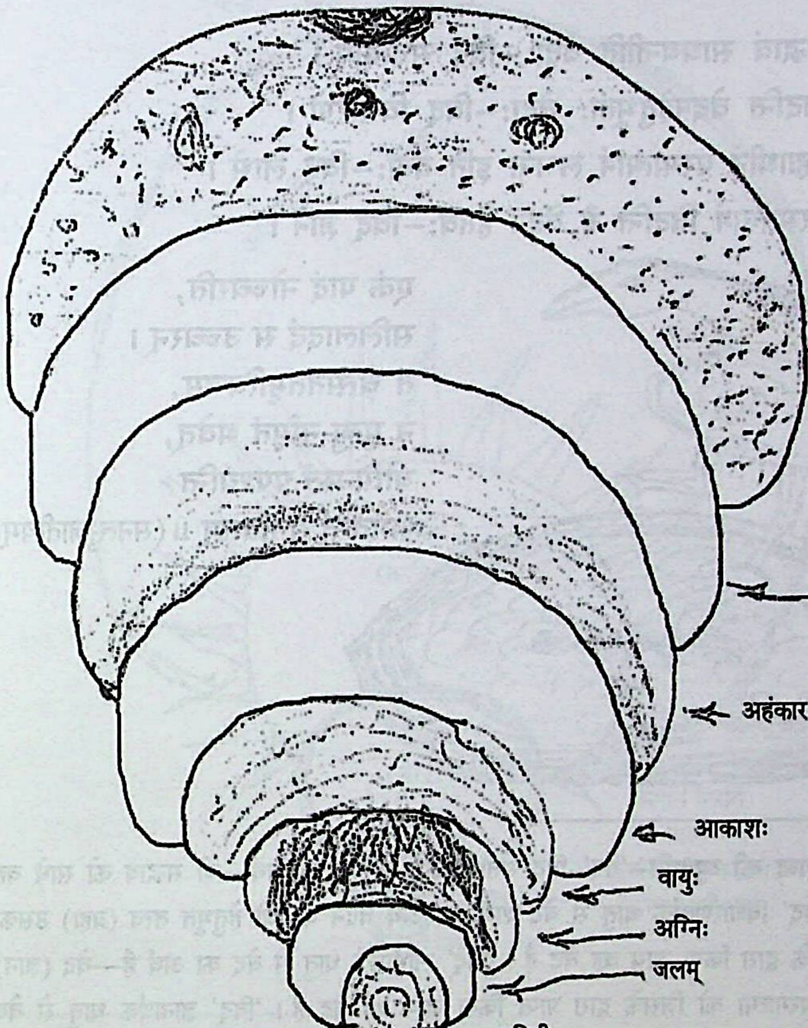


शालाग्रामाः समाः पूज्याः समेषु द्वितयं न हि ।
विषमेष्वेक एव हि । (वाराह पाद्मयोः)

व्याख्या—इस व्यावहारिक जगत् में आत्मा के तीन रूप को कहा जाता है—पूर्णात्मा, आत्मा और अनात्मा। परन्तु बुद्ध्यवचिन्न (अन्तःकरणावच्छिन्न) आत्मा तो कोई अन्य (भिन्न) ही है—जैसे जल में गगन की त्रिविधरूपता देखी जाती है, उसी प्रकार बुद्धि (महत्तत्त्व) में पूर्णात्मा, आत्मा और अनात्मा त्रिविधरूपता का आभास होता है। जिस प्रकार जल अवच्छिन्न आकाश की त्रिविधता जल के भीतर और बाहर दिखाई देता है और यथा जल की पूर्णतारूप समुद्र में गगन की सारी उपाधि लय हो जाने पर आकाश एक ही दिखाई देता है उसी प्रकार पूर्णब्रह्म में अविद्या के साथ उपाधियों के लय हो जाने पर एक अद्वितीय पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है। (शतश्लोकी ५४)

व्याख्या—शालग्राम शिलाएँ यदि अनेक हों तो उनमें से समसंख्या जैसे-दो-चार-छः आदि की पूजा करनी चाहिये। विषम संख्या हो तो उसमें से एक की ही पूजा करनी चाहिये। इससे पूर्व के पृष्ठ पर इसकी विशेष व्याख्या कर दी गई है, अतः विशेष जानकारी के लिये वहीं देखें।

(वाराह और पद्मपुराण)



व्याख्या–अव्यक्त (मूलप्रकृति) में तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है। जब मूलप्रकृति में स्पन्द-विक्षोभ होता है तो गुणों की अधिकता या न्यूनता होती है अर्थात् सत्त्वांश की अधिकता से महत्तत्त्व (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार गुणों में विषमता से महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी तत्त्व की उत्पत्ति होती है।

वेद–

१. सद्भावं साधयन्तीति वेदाः–विद् सत्तायाम् ।

२. विदन्ति वेदनहेतुभूताः वेदाः–विद् विचारणे ।

३. ब्रह्माधीनं परमात्मानं लभन्त इति वेदाः–विद् लाभे ।

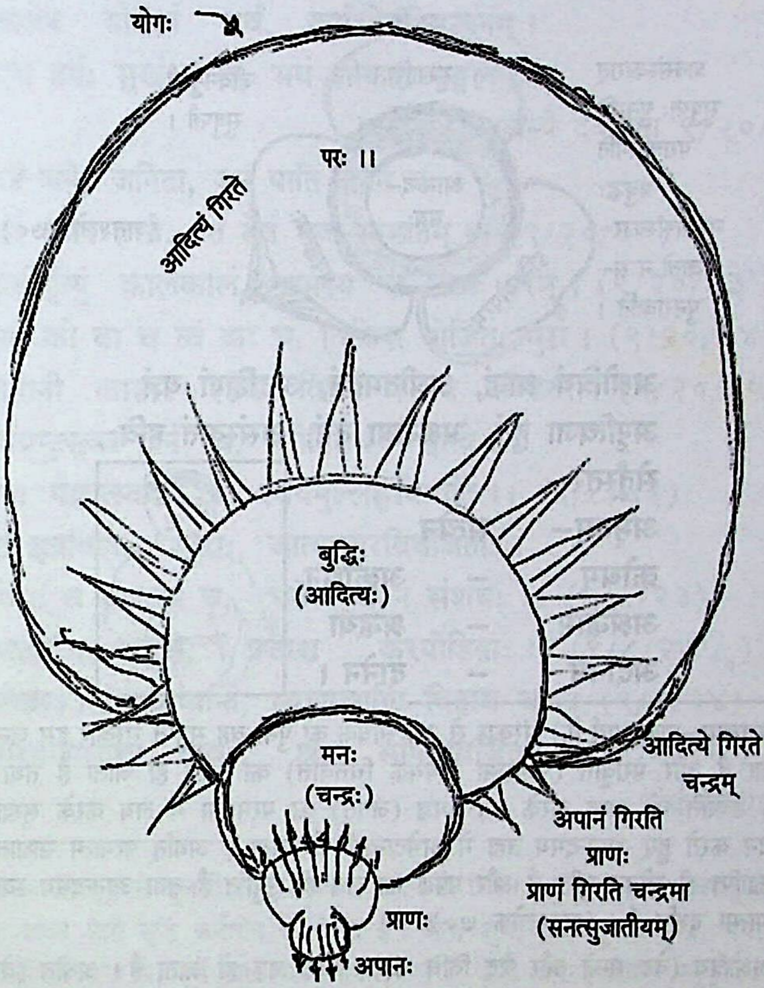
४. परमात्मानं विदन्ति यै वेंदन हेतवः–विद् ज्ञाने ।



एकं पादं नोच्चरति,
सलिलाददं स उच्चरन् ।
तं चेत्सततमृत्विजम्,
न मृत्यु र्नामृतं भवेत्,
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ (सनत्सुजातीयम्)

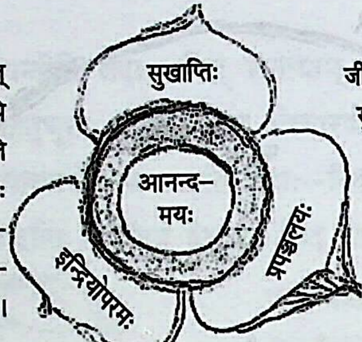
वेद शब्द की व्युत्पत्ति–'वेद'–विद् सत्तार्थकधातु से वेद का अर्थ—जो सद्भाव को साधे वह वेद है। 'विद्' विचारणार्थक धातु से वेद शब्द का अर्थ वेदन का जो हेतुभूत तत्त्व (ब्रह्म) उसका विचार जिसके द्वारा किया जाय वह वेद है। 'विद्' लाभार्थक धातु से वेद का अर्थ है—वेद (ज्ञान) के अधीन परमात्मा को जिसके द्वारा प्राप्त किया जाय वह वेद है। 'विद्' ज्ञानार्थक धातु से वेद का अर्थ–जिसके द्वारा सर्ववेदन का हेतु परमात्मा के ज्ञान की प्राप्ति हो वह वेद कहलाता है।

उस सनातन पुरुष भगवान् का योगी जन तप-योग-भक्ति अथवा ज्ञान के द्वारा दर्शन करते हैं, जो एक पद को तो स्थिर कर रखे है अर्थात् जिस चरण से वे (गमन)–विचरण अथवा क्रिया नहीं करते। उस पद का ऋत्विग् लोग दर्शन करते है और वह पद न तो मृत्यु और न ही अमृत होता है।



व्याख्या—साधक को पिङ्गला (सूर्य) नाड़ी में इडा नाड़ी को अथवा चन्द्र को सूर्य में अथवा बुद्धि में मन को लय करना चाहिये। सूर्य नाड़ी में चन्द्र नाड़ी के लय हो जाने पर प्राण वायु में अपान वायु को लय करे। दूसरा महत्त्वपूर्ण क्रम यह है कि साधक प्राण वायु में अपान वायु को लय करे और प्राणवायु को चन्द्र (मन) में लय करे और चन्द्र के सूर्य (बुद्धि) में लय करे। चन्द्र (मन) के सूर्य में लय करने के अनन्तर आदित्य (सूर्य) को परमात्मा में लय करना ही योग कहलाता है। (सनत्सुजातीय)

प्राक्संस्कारात् सुषुप्तः पुनरपि परावृत्तिमेति प्रबुद्धः नश्यत्संस्कार–जातो न स–पुनरावर्तते ।



जीवनमुक्तौ, सुषुप्तौ ।

(शतश्लो. ७०)

अश्रोत्रियं श्राद्धं, अधीतमव्रतं, अदक्षिणं यज्ञं,
अनृत्विजा हुतं, अश्रद्धया दत्तं, असंस्कृतं हविः,
सेतूँस्तर–
अमृतम्– सत्येन
क्रोधम् – अक्रोधेन
अश्रद्धाम् – श्रद्धया
अदानम् – दानेन ।



व्याख्या–प्राक् (पूर्व के) संस्कार से उस साधक को पुनः वह सुषुप्त संस्कार इस जन्म में प्रबुद्ध हो जाता है और परावृत्ति (परमात्मा विषयक चित्तवृत्ति) का उदय हो जाता है तथा इन्द्रियादि विषयक उपरति को प्राप्त करके वह प्रपञ्च (जगत्) का परमात्मा में लय करके सुखानुभूति का आस्वादन करते हुए आनन्दमय ब्रह्म में अभेदान्वयी हो जाता है अर्थात् परमात्म साक्षात्कार करता है। सुखाप्ति ही जीवन मुक्ति है और प्रपञ्च का लय ही सुषुप्ति है तथा आनन्दमय स्वात्म स्थिति ही परमात्मा दर्शन है। (शतश्लोक ७०)

अश्रोत्रिय (वेद मन्त्रों और वेद विधि रहित) श्राद्ध नष्ट हो जाता है। अधीत (वेद-शास्त्रादि का अध्ययन) अर्थात् विद्या व्रत के विना नष्ट हो जाता है। दक्षिणा से रहित यज्ञ नष्ट हो जाता है। ऋत्विज के विना किया गया हवन नष्ट हो जाता है। श्रद्धा से रहित दान नष्ट हो जाता है। संस्कार से रहित हवि (हवनीय द्रव्य-घृतादि) नष्ट हो जाता है अर्थात् फलदायी नहीं होता है।

इस प्रकार सेतु को पार करो–

असत् के सेतु को सत्य से पार करो। क्रोध के सेतु को अक्रोध से पार करो। अश्रद्धा के सेतु को श्रद्धा से पार करो और अदान (कृपणता) के सेतु को दान देकर पार करो। यहाँ पर इस वेद मन्त्र का अभिप्रायार्थ यह है कि असत् को सत्य से, क्रोध को क्रोधाभाव से, अश्रद्धा को श्रद्धा से और अदान (संग्रह की प्रवृत्ति) को दान देकर जीतना चाहिये। ऐसा करने से मानव जीवन का मूल्य संरक्षित होता है।

कालेन योजितं सर्वं, कर्मभोगनिबन्धनम्।
शुभं हर्षः सुखं दुःखं, भयं शोकश्च मङ्गलम्।।
(शङ्खचूड़ः तुलस्यै देवीभाग ९/२०/५३)
जनं जनेन जनिता, जनं पाति जनेन यः।
जनं जनेन हरते, तं देवं भज साम्प्रतम्।। (९/२०/६०)
मृत्योर्मृत्युं कालकालं, यमस्य च यमं परम्। (९/२०/६३½)
अहं को वा च त्वं का च, विधिना योजितः पुरा। (९/२०/६४½)
अज्ञानी कातरः शोके, विपत्तौ न च पण्डितः। (९/२०/६५½)
स्वयमुत्सृज्य दानं च, कीर्तिवर्धन हेतवे।
ततः पश्चात्स्वदानं च, स्वयमुल्लङ्घयिष्यति।। (९/८/४१)
ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्राः, जात्याचारविवर्जिताः।
संध्या च ब्रह्मसूत्रं च, भवेल्लुप्तं न संशयः।। (९/८/२३)
प्रतापहीना भूपाश्च, प्रजाश्च करपीडिताः।। (९/८/२७½)
म्लेच्छशास्त्रं पठिष्यन्ति, स्वशास्त्राणि विहाय च।। (९/८/२४)
क्षीरहीनास्तथा गावः, क्षीरं सर्पिविवर्जितम्।। (९/८/२६½)
(देवीभागवत पु.)

व्याख्या—शंखचूड़ ने तुलसी से इस प्रकार कहा—हे प्रिये! (तुलसि!) इस जगत् में काल से संयोजित होकर सारी सृष्टि कर्मभोग से बँधता है। अतः शुभ, हर्ष, सुख, दुःख, भय, शोक और मङ्गल जो भी प्राप्त हो, उसे काल का संयोजन फल ही जानो और उपस्थित अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में उद्विग्न मत होओ। (देवी भा.पु. ९/२०/५३) जो जन से जन को उत्पन्न करनेवाला है, जन से जन की रक्षा करता है, जन से ही जन का संहार करता है, उस देवता को इस काल में भजो। (देवी भा.पु. ९/२०/६०) जो मृत्यु के भी मृत्यु और काल के भी काल हैं तथा जो यम के भी परम यम हैं, उसका इस समय भजन करो। (दे.भा.पु. ९/२०/६२½) मैं कौन हूँ? तुम कौन हो? हम दोनों दूर-दूर में रहना और दोनों-दोनों से अनभिज्ञ रहकर भी अभी एक जगह सम्मुख हैं, इससे यह विनिश्चय होता है कि—विधि ने दोनों को पूर्व में योजित (संयोग) करने का विधान कर दिया था। इसलिये अभी मिलन हो रहा है। (देवी भा.पु. ९/२०/६४½)

जब विपत्ति आती है तो अज्ञानी शोक में कातर हो जाते हैं, परन्तु जो पण्डित (ज्ञानी) हैं वे विपत्तिकाल में कभी न तो शोकातुर होते हैं और न ही दुःख का अनुभव करते हैं, प्रत्युत् वीर-धीर भाव में स्थिर रहते हैं। (देवी भा.पु. ९/२०/६५१/२)

कलियुग आने वाला है और कलियुग में अपनी कीर्ति को बढ़ाने के उद्देश्य से दानदाता स्वयं दान का उत्सर्ग (दान) करके स्वयं उसका उल्लङ्घन करेंगे अर्थात् उस दिये हुए दान का स्वयं उपभोग भी करेंगे। (दे.भा.पु. ९/८/४१)

कलिकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्ण अपनी जाति के अनुसार शास्त्रमर्यादित धर्म से रहित हो जायेंगे। सन्ध्याकर्म और ब्रह्मसूत्र का लोप हो जायगा। प्रसंगात् यहाँ संध्यादि का विवेचन आवश्यक जानकर उसका विवेचन किया जा रहा है—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इसश्रुति वचन से द्विजमात्रको प्रत्येक दिन संध्या की उपासना करनी चाहिये ऐसा श्रुतिप्रतिपादित विधि वाक्य है। संध्या की उपासना के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि संध्या क्या है ? इसकी जानकारी होनी चाहिये। क्योंकि "प्रयोजनं विहाय मन्दोऽपि न प्रवर्तते" यह न्याय है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु में अपनी इष्ट सिद्धि को जानता है तभी उसमें प्रवृत्त होता है। अतः संध्या क्या है ? किसे कहते हैं ? और उसकी उपासना विधि क्या है ? जानना चाहिये। संध्या के सम्बन्ध में—

नोदकैर्जायते सन्ध्या, न मन्त्रोच्चारणेन तु ।
सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं, सा सन्ध्या सद्भिरूच्यते ।। (पाशुपतब्रह्मोपनिषद् १८)

वर्तमानकाल में द्विजजन जलादि द्वारा आचमन, प्राणायाम और गायत्री मन्त्र जपादि मात्र को ही इति सन्ध्या करके समझा करते हैं। सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान के अभाव को ही प्रदर्शित करता है। वर्तमान काल में द्विजों द्वारा की जानेवाली सन्ध्या नहीं सन्ध्या करने का अभ्यास मात्र है। अभ्यास और सन्ध्या के सम्बन्ध में उसके परस्पर भेद को आगे यथा स्थान कहूँगा। अभी कहना यह है कि—जलादि द्वारा किये जाने से सन्ध्या नहीं होती और न ही मन्त्रों के उच्चारण से ही सन्ध्या होती है। सन्ध्या तो जीवात्मा और परमात्मा की जो सन्धि होती है उस सन्धि प्राप्त होने के उपरान्त दोनों की जो ऐक्यता है उसे सन्ध्या कहते हैं। इसे और सुस्पष्ट करते हैं—जीव ब्रह्म की सन्धि में जो ऐक्यता का अखण्ड बोध है वही सन्ध्या है।

जो लोग (पण्डितजन) कालवाचक सन्ध्या को सन्ध्या समझते हैं, वे तो और भ्रम में हैं। वह तो सन्ध्या काल है और सन्ध्योपासना के लिए जो शास्त्र द्वारा निर्धारित काल है उस काल मात्र ही वाचक है, यथा—

अहोरात्रस्य या सन्धिः, सूर्यनक्षत्रवर्जिता ।
सा तु सन्ध्या समाख्याता, मुनिभिः तत्त्वदर्शिभिः ।। (याज्ञवल्क्यः)
"सायं सन्ध्या त्रिघटिका, ह्यस्तादुपरिभास्वतः" (तिथ्यर्के पं दिवाकरः)

याज्ञवल्क्य का कथन है कि सूर्य-नक्षत्र से रहित दिन और रात्रि की जो सन्धि (मिलन काल) है वही सन्ध्याकाल है। तिथ्यर्क के लेखक आचार्य दिवाकर ने सूर्य के अस्त के अनन्तर तीन घटी के काल को सन्ध्या माना है। सन्ध्योपासना के तीन काल शास्त्रों के द्वारा निर्धारित किया गया है—

सन्ध्यात्रयं प्रकत्तव्यं, द्विजेनात्मविदा सदा। (योगियाज्ञवल्क्यः)
नानुतिष्ठति यः पूर्वां, नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः, सर्वस्मात् द्विजकर्मणः।। (मनुः)
प्रातः सन्ध्यां सनक्षत्रां, उपासीत यथाविधि।
सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यार्द्धास्तमितभास्कराम्।। (संवर्तः)
प्रातः सन्ध्यां सनक्षत्रां, मध्याह्ने मध्यभास्कराम्।।
ससूर्यां पश्चिमां सन्ध्यां, तिस्रः सन्ध्या उपासते। (देवी भा.पु. ११/१६/२-३)

उपर्युक्त वचनों से सन्ध्योपासना के लिए तीन काल निर्धारित किये गये हैं। नक्षत्र सहित काल प्रातः सन्ध्याकाल है। मध्य दिन में सूर्य के होने पर मध्याह्न संध्याकाल और सूर्य सहित (सूर्य के अस्त से ठीक पूर्व) सायंकाल सायंसन्ध्याकाल है। सन्ध्या की उपाससना नहीं करने वाले द्विजों के लिए विहित कर्म में अधिकार प्राप्त नहीं होता और वह उस कर्म के करने में अनर्ह है, यह भगवान् मनु ने अपने स्मृति में लिखा है। सन्ध्या की उपासना उसके लिए विहित किये गये काल में ही करना फलदायी होती है अन्यथा वह वन्ध्या वधू के समान फल को उत्पन्न नहीं कर पाती—

स्वकाले सेविता सन्ध्या, नित्यं कामदुधा भवेत्।
अकाले सेविता सा च, सन्ध्या वन्ध्या वधूरिव।। (मित्रकल्प)

अब विचार यह करना है कि सन्ध्या की उपासना अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की सन्धि अर्थात् दोनों के ऐक्यभाव कैसे प्राप्त हो। इसके लिए सर्वप्रथम आपको पूरक-कुम्भक और रेचक प्राणायाम विधि का आश्रय लेना होगा—

रुचिरं रेचकं चैव, वायोराकर्षणं तथा।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता, रेचकपूरककुम्भकाः।।९।।
सव्याहृतिं सप्रणवां, गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिःपठेदायतप्राणंः, प्राणायामः स उच्चते।।१०।। (अमृतनादोपनिषद्)

व्याहृति के साथ प्रणव तथा गायत्री शिर के साथ गायत्री मन्त्र तीन वार उच्चारण पूर्वक पूरक कुम्भक और रेचक की क्रिया करने को प्राणायाम कहते हैं। व्याहृति—"ऊँ भूः, ऊँ भुवः, ऊँ स्वः, ऊँ महः, ऊँ जनः, ऊँ तपः, ऊँ सत्यम्", यह सप्तसख्याक है और गायत्री शिर—"परो रजसे सावदोम्" है। पूरकादि यथा—

पूरक— वक्त्रेणोत्पलनालेन, तोयमाकर्षयेन्नरः।
एवं वायुर्ग्रहीतव्यः, पूरकस्येति लक्षणम्।।१२।।
कुम्भक— नोच्छ्वसेन्न च निश्वासेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवं भावं नियुञ्जीयात्, कुम्भकस्येतिलक्षणम्।।१३।।
रेचक— उत्क्षिप्य वायुमाकाशे, शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावे नियुञ्जीयात्, रेचकस्येति लक्षणम्।।१४।। (अमृतजादोपनिषद्)

अर्थात् जैसे कमलनाल से जलाकर्षण कर पान किया जाता है उसी भाँति ध्राण नलिका से

वायु का आकर्षण करना पूरक प्राणायाम लक्षणवाला है। न तो उच्छ्वास क्रिया करे न ही निःश्वास क्रिया करे और न ही शरीर का चालन करे परन्तु भाव से मन का संयोग करावे, तो उसे कुम्भक कहा जाता है। वायु को आकाश में उत्क्षेपण कर हृदयादिदेश को खाली कर दे और शून्यभाव में मन का नियोजन (संयोग) करे तो इसी को रेचक कहते हैं।

ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो, विष्णुःकुम्भक उच्यते।
रेचो रुद्र इति प्रोक्तः, प्राणायामस्य देवता ।।२१।। (ध्यानविन्दूपनिषद्)
हृत्पद्मकर्णिकामध्ये, स्थिरदीपनिभाकृतिम्।
अङ्गुष्ठमात्रमचलं, ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ।।१९।।
इडा वायुमापूर्य, पूरयित्वोदरस्थितम्।
ओकारं देहमध्यस्थं, ध्यायेज्ज्वालावलीवृतम् ।।२०।।
अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः ।।१२।।
उकारः सात्त्विकः शुक्ले, मकारः कृष्णतामसः।
अष्टाङ्गं च चतुष्पादं, त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ।।१३।।
ओकारं यो न जानाति, ब्राह्मणो न भवेत्तु सः। (ध्यानविन्दूपनिषद्)

हृदयपद्मकर्णिका के मध्य में अङ्गुष्ठमात्र सुस्थिर दीपशिखा के समान प्रभावान् ओंकार ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये। इडा (चन्द्र) नाड़ी अर्थात् घ्राण की वाम नलिका से वायु को पूरितकरके उदरस्थ कर देह के मध्य ज्वालामुखी से आवृत ओंकार का ध्यान करना चाहिये। ओंकार में जो अ-उ और म वर्ण हैं उसमें अकार के पीतवर्ण रजोगुण प्रधान ब्रह्मा देवता हैं। उकार के सात्त्विक गुण (सतोगुणप्रधान) शुक्लवर्ण विष्णु देवता तथा मकार के तामसगुण (तमोगुण प्रधान) कृष्णवर्ण रुद्र देवता है—

अकारे लीयते ब्रह्मा, उकारे लीयते हरिः।
मकारे लीयते रुद्रः, प्रणवो हि परः स्मृतः ।। (श्रुतिः)

अकार में ब्रह्मा लीन होते हैं, उकार में विष्णु और मकार में रुद्र लीन होते हैं। प्रणव ब्रह्म इससे परे हैं।

"प्राणापान समायोगः, प्राणायामो वै भवति।
रेचकपूरक कुम्भक भेदेन स त्रिविधः ।।१।।
तस्मात् प्रणव एव प्राणायामः" ।।२।। (शाण्डिल्योपनिषद् १/६)

ओंकार में तीन वर्णों का ध्यान इस प्रकार है—

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रशशभृद्बिम्बज्योत्स्नावितानिताकारमूर्ती
रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति।
उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति।
मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति ।।३।।
अकारादित्रयाणां सर्वकारणं एकाक्षरं परंज्योतिः प्रणवं भवति ।।४।।
(शाण्डिल्योपनिषद् १/५)

पद्मासनादि पर स्थित साधक व्यक्ति नासाग्र चन्द्रविम्बज्योत्स्नाजाल वितानित आकारमूर्ती रक्तवर्णा हंसवाहिनी दण्डहस्ता बालावयस्वरूपा गायत्री होती है अर्थात् अकारोपासक साधक व्यक्ति उपर्युक्त विशेषणविशिष्टा गायत्री स्वरूप को भजता है। उकार वर्णावयवोपासक व्यक्ति उकारमूर्ति श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी युवती अवस्था आपन्ना चक्रहस्ता सावित्री को भजता है। मकार वर्णावयवोपासक मकारमूर्ति कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा (ज्ञान समृद्धा) त्रिशूलधारिणी सरस्वती की उपासना करता है। अकारादि तीनों वर्णों के सर्वकारणरूप एकाक्षर परंज्योति प्रणव अर्थात् ॐ होता है। ओम् शब्द तीनों के अवयवों अर्थात् अ–उ–म तीनों के स्वरूप का यहाँ वर्णन किया गया है और साधक के लिए तीनों अवयों की पृथक्-पृथक् उपासना पूर्वक एकाकार होकर प्रणव में स्थिति स्थापना मुख्य लक्ष्य है। एकाकार सर्वकारण प्रणव परंज्योति स्वरूप पूर्ण ब्रह्म है। और "अयमात्मा स्वयं ब्रह्म" इस श्रुति के बल से ब्रह्म में स्वात्मा की स्थिति का स्थापन ही संख्या का मुख्य लक्ष्य सिद्ध होता है। प्रसंगात् सहायक क्रिया सामग्री ध्यान धारणादि का विचार भी यहाँ किया जा रहा है—

ध्यान-धारणादि–चित्तस्य निश्चलीभावो, धारणा धारणं विदुः।
सोऽहं चिन्मात्रेमेवेति, चिन्तनं ध्यानमुच्यते ।।३१।। (त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्)
प्राणायाम द्विषट्केन, प्रत्याहार उदाहृतः।
प्रत्याहारद्विषट्केन, धारणा परिकीर्तिता।।
भवेदीश्वरसङ्गत्यै, ध्यानं द्वादशधारणम्।
ध्यान द्वादशकेनैव, समाधिरभिधीयते।।
धारणा पञ्चनाडीभि र्ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेन स्यात्, प्राणसंयमनं क्रमात्।। (स्कन्दपुराण)

चित्त के निश्चलीभाव का धारण ही धारणा है और मैं वही चिन्मात्र ब्रह्म हूँ इस प्रकार का चिन्तन ध्यान कहलाता है। द्वादशमात्रा काल तक प्राणायाम क्रिया को प्राणायाम, चौबीस मात्राकाल के प्राणायाम अभ्यास से धारणा और बहत्तर मात्राकाल तक धारणा अभ्यास से ध्यान का उदय होता है। अथवा पाँचनाड़ी काल अभ्यास से धारणा, साठ नाड़ी अभ्यासकाल का ध्यान एवं द्वादश दिन पर्यन्त ध्यान के अभ्यास से समाधि का उदय (प्राप्ति) होता है। चूँकि सन्ध्या प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान के परिपक्वावस्था का ही फल है, अतः प्रत्याहार, धारणा, ध्यान-समाधि पूर्वक ही जीवात्मा और परमात्मा की सन्धि और ऐक्य प्राप्त होता है। यहाँ संक्षेपतः सन्ध्या के सम्बन्ध में कहा गया है सुधीजन शास्त्रों से विशेष अन्वेषण कर सकते हैं।

ब्रह्मसूत्रम्— **षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रमयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृत्तं**
ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रनिबन्धनम् अद्वैतग्रन्थिः ।।१४।।
यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तरज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ।।१५।।
उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा यज्ञाः। ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम्।
तद्ब्रह्मसूत्रम् यज्ञसूत्रसम्बन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ।।१६।।

मनो यज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम्। प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम्।
प्रणवान्तवर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्। तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम्।।१७।।
(पाशुपतब्रह्मोपनिषद् पूर्वकाण्ड)

चार अङ्गुलमान से छानवे संख्या विशिष्ट यज्ञसूत्र जिस प्रकार व्यक्त होता है वैसे ही छानवे तत्त्वतन्तु विशिष्ट ब्रह्मसूत्र भी व्यक्त होता है। यज्ञसूत्र तो सूत्रत्रयविशिष्टतन्तु स्वरूप होता है, परन्तु ब्रह्मसूत्र द्वितुर्यविकल्पात्मना चित्सूत्रत्रयचिन्मयस्वरूप होता है। जैसे यज्ञसूत्र त्रिसूत्र को त्रिरावृत किया जाय तो नवसूत्र हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मसूत्र भी द्वितुर्याविकल्पत्रय को त्रिरावृत करने पर नवमहातत्त्वात्मक हो जाता है। अथवा तुर्यविश्वविराडोत्रादि भेद से नवतत्त्व तुर्यप्राज्ञबीजानुज्ञैकरसात्मना त्रिरावृत करने पर तृतीयपादपर्यसन्न होता है। अथवा नवतत्त्वत्रिरावृत ब्रह्मसूत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मक गार्हपत्यादि अग्नित्रय कला सम्पन्न होता है। इस प्रकार त्रिधाभिन्न ब्रह्मसूत्रैक्य उपाय चिन्मात्रतत्त्व से अतिरिक्त त्रिधा विभक्त है। चिद्ग्रनिबन्धन से भिन्न कुछ भी नहीं है। यज्ञसूत्र वाह्य ज्वलनशील (प्रकाशक) होता है, उसके ऐसा होने के कारण यथा बाह्ययज्ञादिसाधारणाङ्ग अग्नि होती है, तथा (उसी प्रकार) ब्रह्मसूत्र अन्तर्ज्वलनशील (अन्त:प्रकाशक) होने से अन्तर्यज्ञसाधारणाङ्ग ज्ञानाग्नि होता है।

वाह्ययज्ञ तो उपवीतलक्षणसूत्रवत् ब्रह्माश्रय होता है। यज्ञसूत्र ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्त अर्थात् वेदाङ्गलक्षणयुक्त ब्राह्मण होता है। उसका ब्रह्मसूत्र भी वही होता है। क्योंकि यज्ञसूत्रवत् ब्राह्मण सम्बन्धी होने से ब्रह्मयज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठा का ब्राह्मण ही निर्वरण करते हैं। यह नियम है कि जो यन्निष्ठ होता है वह तत्स्वरूप होता है।

अत: प्रणवनिष्ठ के फलस्वरूप वह ब्राह्मप्रणव स्वरूप हो जाता है। मनोयज्ञ अर्थात् अन्तर्यज्ञ का फलत्वेन जो प्राप्ति है वह हंस है और हंस स्वरूप ही यज्ञसूत्र है। प्रणव ब्रह्मसूत्रमय एवं ब्रह्मयज्ञ होता है। अतएव हंस ही सब कुछ है, हंस से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, यह कथन का निहितार्थ हुआ। जो हंस प्रणवार्थरूप से प्रणवान्त: (प्रणव के अन्त:में) उपलब्ध हो वही ब्रह्मसूत्र है अर्थात् प्रत्यग् चेतन से अभिन्न ब्रह्म और जो ब्रह्मसूत्र है वही ब्रह्ममय निर्विशेषब्रह्मज्ञान है ऐसा समझना चाहिये। स्वातिरिक्तभ्रममोचन का उपाय स्वात्मज्ञानमात्र ही साधनभूतरूप से होता है, इससे अतिरिक्त साधनजाल (साधनसमूह) भ्रममोक्षण में हेतु नहीं हो सकता। यही मोक्षक्रम है।

अब हम मूल विषय की ओर चलते हैं कि—कलियुग में उपर्युक्त लक्षण सन्ध्या-ब्रह्मसूत्र का लोप हो जायगा इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिये। (देवी भा. ९/८/२३)

राज्य को सुसंचालित करनेवाले भूपगण (राजागण) प्रतापहीन हो जायेंगे और प्रजाजन राजा द्वारा अनर्गल लगाये गये करों (लगानों) से पीड़ित होंगे।

म्लेच्छजाति अपने शास्त्र के अध्ययन-पठन-पाठन को त्याग कर सनातन शास्त्र-वेद, पुराण, स्मृति और आगमादि का पारायण-पाठ करेंगे। गायें दूध देने में असमर्थ हो जायगी और दूध अन्यथा रूप होंगे घृतादि तत्त्व रहित होंगे। आज दुग्ध के सम्बन्ध में अथवा कलियुग के प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि श्रद्धालु-आस्तिक आप पाठकगण खुद कलियुग के ताण्डव को देख और अनुभव कर रहे हैं। (देवी भा. ९/८/२४/२६½)

अन[1]ग्निरनि[2]केतश्चाप्यगो[3]त्र च[4]रणो मुनिः ।
कौपीनाच्छादनं यावत् तावदिच्छेतीवरम् ।
यावत्प्राणाभिसधानं तावदिच्छेच्च भोजनम् ।
तथास्य वसतो ग्रामेऽरण्यं भवति पृष्ठतः ।।

(महाभा. आदिपर्व ९१/१२-१३)

यस्तु कामान् परित्यज्य, त्यक्तकर्माजितेन्द्रियः ।
आतिष्ठेच्च मुनिमौनं, स लोके सिद्धिमाप्नुयात् ।। (महाभा. ,, ,,)
धौत[6]दन्तं कृत्त[7]नखं सदा[8]स्नातमलङ्कृतम् ।
अ[9]सितं सि[10]तकर्माणं, कस्तमर्हति नार्चितुम् ।। (महाभा. ,, ,,)

व्याख्या–जो मुनि अनग्निक अर्थात् भोजन के उद्देश्य से अग्नि का रक्षण नहीं करता वह मुनि सन्यासी कोटि का है, अनिकेत अर्थात् जो मुनि रहने के लिये घास फूस से निर्मित किसी कुटिया का भी निर्माण नहीं करता है वह मुनि परमहंस कोटि का है। अगोत्र अर्थात् जो मुनि जन्मवंशव्यपदेश रहित है वह भी एक विशिष्ट कोटि का है तथा जो विद्यावंशव्यपदेश रहित है वह भी अतिविशिष्ट कोटि का मुनि है। ऐसे मुनि यावत् काल कौपीन (लँगोट) से लज्जा का आच्छादन करता है तावत् काल ही सेती (गृहस्थ के घर-घर जाकर भिक्षा माँगना) कर्म की इच्छा करे। ऐसे जो मुनि हैं वे जब तक शरीर में प्राणों का संधान बना है तावत् ही भोजनादि की इच्छा करे। क्योंकि प्राणों के सर्वमूलकारण परमात्मा में विलय हो जाने पर उन मुनियों को भोजनादि की अपेक्षा नहीं रहती। ऐसे वे महात्मा ग्राम में वास कभी न करे, क्योंकि ग्राम में वास करने पर अरण्य पृष्ठभाग में चला जायगा अर्थात् विरक्तिभाव का ह्रास हो जायगा और राग उत्पन्न होने की सम्भावना बनेगी। (महाभा. आदि. ९१/१२,१३ नी.टी.)

जो मुनि भोगवस्तु से विरत होकर ब्रह्मचिन्तन का अभ्यास करता है और जागतिक भोगोत्पादक कर्मों से विरत हो चुका है तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका है एवं जो मौनभाव में प्रतिष्ठित है वही इस लोक में सिद्धि को प्राप्त करता है। (महाभा. आदि. नी.टी.)

धौतदन्त अर्थात् जो मुनि नित्यशुद्धसात्त्विक आहार को ग्रहण करता है और कृत्तनख अर्थात् सभी प्रकार के हिंसा साधन से रहित है, सद् अर्थात् नित्यशुद्ध है, आस्नात अर्थात् सभी प्रकार

१. संन्यासी, २. परमहंसः, ३. जन्मवंशव्यपदेश शून्यः, ४. विद्यावंशव्यपदेशशून्यः। (नी.टी.)
५. भोगविवेकान्यतरत् अभ्यसन् (नी.टी.) ६. शुद्धाहारम्, ७. त्यक्त हिंसासाधनम्, ८. नित्यं शुद्धम्, ९. वासनावन्धशून्यम्, १०. हिंसा युक्तं धर्ममपि त्यजन्तम्। (नी.टी.)



देवकीसुतगोविन्द,
कसुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण,
त्वामहं शरणं गतः॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं वसुधायै स्वाहा।
अनेन मनुना पूर्वं विष्णुना पूजिता क्षितिः॥ (देवी भा. 9/9)

के वासना बन्ध से निर्मुक्त है, असित अर्थात् वासना से सर्वथा विनिर्मुक्त और सर्वथा शुद्ध है, सितकर्मा अर्थात् हिंसा से युक्त धर्म को भी त्यागनेवाले हैं, ऐसे गुणों से अलङ्कृत मुनि की कौन नहीं पूजा करता? सब करता है। वे सर्वपूजनीय होते हैं। (महाभा. आदि.नी.टी.)

व्याख्या–जिस भक्तानुरागी–सद्गृहस्थ को लौकिक नाना प्रकार के उपचार करने पर भी यदि सन्तति की प्राप्ति न हो सके, तो उसे अनन्यभाव से भगवान् मुकुन्द-माधव-मोहन श्रीकृष्ण के गोपाल स्वरूप श्री गोविन्द की शरणागति में जाकर गोपाल सन्तान मन्त्र का पुरश्चरण जप–अनुष्ठान विधि से करना चाहिये। सविधि अनन्य भक्तिभाव से अनुष्ठान किये जाने पर अवश्य ही सन्तति की प्राप्ति होगी, इसमें कोई संशय नहीं है। यदि सन्तति चाहने वाले दम्पत्ति स्वयं यह अनुष्ठान न कर सकते हों तो किसी विद्वान-भक्त-निर्मल स्वभाव के आचार्य–पंडित से अनुष्ठान सम्पन्न कराना चाहिये। अनुष्ठानकाल में दोनों पति-पत्नी अनन्यभाव से भगवान् गोपाल श्रीकृष्ण से अश्रुपूरित लोचन होकर याचना करे, कि कोमल हृदय भगवान् गोविन्द भी द्रवित हो अश्रुपूरित हो स्वयं गर्भरूप से अवतरित हो जाय।

अनुष्ठान कर्ता आचार्य पंडित को दिव्य भोजन-वस्त्र-सुवर्णादि से सन्तुष्ट कर पूर्ण दक्षिणा से प्रसन्न करना चाहिये। अनुष्ठान के नियमों का विधिवत् दम्पति यजमान और आचार्य पालन करे। सन्तान अवश्य होगा। प्रसङ्गात् यहाँ अनुष्ठान मन्त्र की कुछ विधि लिखते हैं—

सन्तान गोपाल मन्त्र है—"ॐ देवकी सुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते। देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः"॥ अब इस मन्त्र के अनुष्ठान विधि के कर्त्तव्य कर्म को कहते हैं—यजमान अनुष्ठान से पूर्व एकभुक्तव्रत करके दूसरे दिन स्नान-सन्ध्या-गायत्री-पितृ–तर्पणादि नित्यकर्म करके कम्बलासन पर बैठकर पद्मासन लगाकर पवित्रमन्त्र से पवित्र हो स्वास्तिवाचन पूर्वक संकल्प करे—ॐ अद्य अमुक शर्म-वर्म-गुप्त दासोऽहं वा मम देहत्रये सन्तति प्रतिबन्धक सकलपापक्षयपूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण देवता प्रसन्नताद्वाराविद्याविनयसर्वैश्वर्य सम्पन्नचिरायुपुत्रप्राप्ति कामः श्रीगोपालसन्तानमन्त्रस्य पुरश्चरणं करिष्ये ब्राह्मणद्वारा कारयिष्ये वा। सङ्कल्प के अनन्तर गणेश स्थापन-पूजन पूर्वक प्रधान पूजन करना चाहिये।

प्रधान पूजन में स्वर्ण निर्मित यन्त्र वा मूर्ति रखकर विनियोग पूर्वक षडङ्गन्यास, ध्यान, बहि:पूजा, सर्वतोभद्रमण्डल पूजा, नवशक्ति पूजा, आवरण पूजा, दशदिग्पालादि पूजा क्रमशः प्रतिदिन करनी चाहिये। तदनन्तर सपादलक्ष सन्तान गोपाल मन्त्र का जप सम्पन्न करे और तद्दशांश हवन, तद्दशांश मार्जन, दद्दाशांश ब्राह्मण भोजन करावे। "लक्षं जपोऽयुतं होमः तिलैमधुरसंयुतैः। अर्चापूर्वोदिता चैव मन्त्र पुत्रप्रदो नृणाम्"॥ इस वचन के अनुसार पुत्र की प्राप्ति अवश्य होगी।

यह जपानुष्ठान निर्विघ्न सम्पन्न हो इसके लिये श्री गणपति गौरी की पूजा सकल्पपूर्वक सर्वप्रथम आवश्यक है।

अब देवीभागवतोक्त वसुधा (पृथ्वी) पूजन के सम्बन्ध में कहते हैं—हिरण्याक्ष नामक दैत्य पृथिवी का हरण करके जब रसातल में छिपाके रखा था, तो भगवान् विष्णु पृथिवी का उद्धार करने के लिए वराहरूप में अवतरित हुए थे। वराहरूपधारी भगवान् विष्णु हिरण्याक्ष से हजारों वर्ष युद्ध करके और हिरण्याक्ष का बध करके धरित्री देवी का पूजन किया था और कहा था—

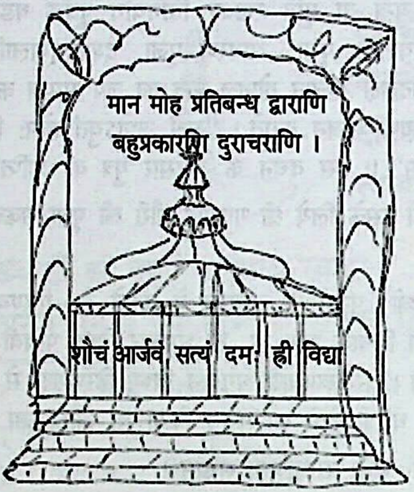
सर्वाधारा भव शुभे, सर्वैः सम्पूजिता सुखम्।
मुनिभिर्मनुभिर्देवैः, सिद्धैश्च दानवादिभिः ॥३५॥
अम्बुवाचीत्यागदिने, गृहारम्भे प्रवेशने।
वापीतडागारम्भे च, गृहे च कृषिकर्मणि ॥३६॥
तव पूजां करिष्यन्ति, मद्वरेण सुरादयः।
मूढा ये न करिष्यन्ति, यास्यन्ति नरकं च ते ॥३७॥ (देवीभा.पु. ९/९)

नारायण ने कहा—हे शुभे वसुधे! तुम सर्वाधारा हो और तुम सभी मुनियों, मनुओं, देवों, सिद्धों दानवों आदि से पूजित होकर सुखी होओ। कुआँ, तालाब, आदि जो भी अम्बुवाची हैं उसके उत्सर्ग (याग) में, गृहारम्भ, गृहप्रवेश, वापी-कूप-तडाग आदि के खनन काल और कृषिकर्म के प्रारम्भ काल में आज से तुम्हारी पूजा देव-मानव-दानव आदि सभी किया करेंगे, यह मेरा तुम्हें वरदान है। जो मूढ़ पूजा नहीं करेंगे वे नरकगामी होंगे।

पूर्वरूपं वराहं च, दधार स च लीलया।
पूजाञ्चकार तां देवीं, ध्यात्वा च धरणीं सतीम् ॥३३॥ (दे.भा. ९/९)

वराहरूप भगवान् विष्णु ने उस वसुधा देवी की ध्यान पूर्वक पूजा की थी। भगवान् नारायण कहते हैं कि—

ततः सर्वैर्मुनीन्द्रैश्च, मनुभिर्मानवादिभिः।
ध्यानं च स्तवनं मन्त्रं, शृणु वक्ष्यामि नारद ॥४८॥
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं, वसुधायै स्वाहेत्यनेन
मन्त्रेण विष्णुना पूजिता पुरा।
श्वेतपङ्कजवर्णाभां, शरच्चन्द्रनिभाननाम् ॥४९॥ (देवीभा.पु. ९/९)



भूगतं तोयपतितं यदत्तं विष्णवे सति ।
शुद्धं च तुलसीपत्रं क्षालनादन्य कर्मणि ।। (देवी भा.पु. ९/२४/५२)
कज्जल मन्त्रः–ॐ वृत्रस्यासि कनीनकरश्चक्षुर्दाऽसि चक्षु र्मे देहि ।

हे नारद ! उसके बाद सभी मानव, मनु, मुनीन्द्र आदि मिलकर उस वसुधा देवी का ध्यान मन्त्रों के द्वारा स्तवन जिस प्रकार किये उसे सुनो। उन्होंने "ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं वसुधायै स्वाहा" ॥ इस मन्त्र से श्वेतपङ्कज के वर्ण की आभावाली, शरच्चन्द्र के समान आह्लादकारिणी मुख वाली वसुधा देवी का हम ध्यान-भजन करते है इस प्रकार स्तुति की। (देवी भागवत पु. ९/९)

व्याख्या–काम, क्रोध, पद, मान, मोह आदि ये जीवात्मा के प्रतिबन्ध (बन्ध) के कारण हैं। इस पाशों से बद्ध जीवात्मा पशु होता है। जिसने अपने द्वार को शौच, आर्जव, सत्य, दम, ह्री और विद्या के पवित्र अमृतमय जल से धोकर पवित्र कर लिया है वह मानो परमात्मा के सानिध्य को प्राप्त कर लिया है। यहाँ द्वार से तात्पर्य इन्द्रियों के द्वार से है। आँख-कान-नाक-घ्राण-जिह्वा एवं मन इन सभी इन्द्रियों के द्वार को पवित्र करने का उपाय शौच, आर्जव सत्य आदि बताये गये हैं। प्रतीक चित्रद्वार पवित्रता की ओर आपको इंगित कर रहा है।

तुलसी पत्र जो वर्षा आदि की धारा या पूजनकाल की जलधारा से धरती पर गिर जाय तो वह भगवान् विष्णु (शालग्राम) को चढ़ाया हो तो भी उसे जल से प्रक्षालित करके चढ़ाया जा सकता है।

(देवीभाग.पु. ९/२४/५२)

व्याख्या–हे कज्जल तुम वृत्रासुर की आँख की कनीनिका हो और चक्षु को दीप्ति (रोशनी) प्रदान करने वाली हो इसलिये मुझे चक्षु की रोशनी प्रदान करो ।

हिन्दीपद

पद–१

वाटन में घाटन में वीपिन में बागन में,
वृच्छन में वेलिन में वाटिका में वन में।
दरन में दिवारन में देहरी दरीचन में,
हीरन में हारन में भूषन में तन में।।
कानन में कुञ्जन में गोपिन में गायन में,
गोकुल में गोधन में दामिन में घन में।
जहाँ-जहाँ देखौं तहाँ श्याम ही देखाई देत,
शालिगराम छाइ रह्यो नैनन में मन में।

नभ जल थल चर अचर सब
श्यामहि श्याम दिखात।

पद– २

सदा बढ़ियो करै, ज्यौं शशिकला सुवेष।
(प्रेम अमृतं भक्तिः अवाच्यं अगुणम्।)
पै पूनो यामे नहीं, याते कबहुँ न सेष।।
विनु जोवन गुन रूपधन, विनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि।।
अति सूक्ष्म कोमल पतरो दूर।
कठिन सकते सदा इकरस पूर।।

पद– ३

जित देखौं तित श्याम मई है।
श्याम कुञ्ज वन जमुना श्यामा, श्याम गगन घन घटा छई है।।
सब रंगन में श्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।

मैं वौरी की लोगन की ही, की श्याम पुतरिया बदल गई है ।।
चन्द्रसार रविसार श्याम है, मृगमद श्याम काम विजयी है ।
नीलकण्ठ को कण्ठ श्याम है, मनो श्यामता वेलि वई है ।।
श्रुति को अक्षर श्याम देखियत, दीपशिखा पर श्याम तई ।
नर देवन की कौन कथा है, अलख ब्रह्म छवि श्याम मई है ।।
जित देखौं तित श्याम मई है ।

हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सर्वत्र देखात ।
अपनी हूँ सुधि ना रही, कहा और की बात ।।

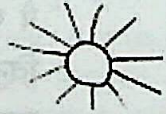
पद—४

स्वामी रामतीर्थ—

मेरे दिलवर ने सिखाया, मुझे तीन चीज ।
कभी रोना, कभी हँसना, कभी बेहोश हो जाना ।

पद—५

षट्पदछन्द



अरुन गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय,
मानहुँ केशवदास को कनक कोक प्रेममय ।
परिपूरन सिन्दूर पूर कैधौं मंगलघट,
किधौं शक्र कौ छत्र मढ्यौ मानिक मयूख पट
कै शोनित कलित कपाल यह,
किल कापालिक काल को ।
यह ललित लाल कैधौं लसत,
दिगभामिनि के भालको ।।

पद—६

चेतन की मरजी जब झख मारन को होय,
मृग तृष्णा की तोय में वह चलिया विनु तोय।
वह चलिया विनु तोय चित्त में चैन न आवै,
इत उत गोते खाय बहुरि पाछे को धावै।
कह गिरिधर कविराय करौं मैं का ढ़िग अरजी,
झख मारन की होय जबैं चेतन की मरजी।।

पद—७

(तोमर छन्द)

रावण से वाण।
पितु आनिये केहि ओक,
दिया दक्षिना सब लोक।
यह जानि रावन दीन,
पितु ब्रह्मके रसलीन।। (रामचन्द्रिका)

पद—८

चढ्यो गगन तरुधाय,
दिनकर वानर अरुन मुख।
कीन्हो झुकि झहराई,
सकल तारका कुसुम विन।।

पद—९

तेरी मैं तेरी भगवन् अब तो तुं मेरा बनजा, भगवन् दर्शन दे जा।
अँखिया है प्यासी श्यामा, अब तो तूँ मेरा वनजा,
कपड़े रँगूगी भगवन् जौगन बनूँगी मोहन,
मैं भिखारिन तेरी अबतो, तूँ मेरा दाता बन जा।

तेरी मैं तेरी भगवान् अब तो तुँ मेरा बनजा ।
भाई और बन्धु छोड़ूँ, गोती और नाती छोड़ूँ,
पूजा करूँगी भगवन्, अब तो तुँ मेरा बन जा ।
मथुरा गये तुम्हें बीते कलप युग,
मेरे हैं प्राण पियासे ओ प्यारे आ जा ।।
अब तो तुँ मेरा बन जा ।।

पद–१०

रावण–रामचन्द्रिका ।
शुम्भ को दण्ड दै । राजपुत्री कितै ।
टूक द्वै तीनि कै । जाऊँ लंकाहि लै ।। (विजोहा छन्द)

पद–११

सिया-सिया का नाम पुकारे जाते हैं,
नैनों से जलधार बहाये जाते हैं ।। टेक।।
ऐ लक्ष्मण दोष तुम्हारा, क्यों छोड़ी सिया-अकेली,
मेरी भी आज्ञा टाली, बस इतना कहना हमारा ।
बैठे पछताते है ।। टेक ।।
ऐ पंचवटी बतला दे, किस ओर गयी सीताजी,
किस देश नगर में ढूँढू, पायेंगी कहाँ सीताजी ।
पैर थर्राते हैं ।। टेक ।।
ये फल वृक्ष और लता से, राम पूछते फिरते,
गयी भूख प्यास और निद्रा, रोते-रोते सो जाते हैं ।।
नहीं कुछ खाते हैं ।। टेक।।
ऐ सीया मत घबराना, दुष्टों से छुड़ा लाऊँगा,
लंका का खोज मिटाऊँ, रावण का वंश मिटाऊँ ।
प्रण किये जाते हैं ।। टेक ।।

पद—१२

खुदा तुम दूर मत समझो,
यही रस्ता है मस्तो का।
खुदी को दूर कर दिल से,
इसी के बीच आता जा।। टेक।।
कहे "मन्सूर" काजी से,
निवाला कुफ्र का मत खा।
अनहलक नाम बहरक है,
यही कलमा सुनाता जा।। टेक।।

पद—१३

बोलन नालौं चुप घनेरी,
चुप बीच लाखों परदा।
जो "मन्सूर" चुप है रँहदा,
क्यों शूली पर चढ़दा।।

पद—१४

अगर है शौक मिलने का,
तो हरदम लौ जगाता जा।
जलकर खुदनुमाई को,
भसम तन पर लगाता जा।। टेक।।
न रख रोजा न मर भूखा,
न जा मस्जिद न कर सिजदा।
बज़ू का तोड़ दे कजा,
शराबे शौंक पीता जा।। टेक।।
ये धागा तोड़ दे तसबी,
किताबें डाल पानी में।

मशायक बनके क्या करना,
मशीकत को जलाता जा।। टेक।।
पकड़कर इश्क की झाड़ू,
सफा कर दिल के हजरे को।
दुई की धूल रख सिर से,
मुसल्ले पर उड़ाता जा।। टेक।।
प्याला 'मैं' खुदी का छोड़,
प्याला बे खुदीं का पी।
नशे में सैर कर प्यारे,
तुँ ही तूँ गीत गाता जा।। टेक।।

पद–१५

भाव का भूखा हूँ मैं, और भाव ही एक सार है।
भाव से मुझको भजे तो, भव से बेड़ा पार है।। टेक।।
भाव बिन कोई पुकारे, मैं कभी सुनता नहीं।
टेर भक्ति भाव की, करती मुझे लाचार है।। टेक।।
भाव विन सर्वस्व भी दे, मैं कभी लेता नहीं।
भाव से एक फल भी दे, तो मुझे स्वीकार है।। टेक।।
अन्न, धन और वस्त्र, आभूषण, कुछ न मुझको चाहिये।
आप हो जाइये मेरे, बस यही मेरा सत्कार है।। टेक।।
जो मुझी में भाव रखकर, लेता है मेरी शरण।
भाव जिस जन में नहीं, उसकी मुझे चिन्ता नहीं।
भाव बाल भक्त का, भरपूर मुझ पर भार है।। टेक।।
बाँध लेते भक्त मुझको, प्रेम की जंजीर में।
इसलिए इस भूमि पर, होता मेरा अवतार है।। टेक।।

पद–१६

जागो माँ कुलकुण्डलिनी ।
तुमी ब्रह्मानन्द स्वरूपिणी,
तुमी नित्यानन्द स्वरूपिणी ।।
प्रसुप्त भुजगाकारा, आधारपद्मवासिनी ।
त्रिकोणे जले कृशानु तापित होइल तत्तु,
मूलाधार त्यज शिवे, शम्भुशिरवेष्टिनी ।
गच्छ सुषुम्नार पथे, स्वाधिष्ठाने होउ उदय,
मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाज्ञा संचारिणी ।
शिरसि सहस्त्रदले परमशिवे ते मिले,
क्रीड़ाकर कुतूहले सच्चिदानन्ददायिनी ।। (रामकृष्ण परमहंस)

पद–१७

जिस दिन कन्हैया के अर्पण होगा,
पग-पग पै एक विन्द्रावन होगा ।
यह मन मन्दिर रंग महल का आंगन होगा,
मीठी-मीठी धुन में कान्हा वासुरी बजायेंगे ।। टेक ।।
दसों द्वार इन्द्रियों के खुल-खुल जायेंगे ।
अपना तो नन्द नन्दन धन होगा पग-पग,
वासुरी की तान पै मैं छम-छम नाचूँगी ।
छोड़ सब कामना चरन चित राखूँगी ।।
नैनों में जमना का सागर उमड़कर होगा,
पग-पग उमड़ेगी जमना मेघ घिर-घिर के आयेंगे ।
सुख दया धाम में अमृत बरसायेंगे ।।
कितना मधुरमय जीवन होगा ।
पग-पग पै एक विन्द्रावन होगा ।।

पद–१८

साधु सुवर्णशिला–डायन
घर यात्री
०० ००
२० विष २



पद–१९

जहीं वारुणी की करी,
रंचक रुचि द्विज राज।
तहीं कियो भगवन्त विन,
सम्पति शोभा साज।। (रामचन्द्रिका–५)



पद–२०

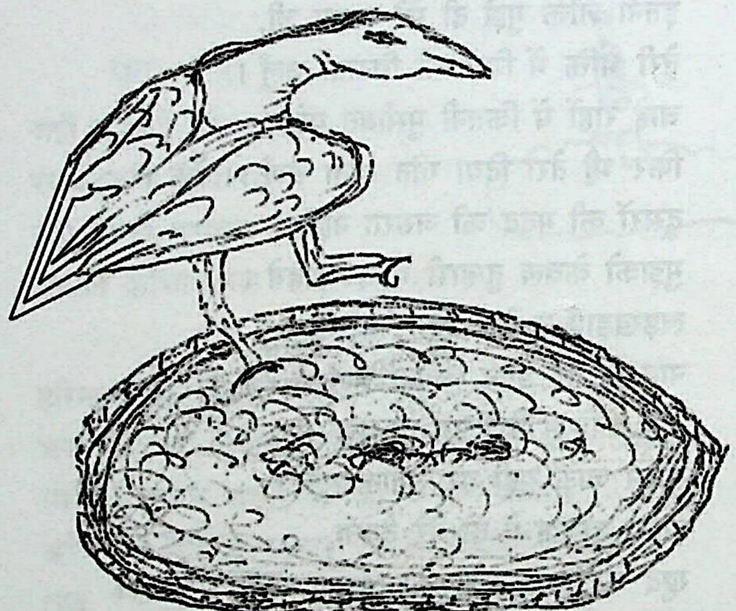
हरिनाम तुमने भूला, पड़ेगा दुःख उठाना।
भज राम नाम मूरख, करता है क्यों बहाना।। टेक।।
सोने सी सुन्दर काया, उसको न जान पाया।
अरे माया मोह में पड़कर, बनता है क्यों दिवाना।।
भज रामनाम............बहाना।। टेक।।
तेरी काया में ऐसी शक्ति, कर ले तूँ उसकी भक्ति।
छूटेंगे पाप सारे, हो धाम को रवाना।।
भज राम............बहाना।। टेक।।
इस जग में बहती माया, हरिधन ना तूने कमाया।
अविनाशी धन है तुझमें, उसको ना तूने जाना।।
भज राम....................बहाना।। टेक।।

दिन चार का है जीवन, ले 'हरि' नाम तू मन।
कट जावें तेरी फाँसी, चौरासी फिर न जाना।।
भज राम......................बहाना।। टेक।।
रे मूढ़ मान मेरी, माया है तेरी चेरी।
"हँस" हो रही है देरी, आगे नहीं ठिकाना।।
भज राम...................बहाना।। टेक।।

पद—२१

इतनी शक्ति मुझे दो मेरे श्याम जी,
तेरी भक्ति में निज को मिटाता चलूँ।
चाहे राहों में कितनी मुसीबत पड़े,
फिर भी तेरा दिया गीत गाता चलूँ।। टेक।।
दूसरों की मदद की जरुरत नहीं,
मुझको केवल तुम्हारी मदद चाहिये।
लड़खड़ाएँ न मेरे कदम राह में,
नाम के तेरे डंका बजाता चलूँ।। टेक।।
नाव बोझिल मेरी पूर्व के पाप से,
सो न जाऊँ यही डर सताता मुझे।
इतना वरदान दे दो मेरे देवता,
खुद भी जागूँ जगत को जगाता चलूँ।। टेक।।
चाह मुझको नहीं धर्म की, अर्थ की,
काम की, मोक्ष की भी जरुरत नहीं।
उम्र भर तेरी उलफत की मस्ती रहे,
तेरी महिमा निराली सुनाता चलूँ।। टेक।।
मेरे जैसे अनेकों मिलेगें तुम्हें,
पर हमारे लिए तो तुम्हीं एक हो।

धूल (खाक) चरणों की मिलती रहे उम्रभर,
तेरे चरणों सर को चढ़ाता चलूँ।। टेक।।
गर किसी दूसरे दर पै बन्दा झुका,
हर्फ आयेगा मालिक तेरे नाम पर।
मुझको गैरों के रिश्तों से क्या वास्ता,
सिर्फ रिश्ता तुम्हारा निभाता चलूँ।। टेक।।



पद– २२

लट उरझी सुलझा जा मोहन, मेरे कर में मेंहदी लगी है।
माथे की विंदिया गिरी रे पलँग पर, अपने हाथ लगाय जा मोहन ।।
गले का हार मोरा टूट गयो है, अपने हाथ पहिरायजा मोहन।
सिर की चुनरिया सरकि गइ है; अपने हाथ उढ़ाय जा मोहन ।।
''चन्द्रमुखी'' भज बालकृष्ण छवि अपनी सूरत दिखाय जा,
मोहन मेरे कर मेंहदी लगी है .... ।।



पद– २३

गद-गद वाणी कण्ठ में, आँसू टपके नैन।
वह तौ विरहिन राम की, तलफत है दिन रैन ।।
जो धड़ पै शीश न राखै। सोई प्रेम पियाला चाखै ।।
लख पियरो सूखै अधर, आँखें खरी उदास।
आह जुनि करौं दुःखभरी, गहरे लेत उसास ।।
(चरणदास जी)

पद– २४

तप करै तो पीव का,
ध्यान करै तो पीव।
पीव विरहिन का जीव है,
जी विरहिन का पीव ।। (चरणदास)

पद–२५

प्रेमलता जग लहरै ।
मन विना योग ही हहरै ।। (चरणदास)
प्रेम छुटावै जगत कूँ, प्रेम मिलावै राम ।
प्रेम करै गति और ही, लै पहुँचै हरिधाम ।।

पद–२६

प्रभो अपने मनमें बसाऊँ तुम्ही को ।
हृदय में हृदयधन बिठाऊँ तुम्ही को ।
यही एक स्वीकार मेरी विनय हो ।
विमल हो मलिन मन सदा ध्यान लाऊँ ।।
तुम्ही में हमारा ये जीवन अभय हो ।
स्वचित्त चेतना वृत्ति मति प्रेममय हो ।।
हर इक श्वास में मैं तुम्ही को बुलाऊँ ।।
दिखाया है मुझको किनारा तुम्ही ने ।
सुपथ में कुपथ से पुकारा तुम्ही ने ।।
मुझे घोर दुःख से उबारा तुम्ही ने ।
जगत में दयानाथ पाऊँ तुम्ही को ।।
कहीं भी रहूँ पर रहे ध्यान तुम पर ।
रहो प्राण में तुम रहे प्राण तुम पर ।।
निरन्तर रहे ज्ञान औधान तुम पर ।
सुनूँ मैं तुम्हारी सुनाऊँ तुम्ही को ।।
तुम्ही एक हो जीवनाधार मेरे ।
परम देवता पूज्य साकार मेरे ।।
तुम्ही एक इस पार उस पार मेरे ।
मिले हो मुझे प्रेम अवतार मेरे ।।
भगत के तुम्ही एक ध्याऊँ तुम्ही को ।
प्रभु अपने मन में बसाऊँ तुम्ही को ।।

पद–२७

भगवान तेरी इस दुनियाँ में, क्यों दीन सताये जाते हैं।
तेरे चाहनेवालों के, अरमान मिटाये जाते हैं।।
तेरे बेदर्द जमाने में, लाखों हैं महल आशाओं के।
हररोज बनाये जाते हैं, हररोज मिटाये जाते हैं।।
होती है बुराई की पूजा, भगवान् तेरी इस दुनियाँ में।
जो नेक हैं वह आँसू की, तरह नजरों से गिराये जाते हैं।।
ऐ जीवन बगिया के माली तेरी, बगिया की यह रीत है क्या।
जो फूल खिले पूजा के लिये, अर्थी पे चढ़ाये जाते हैं।।

पद–२८

मैं प्रभु को माला पहिनाऊँ।।
पुलक-पुलक निज रोम-रोम के, फूले-फूल बनाऊँ।।
श्रद्धा की शुचि पंखुरिया हो, प्रेमभक्ति की लाली।
श्वास सुरभि हो रामनाम की, मधु पावनि मतवाली।।
पावनता की स्मृति डोरी हो, आँसू की हो मोती।
मेरा तन मन सब सोता हो, जगती भी हो सोती।।
निरजन में एकान्त विपिन में, माला सुभग बनाऊँ।
मेरे प्रभु मेरे सन्मुख हो, मैं माला बन जाऊँ।।

पद–२९

मोर बोले चकोर बोले आज, राधा के नैनों में श्याम डोले।
श्याम मेरी फीकी-फीकी, अँखियों का कजरा।
यही मेरी सूनी-सूनी बगियों का, गजरा अखियों का कजरा।
मेरे जीवन रस की फुहार बोले, आज राधा के नैनों में श्याम डोले।
दूर से कन्हैया ने मुझको पुकारा, मुरली की धुन में किया इशारा।

मेरे सपनों की वीना के तार बोले, आज राधा के नैनों में श्याम डोले।

आज मेरे मन की लगन रंग लाई,
प्यार के संदेशा भी संग-संग लाई।
मेरी बगिया में छम-छम बहार बोले,
आज राधा के नैंनों में श्याम डोले।

पद–३०

तोरा मन दर्पण कहलाये।
भले बुरे सारे कर्मों को, देखे और दिखाये।।
मन ही देवता मन ही ईश्वर, मन से बड़ा न कोय।
मन उजियारा कर ले प्राणी, धूल न जमने पाये।।
तोरो मन दर्पण कहलाये ....।
सुख की कलियाँ दुःख के काँटे, मन सबका आधार।
मन से कोई बात छुपी ना, मन के नैन हजार।
जग से चाहे भाग ले प्राणी, मन से भाग न पाये।।
तोरा मन दर्पण कहलाये ....।।

पद–३१

तेरो कोई रोकणहार, मगन होय मीरा चली।
लाज-शरम कुल की मर्यादा, सिर में धूर करी।।
मान-अपमान दोऊ घर पटके, निकसी ज्ञान गली।।
ऊँची अटरिया लाल किंवरिया, निरगुण सेज बिछी।
पंचरंगों का झालर सुभ सोहैं, फलन फूल कली।।
बाजूबन्द कडूला सोहैं, सिन्दूर मांग भरी।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्यो, शोभा अधिक खरी।।
सेज सुमिरण मीरा सोहैं, शुभ है आज घरी।
तुम जाओ राणा घर अपने, मोरि थारी नाहि सरी।।

पद—३२

दाता एक राम भिखारी सारी दुनियाँ,
दाता एक राम पुजारी......... ।।
द्वारे पे उसके जाके कोई भी पुकारता,
परम कृपा से अपनी भव से उसे उवारता,
ऐसे दीनानाथ से वलिहारी सारी दुनियाँ ।।
दाता एक राम पुजारी................. ।।
दो दिन का जीवन प्राणी कर ले विचार तू,
प्यारे प्रभु को अपने मन में निहार तू
विना हरिनाम के दुखियारी सारी दुनियाँ ।।
दाता एक राम पुजारी................. ।।
नाम का प्रकाश जब अन्दर में उगायेगा,
प्यारे श्रीराम का दरसन तू पायेगा ।
ज्योति से जिसकी उजारी सारी दुनियाँ ।।
दाता एक राम पुजारी................ ।।

पद—३३

अमल से जिन्दगी बनती है, जन्नत और जहन्दा की ।
इसी उजलंत में यह खलिंक, न नूरी है न कांरी है ।

पद—३४

शाम भई घनश्याम न आये,
सबके काम बनाते फिरते,
मुझ दुःखिया के काम न आये ।।
शाम भई घनश्याम........... ।।

---

1. संशय, 2. जीव, 3. संसारी

नभ में आग नयन में पानी,
किसको सुनाऊँ दुःख की कहानी।
मैं रोऊँ और हँसती दुनियाँ,
करके मुझे बदनाम, न आये घनश्याम।।
शाम भई घनश्याम ....।।
पथ हेरत पथरा गई अँखिया,
मुरझाईं कलियाँ सूखी पतियाँ,
मैं विरहिन हो बन-बन भटकूँ;
जिसके राजा राम, न आये घनश्याम।।
शाम भई घनश्याम ....।।

पद–३५

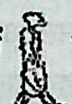
कर्म के कोयले से, वासना के पानी से।
रेल चली भाई रेल चली, दो पहियों की,
रेल अजब निराली रेल चली ....।।
कभी आगे, कभी पीछे, कभी दायें, कभी बायें,
कभी नीचे, कभी ऊँचे, ये रेल चली ......।।
ये गाड़ी अजब निराली, बड़ी तेज रफ्तार है,
नाम है जीवन एक्सप्रेस, जिसके दुनियाँ असवार है,
दौड़ रही है गली-गली, रेल चली भाई ....।।
जगह-जगह पर डिब्बे इसमें, आगे-पीछे लगे हुए,
नाम देह है इन डिब्बों का, जो इन्जन से सजे हुए।
मौत के इन्जन से, साँस के इन्धन से, दौड़ रही है,
दौड़ रही है गली-गली, रेल चली भाई रेल चली।।
अजब..।।

सुख और दुःख की दो पटरी है, जिस पर गाड़ी भाग रही।
एक सवारी नाम आत्मा, एक डब्बे से झाँक रही।
पहला स्टेशन बचपन है, बड़ा न्यारा प्यारा।
खेल खिलौने जहाँ बिक रहे, अजब तरह का नजारा।
देखे खेल खिलौने रे, लँगरा मुसाफिर रोने रे,
इस रोने हँसने में गाड़ी, तेजी से आगे भाग चली।
अगला स्टेशन जो आया, इसका नाम जवानी;
प्यास लगी तो नीचे उतरा, लगा पीने को पानी।
प्लेटफार्म पर एक यात्री, उसको नया नजर आया;
खेल खिलौने भूल गया, प्रेम पेलना झूल गया;
उसको भी अपने डब्बे में, प्यार इसने बैठाया।
इस जोड़े को लेकर गाड़ी, फिर आगे को सरक चली।।
आगे को जरा और बढ़ी तो, डिब्बे में एक शोर हुआ,
एक नन्हा सा और अनोखा, यात्री एक सवार हुआ।
तभी तीसरे स्टेशन का, सिगनल आगे नजर आया,
नाम बुढ़ापा इसका देखा, उजड़ा-उजड़ा सा पाया।
गती ट्रेन की मन्द हुई, खिड़की सारी वन्द हुई,
असमंजस में पड़ा मुसाफिर, गाड़ी फिर भी सरक चली।।
आगे गाड़ी और चली तो, एक बड़ा जंक्शन आया,
पहला यात्री बाहर झाँका, नाम श्मशान लिखा पाया।
पहले बाला बोला अब तो, मुझको यहीं उतरना है,
सारे यात्री खड़े रहे, पहले मुसाफिर उतर चले।
सीटी तीन हुचकियाँ देकर, गाड़ी आगे सरक चली।
रेल चली भाई .... ।।

पद–३६

जिस शक्तिमान में द्वेष न हो, भगवान् उसी को कहते हैं ।
जो परम मधुर ऐश्वर्य निधान, महान् उसी को कहते हैं ।।
जो न निज में रहने दे दोष विद्वान् उसी को कहते हैं ।।
निज दोष जिसे दिखते न हों, वो है मानव आकृति में पशु,
निबलों के काम आ सके जो, सच्चा जग में बलवान् वही,
जब धन की चाह न रह जाये, धनवान् उसी को कहते हैं ।।
इस जग में मिले हुए तन धन, सम्पत्ती अपनी मान रहे ।
बढ़ता है जिससे लोभ-मोह, अज्ञान उसी को कहते हैं ।।
है श्रेष्ठ वही जो परहित में, अपना ही नित हित देख रहा,
जिसमें कोई अभिमान न हो, श्रीमान् उसी को कहते हैं ।।
जिस विषय स्वाद के कारण ही, सारे दोषों का जन्म हुआ,
जो पथिक त्याग कर सके इन्हें, तपवान् उसी को कहते हैं ।।

पद–३७

मन की तरंगें मार लो, तब हो जायगा भजन ।

आदत बुरी सुधार लो, तब हो जायगा भजन ।।
पापों की गंदगी लगी, मैला कुसंग रंग,
धो पाप मन को शान्त कर, तब हो जायगा भजन ।।
झूठे जगत में वासना के, भूत पर चढ़ा,
भटके हैं इससे भाग ले, तब हो जायगा भजन ।।
क्या है भजन जाना नहीं, मन की गढ़ंत में,
आँखे अकल की खोल ले, तब हो जायगा भजन ।।
है लक्ष्य तेरा क्या इसे, जाना नहीं अभी ।
साखी बना लो शास्त्र को, तब हो जायगा भजन ।।
आदत बुरी सुधार लो, तब हो जायगा भजन ।।

पद–३८

(भारी भीर)

तेरे दुआरे बड़ी भीर ओ जगदम्बे मैया।
हर लो भक्तों की भीर, हो जगदम्बो मैया।।
तेरे दुआरे एक कन्या पुकारे, सुन्दर सुयोग वर देव,
ओ जगदम्बे.......................................।।
तेरे दुलारे एक बालक पुकारे, विद्या भण्डार भर देव,
ओ जगदम्बे.......................................।।
अन्धो को नैना देवो री, जगदम्बे मैया,
बाँझों की भर देवो गोद, ओ जगदम्बे मैया।।
द्वारे तिहारे बड़ी भीर हो जगदम्बे मैया।
द्वारे तिहारे मैया विद्या पुकारे, दीनों की हर लेवो पीर हो
ओ जगदम्बे.......................................।।

पद–३९

लियो है मुरलीवाले ने अवतार बारम्बार।
क्रीट मुकुट मकराकृति कुण्डल, गले वैजन्तीमाल।।
वृन्दावन में गोऊ चरावें, काली कमलीवाले ने।।
अवतार बारम्बार, लियो है मुरलीवाले ने।।१।।
इन्द्र रिसाय चढ़े व्रज ऊपर, मूसलधार वरसि लाये।
नख पर गिरवर को धार, लियो है मुरलीवाले ने।।२।।
बीच सभा में द्रुपदसुता को, खीचत चीर बढ़ाये।
नंगे पाँव पधारे आप, गजराज बचानेवाले ने।।
लियो है अवतार-बारम्बार, मुरलीवाले ने।।३।।
खेल गेंद जमुन जल कुद्यो, तनिक देर नहि लायो।
माता-पिता की वन्दि छुड़ाई, कंस विदारनवाले ने।।
लियो है अवतार बारम्बार, मुरलीवाले ने।।४।।

जब-जब भीर परी भक्तन पर, तब-तब आप उदास्यो ।
सूरश्याम की झलक दिखायो, माखनखाने वाले ने ।।
लियो है अवतार बारम्बार, मुरलीवाले ने ।।५।।

पद—४०

ऐसो जी रामनाम रसखान ।
मूरख याको कभी न पीवें, पीवें चतुर सुजान ।।
नारद जी ने शारद जी ने, पीयो याको बोल-बोल ।
पारवती शंकर जी ने, पीयो घोल-घोल ।।
गोपीचन्द भरतरी जी ने, पीयो याको डोल-डोल ।
सैल-सैल पीयो हनुमान्, ऐसो जी रसखान ।।
यहि प्रह्लाद विभीषण जान्यो, नारद करते गान ।
बाल्मीकि यदि राम नाम रटि, मुक्त भये जग जान ।।
ए रे मन तूँ क्यों नहि मानत, मान-मान मन मान ।
नाम स्वाद कोउ-कोऊ जाने, जान-भक्त हनुमान् ।।
ऐसो जी रामनाम रसखान ।।

पद—४१

पाँव पड़ूँ तोरे श्याम, व्रज में लौट चलो ।
बैठे कदम की ठंढ़ी छइयाँ,
खोजूँ वंशी की धुन आकुल होके,
वृज न डुबो दे लहरी जमुना जी के, लौट चलो .... ।।
दूध दही से भरी मटकिया, तोरे कौन मुरारी ।
अँसुवन जल से भरे गगरिया, पनघट पे पनिहारी ।।लौट चलो .. ।।
विलख रही है मातु यशोदा, नन्द जी दुःख में खोये ।
कुछ तो सोच अरे निर्मोही, वृज का कण-कण रोये ।।
लौट चलो घनश्याम, पाँव पड़ूँ तोरे श्याम ।।

पद—४२

विनय पत्रिका (कलिस्थिति)

दीनदयालु दुरित दारिद दुःख, दूनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव दुवार पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है।।१।।
प्रभु के बचन, वेद-बुध-सम्मत, 'मम मूरति महिदेवमयी हैं'।
तिनकी मति रिस-राम-मोह-मद, लोभ लालची लीलि गयी है।।२।।
राज समाज कुसाज कोटि कटु, कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति, प्रतीति, प्रीति परमित पति, हेतुबाद हठि हेरि हई है।।३।।
आश्रम-बरन-धरम-विरहित जग, लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित, पाखंड-पापरत, अपने अपने रंग रई है।।४।।
सांति, सत्य, सुभ, रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति, कपट-कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल विलसत, हुलसति खलई है।।५।।
परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सकल नहि सिद्धि सई है।
कामधेनु-धरनी कलि गोमर-बिबस, विकल जामत न बई है।।६।।
कलि करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मींजत, को जानै चित कहा ठई है।।७।।

पद—४३

हे राम तुम्हारे चरणों में, मैं सादर सीस नवाता हूँ।
विनती सुनिये मेरे स्वामी, मैं गीत तुम्हारे गाता हूँ।।
तुमने मुझको यह देह दिया, घरवार दिया परिवार दिया।
मैं प्रभु का ऋण तो चुका न सकूँ, अपने मन में पछताता हूँ।
अभिमान से कर्मों की गठरी, अपने सिर सबको लाद लिया।
दुःख पाकर अब इस दुनियाँ में, मैं मन मारा पछताता हूँ।।
संसार उलझनों का घर है, इसमें अन्धे को राह कहाँ।
सुनता है कौन गरीबों की, तुम विन मैं तुम्हें सुनाता हूँ।।

पद–४४

''गाय''

तू वहम खलक है, खिलकत में नहीं जिसकी गिनाह।
ली है कालिव मे मेरी, रुहे मुहब्बत मे पनाह।।
तेरी सूरत में अया होती है, इसा की चाह।
रस भरी आँख समोई हुई, अमृत में गिनाह।।
साँहिबेदिल तुझे, तसवीर वंघा कहते हैं।
दरदमन्दो का मसीहा, शुवरा कहते हैं।
माँ तुझे कहते है हिन्दू, तो वजा कहते हैं।।
चश्म ये फैज खुद, मर्दे खुदा कहते हैं।।
कौन ऐसा है शक्स, जो दूध से मुँह फेरा है।
आज हर कौम की रग-रग, में लहू तेरा है।।
तेरे बच्चों को गर मंजूर, न होता मिटना अपना।
हिन्द की खाक न, उगलती खजाना इतना।।
पार तूफान के, दरिया से कराती तू।
मुकाम राहते, आरपार में पठाती तू।।

पद–४५

मैं गिरिधर के रंग राती सैयाँ गिरि .... ।।
पंचरंग चोला पहन सखी री, मैं झिरमिट रमया जाती।
झिरमिटिया मोहि मोहन मिलियो, खोल मिली तन गाती।।
मैं गिरिधर .... ।।
कोई पिया परदेश वसत हैं, लिख-लिख भेजें पातीं।

---

१. सृष्टि, २. जगत, ३. समता, ४. देह, ५. प्रेमात्मा, ६. डूबी, ७. मनस्वी, ८. प्रेम, ९. प्यार, १०. तथ्य, ११. ज्ञानदृष्टि।

मेरा पिया मेरे हिये वसत है, ना कहूँ आती न जाती ।।
मैं गिरिधर .... ।।
चन्दा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरण अकाशी ।
पवण पाणी दोनों जायेंगे, अटल रहे अविनाशी ।।
मैं गिरिधर .... ।।

पद–४६

केहू भाँति कृपासिन्धु, मेरी ओर हेरिये ।
मोको और ठौर न, सुटेक एक तेरिये ।।१।।
सहस सिलातें अति, जड़ मति भई है ।
कासों कहौं कौन गति, पाहनहि दई है ।।२।।
पद-राग जाग चहौं, कौसिक ज्यों कियो हौं ।
कलि-मल खल देखि, भारी भियो हौं ।।३।।
करम-कपीस बालि बली, त्रास-त्रस्यो हौं ।
चाहत अनाथ-नाथ! तेरी बाँह बस्यो हौं ।।४।।
महामोह-रावन विभीषण, ज्यों हयो हौं ।
त्राहि तुलसीस! त्राहि तिहूँ ताप तयो हौं ।।५।।

पद–४७

राम! रावरो नाम साधु-सुरतरु है ।
सुमिरे त्रिविध धाम हरत, पूरत काम,
सकल सुकृत सरसिज को सरु है ।।१।।
लाभहूको लाभ, सुखहूको सुख, सरबस,
पतित-पावन, डरहूको डरु है ।
नीचेहूको ऊँचेहूको, रंकहूको रावहूको,
सुलभ, सुखद आपनो-सो घरु है ।।२।।
वेदहू, पुरानहू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,



नाम-प्रेम चारि फलहूको फरु है।
ऐसे राम-नाम सों न प्रीति, न प्रतीति मन,
मेरे जान, जानिबो सोई नर खरु है।।३।।
नाम-सो न मातु पितु, मीत-हित, बंधु-गुरु,
साहिब सुधी सुसील सुधाकरु है।
नाम सों निवाह नेहु, दीनको दयालु! देहु,
दासतुलसीको, बलि, बड़ो बरु है।।४।।

पद–४८

सत्यं शिवं सुन्दरम्।
ईश्वर सत्य है, सत्य ही शिव है, शिव ही सुन्दर है।
जागे उठकर देखो जीवन, ज्योति उजागर है।
सत्यं शिवं सुन्दरम्।।१।।
राम अवध में काशी में शिव, कान्हा वृन्दावन में।
दया करो प्रभु देखूँ इनको, हर करके आँगन में।।
राधा मोहन शरणम्, सत्यं शिवं सुन्दरम्।।२।।
एक सूर्य है, एक गगन है, एक ही धरती माता।
दया करो प्रभु एक बने सब, सबका एक से नाता।।
राधा मोहन शरणम्, सत्यं शिवं सुन्दरम्।।३।।
मैं भी श्री चरणों में आके, श्रद्धा के सुमन चढ़ाऊँ।
दया करो ऐ दया निधे, किरपा परस दीयाऊँ।
राधा मोहन शरणम्, सत्यं शिव सुन्दरम्।।४।।

पद–४९

आना है तो उस राह में, कुछ फेर नहीं है
भगवान् के घर देर है, अन्धेर नहीं है।।

आना है तो आ......................।।
जब तुझसे न सुलझे तेरे, उलझे हुए ये धन्धे।
भगवान् के इन्साफ पे, सब छोड़ दे वन्दे;
खुद ही वो तेरी मुश्किल को, नित आसान करेगा।
जो तू नहीं कर पाया वो, भगवान् करेगा।।
आना है तो आ......................।।१।।
इस दर पे तेरा शीश, झुकाना ही बहुत है।
जो कुछ है तेरे दिल में, सब उसको खबर है।
वन्दे तेरे हाल पे, मालिक की नजर है।।
आना है तो आ........................।।२।।
विन माँगे भी मिलती है, यहाँ मन की मुरादें।
दिल साफ हो जिसका, वो यहाँ आके अदा दे।।
मिलता है जहाँ न्याय, वो दरबार यही है।
संसार की सबसे बड़ी सरकार यही है।।
आना है तो आ........................।।३।।
आया नहीं भगवान् को, दरबार में अब तक।
कमबख्त के कोड़े पड़े, बाजार में जब तक।
अपने करम फल पाने का, भण्डार यही है।।
आना है तो आ......................।।४।।

पद–५०

सेइय सहित सनेह देह भरि, कामधेनु कलि कासी।
समनि शोक सन्ताप पाप रुज, सकल सुमंगल रासी।।१।।
मरजादा चहुँ ओर चरनवर, सवेत सुरपुर वासी।
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अविनासी।।२।।

अन्तरऐन ऐन भल थन फल, वच्छ वेद विस्वासी ।
गलकम्वल वरुना विभातिजनु, लूम लसति सरिताऽसी ।।३।।
दण्डपानि भैरव विषान, मलरुचि-खलगन भयदा-सी ।
लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा-सी ।।४।।
मनिकर्णिका वदन-ससि सुन्दर, सुरसरि मुख सुखमा-सी ।
स्वारथ परमारथ परिपूरन, पंचकोसि महिमा-सी ।।५।।
विश्वनाथ पालक कृपालुचित, लालति नित गिरिजा-सी ।
सिद्ध, सची, सारद पूजहिं मन, जोगवति रहति रमा-सी ।।६।।
पंचाक्षरी प्रान, मुद माधव, गव्य सु पंचनदा-सी ।
ब्रह्म-जीव सम रामनाम युग, आखर बिस्व बिकासी ।।७।।
चारितु चरति करम कुकुरमकरि, मरत जीवगन घासी ।
लहत परमपद पय पावन, जेहि चहत प्रपंच-उदासी ।।८।।
कहत पुरान रची के सव निज, कर-करतूति कला-सी ।
तुलसी बसि हर पुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी ।।९।।



दण्डक पुहुमि पाँय परसि पुनीत भई । (विनय. पद २४७)

पद—५१

शवरी सकल विपिन खोजि आई ।।ध्रुव।।
मिले न राम कमलदल लोचन, रोवत मन पछताई ।।अन्तरा।।
हा करुणाकर राम दयानिधि, कहँ अटके रघुराई ।
दशरथसुत कौशल्यानन्दन, सीतापति सुखदाई ।।१।।
कब के तोड़े वैर कुरस भौ, बहि गये रस मधुराई ।
बीरा पान सूखन अब लागे, सुमनमाल कुम्हलाई ।।२।।

कन्द-मूल पाके फल सुन्दर, सबै पड़ी अमताई ।
दोनो भरि-भरि मोद मंजु रस, सब भा सहित तिताई ।।३।।
दिनानाथ अजहूँ नहि आये, अब मरिहों विष खाई ।
"लक्ष्मीपति" शवरी घर आये, सिया सहित दोउ भाई ।।४।।

पद—५२

शवरी सगुन बिचारि विचारी ।।ध्रुव।।
कब ऐहें रघुनाथ प्रिये मम, सीतापति हितकारी ।।अन्तरा।।
जोतषी विप्र मंगाय मान करि, पूछत प्रेम पियारी ।
सीता-राम भवन कब ऐहें, दूब सुपारी ।।१।।
भली बात पूछी तुम शबरी, लगन मिले शुभकारी ।
तीन मूरति घर तेरे ऐहें, राम-लखन-सियनारी ।।२।।
भये उछाह उदार मगन मन, पुलक प्रेम तन भारी ।
ऊँचे चढ़ि-चढ़ि पंथ निहारत, चहुँ ओर चौंकि निहारी ।।३।।
वाम नयन-भुज फड़कन लागे, काग भाख अति प्यारी ।
"लक्ष्मीपति" परतीत कियो मन, शबरी जनम सुधारी ।।४।।

१. लम्बानाथ (गोरक्षनाथ के पदशिष्य) मिथिला के संत लक्ष्मीनाथ गोसाईं ।



गणपतिं विघ्नेशं च, पार्वतीञ्च विश्वेश्वरम् ।
मातरं-पितरं वन्दे, यतीन्द्रं च लक्ष्येश्वरम् ।।

इस चिन्तामणि सद्ग्रन्थ की टीका 'मणिप्रभा' का प्रकाशन हमारे लिए ही नहीं उन भक्तों, साधकों, यतियों, गुरुजनों तथा सन्तों, साधुओं के लिए मोद का विषय होना चाहिये, जिनके आशीर्वाद से इसका लेखन हो सका । हम आशा और विश्वास करते हैं कि-यह चिन्तामणि-मणिप्रभा टीका ग्रन्थ के प्रकाशन से इस आर्यावर्त भारत देश के नर-नारियों के पवित्र ज्ञानप्रदीप के प्रकाशन में घृताधान का काम करेगा और श्रद्धालु जन इसका सम्यग् अध्ययन करके अपने बन्धु-बान्धवों को भी इस परमानन्दप्रद ज्ञान-विज्ञान से अवगत कराते रहेंगे, ताकि हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों, मुनि-महात्माओं के आर्ष प्रदीप का निर्वापन न हो सके तथा यह ज्ञानप्रदीप सदा संरक्षित होकर सनातन धर्म और संस्कृति का निर्वहन करता रहे । अत: आस्तिक सद्भक्तों पर इस ज्ञानप्रदीप के संरक्षण प्रभार को डालते हुए श्री काशी विश्वनाथ साम्बसदाशिव के पावन श्री चरणों में इस ग्रन्थ को अर्पित करता हूँ ।

पं. भद्रनारायण पाठक
ग्राम-पत्रालय-महिषी (माहिष्मती)
जनपद-सहर्षा (बिहार)
स्थानीय पता-भवन सं.बी. १/१४८ ६-एम, रामानुज नगर, अस्सी, वाराणसी
मो. ९४१५९९७२४१

॥ शुभमिति ॥



सम्पर्क सूत्र-

पवन कुमार

४९८/२८ साउथ सिविल लाइन,
मुज्जफरनगर, उत्तर प्रदेश
पिनकोड - २५१००१
दूरभाष : ०९३५९९८४७०९
काशी मुमुक्षु भवन सभा, विट्ठो चौक
अस्सी, वाराणसी
दूरभाष : ०९३५९९८४७०९